श्रमण भगवान् महावीर

कर्त्ता
पुरातत्त्ववेत्ता पं० कल्याणविजयजी गणी

प्रकाशक
श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति, जालोर

विक्रम संवत् १९९८ । वीर संवत् २४६८

प्रथमावृत्ति प्रति २०००

मूल्य ३)

प्रकाशक
मन्त्री श्री क० वि० शास्त्रसंग्रह समिति
जालोर (मारवाड)

मुद्रक
ओमप्रकाश कपूर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

प्रकाशकीय निवेदन

"श्रमण भगवान् महावीर" ग्रन्थ के प्रकाशन के सम्बन्ध में दो शब्द लिखते हुए हम एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं, क्योंकि कई वर्षों से अनेक विद्वान् और पाठकगण इस ग्रन्थ के दर्शन और पठन के लिये उत्सुक थे। कई जैनसभा सोसाइटियों और जैन जैनेतर पुस्तक प्रकाशकों ने ग्रन्थकार पर पत्र लिखकर इस ग्रन्थ को अपनी तरफ से प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु सर्व प्राथमिक हमारी प्रार्थना को ध्यान में रखकर पूज्य ग्रन्थकार ने यह गौरव हमको प्रदान किया यह हमारे लिये कम हर्ष की बात नहीं है।

"श्रमण भगवान् महावीर" इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्यपाद पन्यासजी श्रीकल्याणविजयजी महाराज की एक अनुपम कृति है। इसमें आपने अपना दीर्घकालीन अनुभव और आगम तथा इतिहास विषयक उच्च ज्ञान किस प्रकार दिल खोलकर भरा है इसका वर्णन करना हमारा कर्तव्य नहीं। पाठकगण स्वयं इसका निर्णय कर लेंगे।

ग्रन्थ का मुद्रण सम्बन्धी कार्य पूज्य ग्रन्थकर्ता की संमति से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एक ग्रेज्युएट जैन विद्वान् को सौंपा गया था जिससे मुद्रणकार्य सत्वर संपन्न हो गया, परन्तु ग्रन्थकार के स्वयं प्रूफ न देखने के परिणामस्वरूप कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं जिनका शुद्धिपत्र लगाकर परिमार्जन किया गया है पाठक इसका उपयोग करें।

युद्धकालीन परिस्थिति को देखते हुए हम इस ग्रन्थ का प्रकाशन कुछ विलंब में डाल देते पर हमारे सहायकगण ने हमें इस प्रमाद से बचा लिया, फलस्वरूप हमने इस कागज के दुष्काल में भी इसे छपाने का साहस किया और वर्षभर में ग्रन्थ छप कर तैयार भी हो गया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें जिन सज्जनों ने अग्रसहायक और अग्रग्राहक बनकर सहायता दी है उनकी शुभनामावली इसके साथ जोड दी गई है।

अन्त में पूज्यग्रन्थकार तथा सहायकगण का हम हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सुयोग हमें प्रदान किया है।

निवेदक
सा० सुखराज नवलमलजी
सा० वसतिमल्ल चमनाजी
मन्त्री श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति
जालोर (मारवाड़)

अग्रसहायक तथा अग्रग्राहक सद्‌गृहस्थों की

शुभ नामावली

५००) सा० हासाजी मगाजी की धर्मपत्नी बाई धनी, हस्ते सा० लक्ष्मीचदजी कस्तुरचदजी मगाजी, जालोर।

४००) वोरा धैजराजजी चोथमलजी, जालोर, (अपनी माता केशीबाई के ज्ञानभक्त्यर्थ)।

२५०) सा० वछाजी नरसिंहजी की धर्मपत्नी बाई वापु की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी, लक्ष्मीचदजी, कस्तुरचदजी, जालोर।

२५०) जालोर निवासी सा० जैताजी भगवान्‌जी की धर्मपत्नी बाई-धनी की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी गोराजी, लक्ष्मीचदजी मगाजी, जालोर, तथा सा० जवानमलजी दलाजी, तखतगढ़।

१५०) सा० नवलमलजी मूलचदजी हनादरावाले, जालोर।

१०१) सा० सरूपजी गुलाबचदजी की धर्मपत्नी बाई कसुबी की तरफ से, हस्ते सा० समर्थमलजी हीराजी, जालोर।

१००) सा० पूनमचदजी रुघनाथजी की धर्मपत्नी बाई धना की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी मूलचदजी हनादरावाले, जालोर।

५०) सा० नवलमलजी गोराजी, जालोर।

५०) सा० कस्तुरचदजी मगाजी, जालोर।

५००) स्वर्गीय भडारी चोथमलजी, जवानमलजी, भानमलजी, नवलाजी मासिंगजी के श्रेयोऽर्थ भडारी देवीचदजी चोथमलजी तथा भडारी मिश्रीमलजी जवानमलजी, वास लेटा।

२००) भडारी खुमाजी चूनीलालजी, वास-लेटा।

७५) भडारी ताराचदजी वनाजी, वास लेटा।

२०१) श्रीजैनसघ, माडोणी (सिरोहि स्टेट)

१०१) सा० धर्मचदजी गणेशमलजी वनाजी, मांडोणी।

१००) सा० कुन्दनमलजी गेनाजी, हरजी।

५०) सा० सेसमलजी, भभूतमलजी देवाजी, अगवरी।

५०) सा० तिलोकचदजी शेराजी, अगवरी।

श्रीजालोर (मारवाड़) की प्रसिद्ध संस्था

श्रीवर्धमान जैन विद्याभवन को

याद कीजिये

इस संस्था में जैन बालकों को धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षण मिल रहा है। दुष्कालों और वर्तमान युद्ध के कारण संस्था की आर्थिक स्थिति अभी नहीं सुधरी। अतः श्रीमान् दानवीर इस तरफ लक्ष्य देकर संस्था को निम्नलिखित रीति से सहायता प्रदान करें।

(१) ७५१) रु० देकर दोनों टाइम मीठे भोजन की स्थायी मिति,

(२) ५०१) में एक टाइम मीठे अथवा दो टाइम सादे भोजन की स्थायी मिति,

(३) ३०१) में एक टाइम सादा भोजन की स्थायी मिति लिखवाकर।

(४) ४०१), ५०१), १००१), २५०१), ५००१) और ६००१) की लागत के मकानों में से किसी एक पर अपने नाम का शिलालेख खुदवाकर।

(५) संस्था में बरतन, कपड़ा, पुस्तक, स्टेशनरी, फर्निचर आदि सामान भेंट देकर।

(६) किसी एक अध्यापक को अपनी तरफ से वेतन देकर।

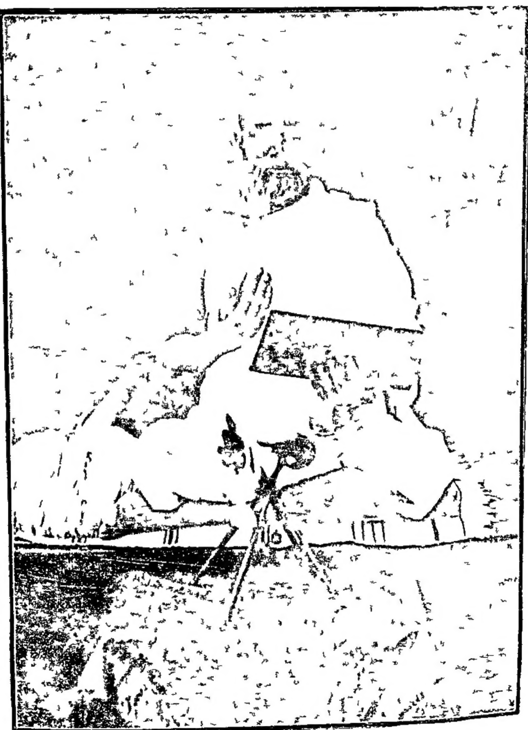
उपर्युक्त उपायों में से किसी भी एक उपाय से आप संस्था को सहायता कर सहायक बन सकते हैं।

निवेदक—

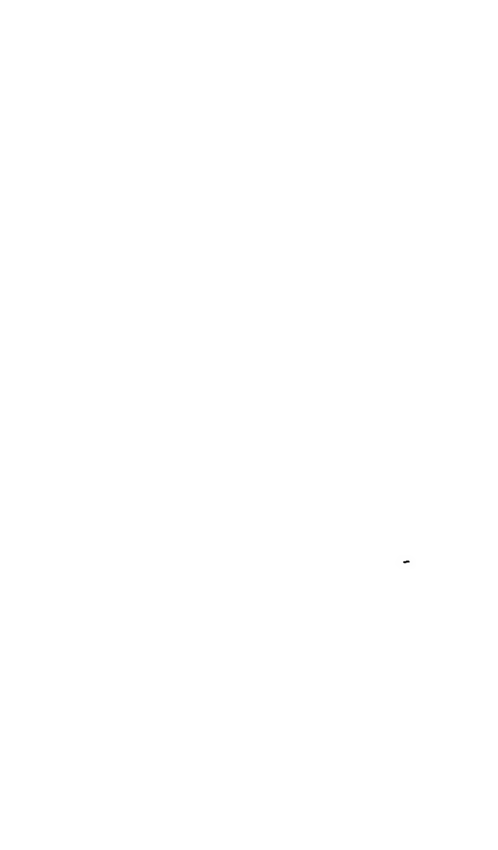
मंत्री श्रीवर्धमान जैन विद्याभवन,

जालोर (मारवाड़)

इस ग्रंथ के लेखक



प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज



प्रस्तावना

———*———

१ प्राक्कथन—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर' के निर्माण का सकल्प हमने आज से बीस वर्ष पहले किया था।

सवत् १९७६ का हमारा वर्षाचातुर्मास्य पालीताना (काठियावाड) मे था। उस समय पण्डित वेचरदासजी दोशी ने अपने एक भाषण मे देवद्रव्य की अशास्त्रीयता बताई जिससे जैनसघ मे देवद्रव्य की चर्चा चल पड़ी। हमने एक विस्तृत लेख लिख कर पण्डितजी को उनकी बातों का उत्तर दिया।

हमारे लेख ने जैनसमाज मे पर्याप्त जागृति उत्पन्न की। कई प्रसिद्ध जैन साधुओं और विद्वानों ने उस लेख की प्रशसा करने के साथ उसकी पाँच हजार कॉपियाँ पुस्तकाकार छपवा कर प्रचार करने का भी अनुरोध किया। ठीक उसी प्रसग पर कई जैन गृहस्थों ने भगवान् महावीर का जीवनचरित्र लिखने की हमे प्रार्थना की और इसके लिये यथाशक्ति सहायता देने के वचन दिये। हमने यथाशक्य प्रयत्न करने का विश्वास दिलाया और मानसिक सकल्प किया कि जैसे भी होगा श्रमण भगवान के सबन्ध मे अवश्य लिखा जायगा।

सम्वत् १९७८ के पालणपुर के चातुर्मास्य मे उक्त सकल्पानुसार भगवान् का जीवन चरित्र लिखना प्रारभ किया और स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी थोडा बहुत लिखा।

पालणपुर से मारवाड मे आये। हमारे लिये मारवाड महान् प्रवृत्तिमय क्षेत्र है। वर्षाकाल के दो तीन महीनों के अतिरिक्त यहाँ हमें साहित्यिक प्रवृत्ति के लिये समय नहीं मिलता। चातुर्मास्य में भी जब-जब इस कार्य को हाथ मे लेते तब तब बहुत सी बातें जानने की आवश्यकता उपस्थित होती। यद्यपि सामग्री की न्यूनता न थी फिर

भी कई बार नये ग्रन्थ मँगाने पड़ते। इस प्रकार बहुत सी पुस्तकें मँगानी और पढ़नी पड़ीं।

सवत् १९८५ के वर्ष मे गुजराती भापा में महावीर-चरित्र तैयार हो गया, पर तब तक हमारे विचारों मे खासा परिवर्तन हो चुका था। हमें इस कार्य की प्रेरणा गुजरात से मिली थी और विहार भी तब गुजरात में कर रहे थे अत ग्रन्थ गुजराती भापा मे बनाना था। परन्तु बाद मे तुरन्त मारवाड आना हुआ और सयोग बदल गये।

दूसरा एक और भी कारण था। हमने जो गुजराती में चरित लिखा था उसकी पद्धति प्राचीन चरित्रों से अधिक मिलती थी परन्तु बाद मे यह पद्धति हमे ठीक नहीं जॅची, क्योंकि इस पद्धति के चरित्र अनेक बन चुके थे जिनका जैनसमाज ने उचित आदर नहीं किया। इसलिये हमने उस गुजराती चरित्र को बिलकुल रद्द करके नये सिरे से हिन्दी मे लिखना आरभ किया जो वर्षाकाल के दिनों में थोड़ा थोडा चलता और कभी-कभी वर्षाकाल में भी अन्यान्य तत्कालिक कार्यों के उपस्थित होने पर बन्द रहता। इस प्रकार अति मन्दगति से चलता हुआ हमारा काम अब पूरा हुआ।

२ सामग्री—

अवकाशाभाव के अतिरिक्त एक और भी विलब का कारण था और वह था मौलिक साधनों की अव्यवस्थितता।

भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र की मौलिक सामग्री का निर्देश करते समय हम सर्वप्रथम आचाराङ्ग, कल्पसूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि तथा टीका पर दृष्टिपात करेंगे। क्योंकि मौलिकरूप से इन्हीं सूत्रों मे श्रमण भगवान् के जीवन-चरित्र सम्बन्धी वृत्तान्त उपलब्ध होते हैं।

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त आचार्य श्री नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र तथा हेमचन्द्रसूरिकृत मध्यकालीन 'महावीर-चरितों' मे भी भगवान् के जीवन-चरित्र के 'कुछ अश' सगृहीत हैं।

हमारे इस 'कुछ अश' का तात्पर्य यह है कि इन सभी ग्रन्थों में व्यवस्थितरूप से भगवान् की छद्मस्थावस्था की ही चर्चा है। केवलि-

जीवन के ३० वर्ष का छद्म समय भगवान् ने कहाँ व्यतीत किया, कौन सा वर्षाचातुर्मास्य किस स्थान मे किया और वहाँ क्या क्या धर्म कार्य हुए, कौन कौन प्रतिबोध पाये इत्यादि बातों का कहीं भी निरूपण नहीं मिलता। पिछले चरित्रों में भगवान् के केवलि-जीवन के कतिपय प्रसगों का वर्णन अवश्य दिया है, परन्तु उनमे भी काल-क्रम न होने से चरित्र की दृष्टि से वे महत्त्वहीन हो गये हैं। यह सब होते हुए भी हमने इन चरित्रों का उपयोग किया है। आगे हम इनका क्रमश 'क' 'ख' और 'ग' चरित्र के नाम से उल्लेख करेंगे।

हमारी शिकायत केवल चरित्रों के सबन्ध मे ही नहीं बल्कि मौलिक सामग्री की अव्यवस्था के सम्बन्ध मे भी है। आचाराङ्गसूत्रकार भगवान् के तप के सबन्ध मे लिखते हैं—

"छट्ठेण एगया भुजे अहुवा अट्ठमेण दसमेण दुवालसमेण एगया भुजे।"

अर्थात्—'वे कभी दो उपवास के बाद भोजन करते हैं, कभी तीन, कभी चार और कभी पॉच उपवास के अन्त मे भोजन करते हैं।'

अब आवश्यक निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकार का मत देखिये। इन ग्रन्थों मे महावीर के सम्पूर्ण तप और पारणा के दिन गिनाये गये हैं, जिनमे चार और पाँच उपवास के तप का उल्लेख नहीं है।

इसी प्रकार आवश्यक मे महावीर की छद्मस्थावस्था का समय बराबर १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन का माना है और इसी हिसाब से उनके तप और पारणों की दिन सख्या मिलाई है, परन्तु महावीर ने मार्गशीर्ष कृष्णा १०मी को दीक्षा ली और तेरहवें वर्ष वैशाख शुक्ला १०मी को केवलज्ञान पाया। यह छद्मस्थकाल सौर वर्ष की गणना से १२ वर्ष और साढे पॉच मास, प्रकर्म सवतसर की गणना से १२ वर्ष साढे सात मास और चान्द्र सवतसर की गणना से १२ वर्ष साढे नौ मास होता है। आवश्यककार की कही हुई १२ वर्ष साढे छ मास की सख्या किसी भी व्यावहारिक गणना से सिद्ध नहीं होती।

सामग्री की इस अव्यवस्थितता ने हमारे मार्ग में कठिन समस्या उपस्थित की। जिस सामग्री के भरोसे हमने कार्य प्रारभ किया था

उस की अपूर्णता से हमारा उत्साह यद्यपि कुछ समय के लिये मन्द हो गया तो भी हमारा निश्चय नहीं बदला। 'भले ही विलम्ब हो पर चरित्र तो अवश्य ही लिखा जायगा' हमारे इस सकल्प ने हमे विशेष साहित्य के अनुशीलन की तरफ प्रवृत्त किया और यथाशक्य सब आगमों का अवलोकन करने के साथ उनमे से जो जो चरिताश मिले और हमें ठीक लगे उनका सग्रह कर घटनाक्रम से योजना की जिसका साराश नीचे लिखे मुजब है।

(१) भगवान् का छद्मस्थजीवन—

भगवान् का छद्मस्थजीवन सब ग्रन्थों मे एक सा व्यवस्थित है अत इस विषय मे हमे अधिक परिश्रम नहीं उठाना पडा। इस चरित भाग को हमने कल्पसूत्र तथा आवश्यकचूर्णि के ऊपर से सक्षेप रूप मे लिख कर लगभग साढे बारह वर्ष की जीवनी थोड़े से पृष्ठों मे रख दी है।

(२) केवलि-जीवन का रेखाचित्र—

हम ऊपर कह आये हैं कि सूत्र और चरित्र ग्रन्थों मे भगवान् का केवलि जीवन नहीं लिखा, इसलिए इस के लिखने और व्यवस्थित करने मे हमें पर्याप्त श्रम उठाना पड़ा। इस भाग की हमने जिस ढग पर योजना की है उसका ठीक स्वरूप तो ग्रन्थ के पढने से ही ज्ञात होगा तथापि सक्षेप मे आभास कराने के लिए हम उसका रेखाचित्र दिखाते हैं।

श्रमणजीवन का १३ वाँ वर्ष (वि० पू० ५००-४९९)—ऋजुवालुका के तटपर केवलज्ञान। रातभर मे पावामध्यमा के महासेन उद्यान मे पहुँचना। महासेन के द्वितीय समवसरण में सघस्थापना। वहाँ से विहारक्रम से राजगृह जाना। राजगृह के समवसरण मे मेघकुमार, नन्दीषेण आदि की प्रव्रज्यायें। सुलसा, अभय कुमार आदि का गृहस्थ-धर्म-स्वीकार। श्रेणिक को सम्यक्त्वप्राप्ति। वर्षावास राजगृह मे किया।

१४ वाँ वर्ष (वि० पू० ४९९-४९८)—वर्षा काल के की

तरफ विहार। ब्राह्मण कुण्ड में ऋषभदत्त आदि की दीक्षायें। वर्षावास वैशाली में किया।

१५ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६८-४६७)—चातुर्मास्य के समाप्त होने पर वत्सभूमि की तरफ विहार। कौशाम्बी के उद्यान में जयन्ती की धर्मचर्चा और दीक्षा। वहीं से कोशल की तरफ प्रयाण। श्रावस्ती में सुमनोभद्र, सुप्रतिष्ठ की दीक्षायें। विदेह को विहार। वाणिज्यग्राम में गाथापति आनन्द और उसकी पत्नी शिवानन्दा का निर्ग्रन्थ-प्रवचन स्वीकार और श्रावधर्म के द्वादश व्रतों का लेना। वर्षावास वाणिज्य ग्राम में किया।

१६ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६७-४६६)—वाणिज्यग्राम से मगध की तरफ विहार। राजगृह में समवसरण। कालविषयक प्ररूपण। धन्य, शालिभद्र आदि की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

१७ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६६-४६५)—वर्षा ऋतु के बाद चम्पा की तरफ विहार। चम्पा में महचन्द्र आदि की दीक्षायें। कामदेव आदि का गृहस्थधर्म-स्वीकार। उदायन के मानसिक अभिप्राय को जान कर वीतभय की तरफ विहार। उदायन की दीक्षा। फिर विदेह की तरफ विहार। बीच में भूख प्यास से श्रमणों को कष्ट। वर्षावास वाणिज्य-ग्राम में।

१८ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६५-४६४)—बनारस आलभिकादि नगरों में होते हुए राजगृह की तरफ प्रयाण। बनारस में चूलनीपिता और सुरादेव का निर्ग्रन्थप्रवचन स्वीकार, आलभिया में पोग्गल परिव्राजक को प्रतिबोध, चुल्लशतक का श्रमणोपासक होना, राजगृह में समवसरण, मकाती अर्जुन काश्यप आदि अनेक गृहस्थों की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

१९ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६४-४६३)—मगध भूमि में ही विहार, आर्द्रक मुनि के सामने गोशालक के महावीर पर आक्षेप, राजगृह में अभयकुमार, जालि, दीर्घसेनादि २१ राजकुमारों और श्रेणिक की नन्दा आदि १३ रानियों की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

२० वाँ वर्ष (वि० पू० ४६३-४६२)—वत्सदेश की तरफ विहार, बीच मे आलभिया में समवसरण, ऋषिभद्र श्रमणोपासक की बात का समर्थन, कौशाम्बी मे मृगावती और चण्डप्रद्योत की रानियों की दीक्षा, विदेह की तरफ विहार। वर्षावास वैशाली मे।

२१ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६२-४६१)—वर्षाकाल के बाद मिथिला की तरफ प्रयाण, वहाँ से काकन्दी, श्रावस्ती हो कर पश्चिम के जनपदों मे विहार। अहिच्छत्र, राजपुर, काम्पिल्य, पोलासपुर आदि नगरों मे समवसरण, काकन्दी में धन्य, सुनक्षत्र आदि की दीक्षायें, काम्पिल्य मे कुण्डकौलिक और पोलासपुर मे सद्दालपुत्र का निर्ग्रन्थ-प्रवचन-स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

२२ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६१-४६०)—मगधभूमि की तरफ विहार, राजगृह मे महाशतक का श्रावकधर्म-स्वीकार। पार्श्वापत्यों के प्रश्नोत्तर और महावीर की सर्वज्ञता का स्वीकार। वर्षावास राजगृह मे।

२३ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६०-४८६)—पश्चिम दिशा मे विहार। कचगला मे स्कन्धक कात्यायन को प्रतिबोध, श्रावस्ती मे नन्दीपिता और सालिहीपिता का श्राद्धधर्म स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम मे।

२४ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८६-४८८)—ब्राह्मणकुण्ड के बहुसाल चैत्य मे समवसरण, जमालि का शिष्यपरिवार के साथ भगवान् से पृथक् होना, वत्सभूमि की तरफ विहार। चन्द्र सूर्य का अवतरण। मगध की तरफ प्रयाण। राजगृह मे समवसरण। पार्श्वापत्यों की देशना का समर्थन। अभयकुमार आदि का अनशन। वर्षावास राजगृह मे।

२५ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८८-४८७)—चम्पा की तरफ विहार। चम्पा मे श्रेणिकपौत्र पद्म, महापद्मादि दस राजकुमार तथा जिन पालितादि अनेक गृहस्थों की दीक्षायें। पालितादि गृहस्थों का श्राद्धधर्म-स्वीकार। वहाँ से विदेहमिथिला की तरफ विहार। काकन्दी मे क्षेमक, धृतिधर आदि की दीक्षायें, वर्षावास मिथिला में।

२६ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८७-४८६)—अगदेश की तरफ प्रयाण, चम्पा मे श्रेणिक की काली आदि दस विधवा रानियों की दीक्षायें। पुन मिथिला को विहार। वर्षावास मिथिला में।

२७वाँ वर्ष (वि० पू० ४८६-४८५)—मिथिला से वैशाली के निकट होकर श्रावस्ती की तरफ विहार, बीच में वेहास (हल्ल) वेहल्ल राजकुमारों की दीक्षायें। श्रावस्ती के उद्यान में गोशालक मंखलिपुत्र का उपद्रव। जमालि का निह्नवत्व। मेंढियग्राम के सालकोष्ठक चैत्य में भगवान् की सख्त बीमारी और रेवती के औषध से उसकी शान्ति। वर्षावास मिथिला में।

२८वाँ वर्ष (वि० पू० ४८५-४८४)—कोशल-पाञ्चाल की तरफ विहार। श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, मोकानगरी, आदि नगरों में समवसरण। श्रावस्ती में गौतम और केशीकुमार श्रमण की धर्म चर्चा। हस्तिनापुर में शिवराजर्षि, पुट्टिल आदि की दीक्षायें। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

२९वाँ वर्ष (वि० पू० ४८४-४८३)—वर्षाऋतु के बाद राजगृह की तरफ विहार। राजगृह में आजीवकों के प्रश्न। अनेक मुनियों के अनशन। वर्षावास राजगृह में।

३०वाँ वर्ष (वि० पू० ४८३-४८२)—चम्पा की तरफ प्रयाण। कामदेव के धैर्य की प्रशंसा। पृष्ठचम्पा में साल महासाल की दीक्षायें। दशार्ण देश की तरफ विहार। दशार्णभद्र राजा की दीक्षा। विदेह की तरफ गमन। वाणिज्यग्राम में सोमिल ब्राह्मण का निर्ग्रन्थप्रवचन स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

३१वाँ वर्ष (वि० पू० ४८२-४८१)—कोशल पाञ्चाल की तरफ विहार। साकेत, श्रावस्ती, काम्पिल्य आदि में समवसरण। काम्पिल्यपुर में अम्बड परिव्राजक का निर्ग्रन्थप्रवचन-स्वीकार। वर्षावास वैशाली में।

३२वाँ वर्ष (वि० पू० ४८१-४८०)—विदेह, कोशल, काशी के प्रदेशों में विहार। वाणिज्यग्राम में गांगेय के प्रश्नोत्तर। वर्षावास वैशाली में।

३३वाँ वर्ष (वि० पू० ४८०-४७९)—शीतकाल में मगध की तरफ विहार। राजगृह में समवसरण। चम्पा को विहार। दर्मियान पृष्ठचम्पा में पिठर, गागलि आदि की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

३४वाँ वर्ष (वि० पू० ४७९-४७८)—गुणशील चैत्य में कालोदायी

को प्रतिबोध । नालन्दा में गौतम और पेढालपुत्र का सवाद । जालि, मयालि आदि मुनियों के विपुलाचल पर अनशन । वर्षावास नालन्दा मे ।

३५वाँ वर्ष (वि० पू० ४७८–४७७)—विदेह की तरफ प्रयाण । वाणिज्यग्राम के समवसरण में सुदर्शनश्रेष्ठि को प्रतिबोध । वाणिज्यग्राम के पास कोल्लाग सन्निवेश में आनन्द श्रमणोपासक के साथ इन्द्रभूति गौतम का अवधिज्ञानविषयक वार्तालाप । वर्षावास वैशाली मे ।

३६वाँ वर्ष (वि० पू० ४७७–४७६)—कोशल, पाञ्चाल, सूरसेनादि देशों मे विहार । साकेत में कोटिवर्ष नगर के किरातराज की दीक्षा । कांपिल्य, सौर्यपुर, मथुरा, नन्दीपुर आदि नगरों मे समवसरण । पुन विदेह में विहार । वर्षावास मिथिला में ।

३७वाँ वर्ष (वि० पू० ४७६–४७५)—मगध की तरफ विहार । राजगृह में समवसरण । अन्यतीर्थिकों के आक्षेपक प्रश्न, कालोदायी के प्रश्न । अनेक दीक्षायें । गणधर प्रभास तथा अनेक मुनियों का निर्वाण । वर्षावास राजगृह में ।

३८वाँ वर्ष (वि० पू० ४७५–४७४)—मगधभूमि मे ही विहार । राजगृह के समवसरण में अन्यतीर्थिकों की क्रियाकाल निष्ठाकालादि विषयक मान्यताओं के सबन्ध मे गौतम के अनेक प्रश्नोत्तर । गणधर अचलभ्राता और मेतार्य का निर्वाण । वर्षावास नालन्दा मे ।

३९वाँ वर्ष (वि० पू० ४७४–४७३)—विदेहभूमि की तरफ विहार । मिथिला के माणिभद्र चैत्य में ज्योतिषशास्त्र की प्ररूपणा । वर्षावास मिथिला मे ।

४०वाँ वर्ष (वि० पू० ४७३–४७२)—विदेहभूमि मे ही विहार, अनेक दीक्षायें । वर्षावास मिथिला में ।

४१वाँ वर्ष (वि० पू० ४७२–४७१)—मगध की तरफ विहार । राजगृह मे समवसरण । महाशतक श्रमणोपासक को हित सदेश । उष्ण जलह्रद, आयुष्यकर्म, मनुष्य लोक की मानववसति, दु खमान, एकान्त दु ख वेदना आदि के सबन्ध में प्रश्नोत्तर । अग्निभूति और वायुभूति का निर्वाण । वर्षावास राजगृह में ।

४२वाँ वर्ष (वि० पू० ४७१-४७०)—वर्षा ऋतु के बाद भी अधिक समय तक राजगृह मे स्थिरता। छठे आरे के भारत और उसके मनुष्यों का वर्णन, अव्यक्त, मण्डित, मौर्यपुत्र और अकम्पिक नामक गणधरो के निर्वाण। पावामध्यमा की तरफ विहार। पावा के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा मे वर्षावास। अन्तिम उपदेश। कार्तिक अमावस्या की रात्रि में निर्वाण और गौतम गणधर को केवल ज्ञान-प्राप्ति।

२ उपपत्ति—

भगवान् महावीर के केवलिजीवन संबन्धी जो सालवार विहार-क्रम हमने ऊपर दिया है उसकी उपपत्ति निम्नलिखित विवरण से ज्ञात होगी।

(१) 'क' और 'ग' चरित्रों के लेखानुसार भगवान् मध्यमा से विहार कर राजगृह गये थे। जल्दी से जल्दी भगवान् मध्यमा से ज्येष्ठ के कृष्णपक्ष मे निकले होंगे और सामान्य विहारक्रम से चलते हुए वे ज्येष्ठ के शुक्लपक्ष में राजगृह पहुँचे होंगे। पहला ही समवसरण था और अनेक दीक्षायें भी हुई थीं, इस लिए भगवान् ने वहाँ पर्याप्त समय तक स्थिरता की होगी यह निश्चित है। इस दशा में पहले वर्ष का वर्षावास भी उन्होंने राजगृह में ही किया होगा। यह बात स्वत सिद्ध हो जाती है।

भगवान् महावीर के केवलि-अवस्था के वर्षावास सबन्धी केन्द्र तीन ही थे। १ राजगृह नालन्दा, २ वैशाली वाणिज्यग्राम और ३ मिथिला। इनमें से पिछले दो केन्द्र दूर थे, वर्षाकाल अति निकट था, श्रमणसघ नया था और समय प्रचण्ड ग्रीष्म का था, राजगृह जैसा पूर्व परिचित क्षेत्र था। इन सब बातों का विचार करने पर भी यही हृदयगत होता है कि वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया होगा।

(२) 'ख' चरित्र भगवान् का सीधा ब्राह्मणकुण्ड आना बताता है, क्योंकि उसके मत से राजगृह के पास वाला आधुनिक 'कुण्डलपुर'

स्थान ही 'ब्राह्मणकुण्ड' था। परन्तु वास्तव में ब्राह्मणकुण्डपुर वैशाली के पास था जो राजगृह के बाद आता था। इस दशा में ब्राह्मणकुण्ड जाने का तात्पर्य हम यही समझते हैं कि राजगृह में वर्षावास पूरा होने के बाद वे विदेहभूमि में गये थे और ब्राह्मणकुण्ड क्षत्रियकुण्ड आदि में ऋषभदत्त जमालि आदि को दीक्षायें दी थीं।

(३) 'ख' के लेखानुसार भगवान् ब्राह्मणकुण्ड से क्षत्रियकुण्ड हो कर कौशाम्बी गये थे और वहाँ से फिर वाणिज्यग्राम जाकर आनन्द गाथापति को श्रमणोपासक बनाया था। विदेह से वत्सदेश और वत्स से फिर विदेह में आने के बाद उनका वर्षावास वैशाली-वाणिज्यग्राम में होना ही अवसर प्राप्त था। इसी आधार पर तीसरा वर्षावास हमने वाणिज्यग्राम में बताया है।

(४) 'ख' और 'ग' दोनों के मत से भगवान् वाणिज्यग्राम से चम्पा की तरफ विचरे थे और कामदेव गाथापति को श्रमणोपासक बनाया था, परन्तु हमारे विचार के अनुसार वे सीधे चम्पा न जाकर पहले राजगृह गये थे और वर्षावास वहीं व्यतीत करने के बाद चम्पा गये थे।

भगवतीसूत्र में भगवान् के चम्पा से वीतभय जाकर उदायन राजा को दीक्षा देने का लेख है। उदायन अभयकुमार के पहले दीक्षित हो चुके थे। यही नहीं बल्कि वे ग्यारह अंग पाठी मुनि थे। इन बातों पर से यही मानना पडता है कि उदायन की दीक्षा बहुत पहले की घटना है। अतः भगवान् इसी विहार-क्रम में चम्पा से वीतभय गये होंगे, यह भी सिद्ध है। यदि वाणिज्यग्राम से चम्पा और चम्पा से वीतभय जाने की बात मानी जाय तो विहार बहुत लंबा हो जाता है। यों ही चम्पा से वीतभय एक हजार मील से भी अधिक दूर है, वाणिज्यग्राम से चम्पा हो कर वीतभय जाने में यह दूरी एक सौ पचीस मील के लगभग और भी बढ़ जाती है, इसलिये राजगृह से चम्पागमन मानना ही उचित प्रतीत होता है।

(५) वीतभय से भगवान् ने उसी वर्ष में अपने केन्द्रों की तरफ विहार किया था और गर्मी के कारण स्थलभूमि में उनके श्रमण

शिष्यों ने भूख प्यास से बहुत कष्ट उठाया था। इस से ज्ञात होता है कि भगवान् ग्रीष्मकाल के निकट आने पर वीतभय से निकले होंगे और वर्षाकाल के पहले पहले वे अपने केन्द्र मे पहुँच गये होंगे और इस अति दीर्घ विहार के बाद उन्होंने सब से निकट के केन्द्र वाणिज्यग्राम में ही वर्षावास किया होगा, यह कहने की शायद ही जरूरत होगी।

(६) 'ख' और 'ग' ने चम्पा से भगवान् का बनारस और आलभिका की तरफ विहार करना लिखा है, परन्तु हम देख आए हैं कि चम्पा से भगवान् वीतभय गये थे और वहाँ से वाणिज्यगाँव मे वर्षा चातुर्मास्य किया था। इस दशा में चम्पा से सीधा बनारस, आलभिका आदि नगरों मे जा कर चुलनीपिता आदि को प्रतिबोध देना असभव प्रतीत होता है, अत हमने यह कार्यक्रम वाणिज्यगाँव के वर्षावास के बाद मे रक्खा है।

उक्त चरित्रों के कथनानुसार आलभिया से भगवान् का विहार काम्पिल्य की तरफ होता है, परन्तु इतने विहार के बाद आलभिया से राजगृह न जाकर भगवान् काम्पिल्य की तरफ विचरें, यह बात हृदय कबूल नहीं करता। चरित्रों का मत आनन्दादि दस ही श्रावकों का वर्णन एक सिलसिले मे करने का होने से उन्होंने आलभिया के बाद भगवान् का काम्पिल्य जाना लिखा है, परन्तु वास्तव में वे आलभिया से राजगृह गये होंगे, क्योंकि एक तो अन्य केन्द्रों से वह निकट पड़ता था, दूसरे वहाँ निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार करने का अनुकूल समय था, सपत्नीक श्रेणिक और उनके पुत्रों की भगवान् के ऊपर अनन्य श्रद्धा हो चुकी थी और पिछले दो वर्षावासों मे उन्हें वहाँ पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इन बातों पर खयाल करने से यही कहना पड़ता है कि आलभिया से भगवान् का राजगृह जाना ही युक्तिसगत है। श्रेणिक ने भगवान् के केवलिजीवन के १० वर्ष भी पूरे नहीं देखे थे फिर भी राजगृह के अधिकाश समवसरणों के प्रसगों में श्रेणिक का नामोल्लेख मिलता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्रेणिक के जीवित काल मे भगवान् राजगृह मे विशेष विचरे थे। इस दशा मे आलभिया मे चुल्लशतक

को प्रतिबोध देने के बाद भगवान् का राजगृह जाना और दो एक वर्षावास वहाँ करना बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है।

(७) छठे वर्षावास के दर्मियान राजगृह में मंकाती आदि समृद्ध गृहस्थों की दीक्षाओं से तथा अपनी भावि गति के श्रवण से श्रेणिक के मन पर इतना भारी असर पड़ा था कि उसने नगरजनों को ही नहीं, अपने कुटुम्बीजनों को भी दीक्षा की आम परवानगी दे दी थी। भगवान् ने इस अवसर को लाभदायक पाया और द्वितीय वर्षावास भी राजगृह में करके अपनो उपदेशधारा चालू रक्खी थी। इसका परिणाम जो आया वह प्रत्यक्ष है। श्रेणिक के २१ पुत्रों और १३ रानियों ने एक साथ श्रमणधर्म दो दीक्षा ली और अनेक नाग रिकजनों ने श्रमण और गृहस्थधर्म का स्वीकार किया, यह परिणाम बताता है कि भगवान् ने राजगृह मे कितनी स्थिरता की होगी।

(८) 'ग' चरित्र के अभिप्राय से भगवान् राजगृह में विहार कर कौशाम्बी गये थे और मृगावती आदि को दीक्षा दो थी। हमारे विचार से वे उपर्युक्त दो वर्षावास राजगृह में करके ही कौशाम्बी गये थे और मृगावती अगारवती आदि को दोक्षा दे कर विदेह की तरफ विचरे थे। 'ग' के मत से यह कौशाम्बी का प्रथम समवसरण था। इसी कारण से उन्होंने आनन्दादि श्रावकों के प्रतिबोध का वर्णन इस के बाद किया है, परन्तु वास्तव मे जिस समवसरण में मृगावती की दीक्षा हुई थो वह कौशाम्बी का द्वितीय समवसरण था। प्रथम समवसरण में मृगावती ने नहीं, उनकी ननद जयन्ती ने दीक्षा ली थी, ऐसा भगवतीसूत्र के लेख से सिद्ध होता है। चरित्रकारों के घटना-क्रम मे से जयन्ती की दीक्षा का प्रसग छूट जाने से यह भूल हो गई है। इस अवस्था मे राजगृह आठवें वर्षावास के बाद कौशाम्बी मे मृगावती की दीक्षा का प्रसग मानना ही प्रमाणिक हो सकता है।

मगध से भगवान् वत्सभूमि में विचरे थे और वहाँ से विदेह में। 'ख' और 'ग' के लेखों मे भी यही विधान है कि मृगावती की दीक्षा के बाद भगवान् विदेह में विचरे थे। इस दशा में अगला

वर्षावास भी विदेह के निकटस्थ केन्द्र वैशाली-वाणिज्यगाँव मे होना ही अवसर प्राप्त है ।

(९) भगवती, विपाकश्रुत, उपासकदशा आदि मौलिक सूत्र साहित्य के वर्णनों से पाया जाता है कि भगवान् पाञ्चाल, सूरसेन कुरु आदि पश्चिम भारत के अनेक देशों मे विचरे थे । इस से हमारा अनुमान है कि इसी अवसर में उन्होंने कोशल पाञ्चालादि प्रदेशों में विहार किया और काम्पिल्य मे कुण्डकौलिक और पोलासपुर में सद्दाल पुत्र आदि को प्रतिबोध दिया और वर्षावास वैशाली-वाणिज्य ग्राम मे किया था ।

(१०) 'ख' और 'ग' के लेखानुसार काम्पिल्य और पोलासपुर से भगवान् राजगृह पधारे थे और महाशतक को प्रतिबोधित किया था । हमारा भी यही अभिप्राय है कि उक्त स्थानों के विहार के बाद वाणिज्य ग्राम में वर्षावास करके भगवान् राजगृह पधारे थे और महाशतकादि को प्रतिबोध दिया था तब वर्षावास भी वहीं किया होगा क्योंकि मगध में वर्षावास का वही केन्द्र था ।

(११) 'ख' और 'ग' के लेखानुसार भी महाशतक के प्रतिबोध के बाद भगवान् राजगृह से श्रावस्ती की तरफ विचरे थे और नन्दिनी-पिता आदि को प्रतिबोधित किया था । हमारे मत से बीच में कयगला निवासी स्कन्धक कात्यायन का बोध भी इसी विहार मे हुआ था और अगला वर्षावास भी निकटस्थ केन्द्र वाणिज्यग्राम में ही हुआ था ।

(१२) 'ख' और 'ग' दोनों चरित्रों के अभिप्राय से श्रावस्ती के बाद भगवान् फिर कौशाम्बी गये थे और चन्द्र-सूर्य का अवतरण हुआ था । हमारे विचारानुसार श्रावस्ती से सीधे कौशाम्बी नहीं किन्तु वाणिज्यग्राम में वर्षावास पूरा करने के बाद वहाँ गए थे ।

उक्त दोनों चरित्रों के मत से भगवान् कौशाम्बी से फिर श्रावस्ती गये और गोशालक का उपद्रव हुआ था, परन्तु हमारी राय मे कौशाम्बी से भगवान् राजगृह गये थे और वर्षावास भी वहीं किया था, क्योंकि गोशालक का उपद्रव, समय के हिसाब से मार्गशीर्ष मास मे हुआ सिद्ध हुआ है । इससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान् कौशाम्बी

से सीधे ही श्रावस्ती नहीं गये थे। इस दशा में हमें यही मानना चाहिये कि कौशाम्बी से वे राजगृह गये होंगे और वर्षावास वहीं किया होगा।

(१३) राजगृह से मार्गशीर्ष महीने में श्रावस्ती जाकर भगवान् गोशालक के विरुद्ध व्याख्यान नहीं दे सकते थे; दूसरे गोशालकवाली घटना भगवान् के केवलिजीवन के चौदहवें वर्ष में घटी थी तब भगवान् को अभी तेरहवाँ वर्ष ही चलता था, इस दशा में राजगृह से भी भगवान् का श्रावस्ती की तरफ जाना सगत नहीं होता।

यद्यपि 'ग' चरित्र ने केवलि-अवस्था में भगवान् के मिथिला जाने का कहीं उल्लेख ही नहीं किया है, परन्तु भगवान् ने अपने केवलि-जीवन के ६ वर्षावास मिथिला में बिताये थे इस लिए यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि भगवान् महावीर मिथिला में कितने विचरे होंगे। इन सब आधारों पर से हमारा निश्चित मत है कि राजगृह के बाद भगवान् मिथिला की तरफ विचरे थे और वर्षावास भी वहीं किया था।

(१४) वर्षाकाल के बाद भगवान् मिथिला से अगदेश की तरफ विचरे थे, क्योंकि उन दिनों वैशाली कोणिक की युद्धस्थली बनी हुई थी। राजगृह से मगध का राज्यासन चम्पा को चला जाने से उन दिनों चम्पा ही सब का लक्ष्यबिन्दु बनी हुई थी। सूत्रों में भी उल्लेख मिलते हैं कि जिस समय मगधराज कोणिक वैशालीपति चेटक के साथ घमासान युद्ध कर रहा था, भगवान् महावीर चम्पा में विचरते थे। कालकुमार आदि श्रेणिक के दस पुत्रों के युद्ध में काम आने के समाचार भगवान् के ही मुख से उनकी माताओं ने सुने थे।

यद्यपि चम्पा भी भगवान् का विहारक्षेत्र था तथापि उसकी वर्षा-वास योग्य केन्द्रों में गणना नहीं थी। इस कारण वर्षावास भगवान् ने वापस मिथिला में जाकर किया था।

(१५) वर्षावास उतरते ही भगवान् श्रावस्ती की तरफ विचरे और श्रावस्ती के कोष्ठकोद्यान में गोशालक के साथ वादविवाद हुआ था। उसके बाद में भी भगवान् उसी प्रदेश में विचरे थे। छठे महीने वे मेढियग्राम के सालकोष्ठक में सख्त बीमार थे। मार्गशीर्ष महीने में

भगवान् पर गोशालक ने तेजोलेश्या डाली थी और उसके असर से उनके शरीर मे जो दाहज्वर और वर्चोव्याधि उपन्न हुई थी, वह ज्येष्ठ महीने में पराकाष्ठा को पहुँची। आखिर उन्होंने सिंह अनगार द्वारा श्राविका रेवती के यहाँ से औषध मगाकर सेवन किया और छ महीने के बाद वह रोग शान्त हुआ। कुछ समय तक उन्हें पुन शारीरिक शक्ति प्राप्त करने के लिये भी वहाँ ठहरना पड़ा होगा जबतक कि वर्षाकाल अधिक निकट आ गया होगा। वैशाली-वाणिज्यगाँव अभी तक युद्धभूमि बने हुए थे अथवा उजड चुके थे। इस स्थिति मे भगवान् के वर्षावास के लिये अनुकूल केन्द्र मिथिला ही हो सकता था। इस कारण उन्होंने मेढियगाँव से मिथिला की तरफ प्रयाण किया और वर्षावास मिथिला मे किया, यह निश्चित है।

(१६) मिथिला से भगवान् पश्चिम तरफ के जनपदों मे विचरे। हस्तिनापुर तक चक्कर लगाकर वे लौटे थे। वैशाली का युद्ध समाप्त हो गया था परन्तु युद्ध के परिणाम स्वरूप वैशाली की जो दुर्दशा हुई थी, उसके कारण भगवान् वहाँ नहीं ठहर सके। यद्यपि युद्ध के कारण वाणिज्यग्राम भी काफी हानि उठा चुका था, तथापि उसके नागरिक जानमाल की रक्षा के लिये जो इधर उधर बिखरे थे, लड़ाई के बाद उनमें से अधिकतर लौट गये थे। इस कारण भगवान् ने वर्षावास वाणिज्यग्राम मे किया।

(१७) कई अनगारों की इच्छा विपुलगिरि पर अनशन करने की थी और मगधभूमि को छोडे चार वर्ष जितना समय भी हो चुका था अत १७ वाँ वर्षावास भगवान् ने मगध के केन्द्र राजगृह मे किया।

(१८-१९-२०) वर्षाकाल के बाद भगवान् चम्पा की तरफ विचरे थे, दर्मियान गौतम को पृष्ठचम्पा भेज साल महासाल को प्रति बोध करवाया। 'ग' चरित्र के अभिप्राय से भी भगवान् इसी अवसर पर चम्पा गये थे और साल महासाल को प्रतिबोधित किया था। यद्यपि 'ग' चरित्रकार कालान्तर में पिठरादि की दीक्षा का विधान और गौतम के अष्टापदगमन का निरूपण करने के बाद चम्पा से भगवान् के दशार्ण जाने की बात कहता है, परन्तु हमारे विचार से पिठर आदि की

दीक्षा के प्रतिपादन करने का यह प्रसग नहीं था। 'ग' स्वय कहता है कि पिठर आदि की दीक्षायें जब भगवान् दूसरे अवसर पर चम्पा गये तब हुई थीं, इस से ही सिद्ध है कि साल आदि की दीक्षा के बाद महावीर दशार्णदेश की तरफ गये थे। 'ग' चरित्र भी यही बात कहता है।

यद्यपि दशार्ण से राजगृह और वैशाली-वाणिज्यग्राम की दूरी लग भग बराबर ही थी। बल्कि वैशाली से राजगृह १०-२० मील नजदीक पड़ता था, तथापि पिछला चातुर्मास्य राजगृह मे हो चुका था और पुरिमताल, बनारस आदि क्षेत्रों में विचरे खासा समय भी हो गया था। इस कारण भगवान् काशी प्रदेश में हो कर विदेह भूमि में गये। 'ग' चरित्र ने दशार्णभद्र की दीक्षा के बाद भगवान् के जनपदविहार का और कालान्तर मे राजगृह जाने का लिखा है; परन्तु हमारा अनुमान है कि दशार्णभद्र की दीक्षा के बाद भगवान् लगभग ढाई-तीन वर्ष तक काशी, कोशल, विदेह, पाञ्चाल आदि जनपदों मे विचरे थे और केवलिपर्याय का १८ वॉ १९ वाँ और २० वॉ वर्षावास भी वैशाली-वाणिज्यग्राम मे ही किया था।

(२१) लगभग तीन वर्ष तक मध्यप्रदेशों में विचरने के बाद भगवान् ने अपने मुख्य केन्द्र की तरफ प्रयाण किया। समय भी हो गया था और कई श्रमणों की इच्छा विपुलाचल पर अनशन करने की भी थी, परन्तु राजगृह से चम्पा की तरफ विहार आगे बढ जाने के कारण उस साल अनशन तो अधिक नहीं हुए होंगे परन्तु दीक्षायें अनेक हुई थीं।

(२२) कई मुनियों के कारण भगवान् ने इस वर्ष भी राजगृह के आसपास ही विहार किया। स्कन्धक कात्यायन ने इसी वर्ष में विपुलाचल पर अनशन किया था, जिस समय कि भगवान् राजगृह मे थे, ऐसा भगवतीसूत्र में लेख है।

(२३) राजगृह नालदा का वर्षावास पूरा होने पर भगवान् ने फिर विदेह की तरफ विहार किया। केवलि-जीवन के तीसरे वर्ष वाणिज्यग्राम निवासी आनन्द गाथापति ने भगवान् के निकट श्राद्धधर्म का स्वीकार किया था, यह पहले कहा जा चुका है। आनन्द ने बीस

वर्ष तक निज धर्म का आराधन करके अनशन किया था और अनशन के समय भगवान् वाणिज्यग्राम के दूतिपलास चैत्य मे पधारे थे, ऐसा उपासकदशांग में लिखा है, अत तेईसवें वर्ष भगवान् वाणिज्य-गाँव मे थे, यह निश्चित है। इसलिए उस वर्ष का वर्षावास भी वहाँ अथवा वैशाली में किया हो तो इसमें कोई शक नहीं।

(२४) यह भी सभव है कि विदेह मे आने के बाद भगवान् ने एक बार मध्यप्रदेश मे भी विहार किया होगा। वैशाली-वाणिज्यगाँव मे वर्षावास पर्याप्त हो चुके थे, अत अगला वर्षावास भगवान् ने मिथिला मे ही किया होगा।

(२५) मिथिला का वर्षावास व्यतीत करके भगवान् राजगृह गये होंगे, क्योंकि गणधर प्रभास इसी वर्ष राजगृह के गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त हुए थे और भगवान् उनके पास थे। इस दशा मे उस वर्ष का वर्षावास भी वहीं किया होगा, यह भी निश्चित है।

(२६) अचलभ्राता और मेतार्य, इन दो गणधरों का छब्बीस वर्ष के पर्याय में गुणशील चैत्य मे निर्वाण हुआ था, अत इस साल भी भगवान् इसी प्रदेश मे विचरे थे और वर्षावास भी मगध के केन्द्र मे ही किया होगा।

(२७–२८) वैशाली वाणिज्यगाँव में वर्षावास पर्याप्त हो चुके थे और उन्तीसवें तथा तीसवें वर्ष उनकी स्थिरता राजगृह मे हुई थी, यह भी निश्चित है, क्योंकि इन्हीं दो वर्षों मे भगवान् के छ गणधर राजगृह के गुणशील वन में मोक्ष को प्राप्त हुए थे और उस समय भगवान् का वहाँ होना अवश्यभावी है। अत सत्ताईसवाँ तथा अट्ठाईसवाँ, ये दो वर्षावास भगवान् ने मिथिला मे ही किये होंगे, यह स्वत सिद्ध है।

(२९) यह वर्षावास राजगृह मे हुआ था, यह ऊपर के विवेचन मे कहा जा चुका है।

(३०) इस वर्ष से भगवान् मगध में ही विचरे और वर्षावास पावामध्यमा मे किया, ऐसा कल्पसूत्र से सिद्ध है।

४ आधारस्तंभ—

ऊपर हमने भगवान् महावीर के केवलि-विहार का विवरण दिया है और उसके यथासंभव कारण भी सूचित किये हैं हम उन्हीं बातों के समर्थन के लिये अपनी मान्यता के आधार-स्तंभ और कतिपय हेतुओं का स्वतन्त्र उल्लेख करेंगे जिस से कि पाठकगण के लिए हमारा अभिप्राय सुगम हो जाय और हमारी कहीं भूल हो तो पकड़ी भी जा सके।

(१) यों तो भगवान् महावीर ने हजारों स्थानों में विहार किया होगा, परन्तु सूत्रों में उनके भ्रमण-स्थानों के जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनकी सख्या भी एक सौ के ऊपर है। इन में से बराबर आधे स्थान समूचे उत्तर-भारत में पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए थे। इन स्थानों में पहुँचने के लिये भगवान् ने पर्याप्त भ्रमण किया होगा, यह निश्चित है।

(२) श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् मगध की राजधानी चम्पा मे चली गई थी और कोणिक ने अपने भाइयों की सहायता से वैशाली पर चढाई कर चेटक के साथ घोर सग्राम किया था, जिसका नाम भगवती सूत्र मे 'महाशिलाकटक' लिखा है। गोशालक मखलिपुत्र ने अपनी मृत्यु के समय जिन आठ चरिमों की प्ररूपणा की थी उनमें 'महाशिलाकटक' सातवाँ चरिम बताया है। इस से सिद्ध है कि वैशाली का वह ऐतिहासिक युद्ध गोशालक की जीवितावस्था मे हो चुका था अथवा समाप्त होने को था।

(३) गोशालक के साथ वादविवाद के समय भगवान् महावीर अपने जीवन के सोलह वर्ष शेप रहे बताते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गोशालक वाली घटना भगवान् के केवलिजीवन के चौदहवें वर्ष मार्गशीर्ष महीने में घटी थी।

(४) श्रेणिक की मृत्यु के बाद उनके स्मारकों को देख-देख कर कोणिक का अपने पिता की मृत्यु के दु ख से दुखित रहना और इसी कारण राजधानी का वहाँ से हटा कर चम्पा में ले जाना, हल्ल विहल्ल के सुखविहार से कोणिक की पट्टरानी की ईर्ष्या, बहुत समय तक उपेक्षा

करने के बाद कोणिक का स्त्रीहठ के वश होना, हल्ल विहल्ल से सेचनक हाथी का माँगना, हल्ल विहल्ल का वैशाली जाना, कोणिक का चेटक के पास तीन बार दूत भेजने के अनन्तर युद्ध का निश्चय, कालादि दस भाइयों को अपनी अपनी सेनायें तैयार कर एकत्र होने की आज्ञा, ससैन्य सब का वैशाली पहुँचना और बहुकालपर्यन्त लड़ने के उपरान्त उसका 'महाशिलाकटक युद्ध' यह नाम प्रसिद्ध होना, इन सब कार्यों के सपन्न होने में कम से कम चार वर्ष अवश्य लगे होंगे, ऐसा हमारा अनुमान है। यदि हमारा यह अनुमान गलत न हो तो इसका अर्थ यह होता है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर का केवलिजीवन दस वर्ष के लगभग अधिक नहीं देखा।

५ सामान्य हेतुसंग्रह—

उक्त चार बातें हमारे केवलिविहारक्रम के मुख्य स्तंभ हैं। इन्हीं के आधार पर हमने भगवान् के जीवन चरित्र की अनेक घटनाओं को व्यवस्थित किया है, परन्तु केवल इन्हीं आधारों पर हमारी सम्पूर्ण इमारत निर्भर नहीं रह सकती, इसलिये हमें अन्य भी अनेक आधारभूत सामान्य हेतुओं का सहारा लेना पड़ा है, जो नीचे की तालिका से ज्ञात होंगे—

(१) मेघकुमार की दीक्षा राजगृह के प्रथम समवसरण में हुई थी और बारह वर्ष के बाद उन्होंने राजगृह के विपुल पर्वत पर अनशन किया। उस समय भी भगवान् राजगृह में थे।

(२) अभयकुमार जब गृहस्थाश्रम में था तब वीतभय के राजा उदायन की दीक्षा हो चुकी थी।

(३) उदायन की दीक्षा के लिये भगवान् ने चम्पा से वीतभय की तरफ विहार किया था।

(४) जालि आदि तथा दीर्घसेन आदि की दीक्षायें श्रेणिक के जीवित-काल में हुई थीं और उनमें से अधिकांश के अनशन काल में भगवान राजगृह में थे।

(५) आर्द्रकुमार और गोशालक का सवाद श्रेणिक के राज्यकाल की घटना है।

(६) प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान श्रेणिक की विद्यमानता मे हुआ था।

(७) महाशतक ने श्रेणिक के राज्यकाल मे महावीर के पास गृहस्थ धर्म स्वीकार किया था।

(८) धन्य शालिभद्र का अनशन श्रेणिक के राज्यकाल में हुआ था और उस समय भगवान् राजगृह में थे।

(९) धन्य काकन्दी का अनशन भी श्रेणिक के राज्यकाल मे हुआ था और उस समय भी भगवान् महावीर राजगृह में थे।

(१०) मकाती आदि गृहस्थों की दीक्षायें श्रेणिक के जीवितकाल में हुई थीं।

(११) चम्पा मे महचद्र आदि की दीक्षायें हुई तब तक कोणिक का वहाँ राज्य नहीं हुआ था।

(१२) जिस समय वैशाली मे कोणिक का युद्ध प्रारम्भ हुआ, उस समय भगवान् महावीर चम्पा मे थे।

(१३) वैशाली के युद्धकाल मे राजगृह मे हलचल थी और वैशाली वाणिज्यग्राम युद्धस्थल बने हुए थे अत उन वर्षों मे वर्षावास भगवान् ने मिथिला मे किये होंगे।

(१४) राजगृह से विहार करके भगवान् श्रावस्ती के निकटवर्ती कयगला में गये थे और स्कन्धक कात्यायन को प्रव्रज्या दी थी।

(१५) बारह वर्ष के श्रमणपर्याय मे स्कन्धक ने विपुल पर्वत पर अनशन किया, उस समय भगवान् राजगृह में थे।

(१६) राजगृह से चम्पा जाते पृष्ठचम्पा बीच में पड़ती थी।

(१७) आनन्द गाथापति ने गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया, उस समय और उसके बाद बीसवें वर्ष भगवान् वाणिज्य ग्राम के दूतिपलास चैत्य में थे।

(१८) कामदेव ने गृहस्थ-धर्म अगीकार किया, उसके चौदहवें वर्ष भगवान् चम्पा नगरी मे थे।

(१९) महाशतक के धर्मस्वीकार के बाद बीसवें वर्ष भगवान् राजगृह मे थे ।

(२०) भगवान् के केवलज्ञान के चौबीसवें वर्ष मे प्रभास, छब्बीसव वर्ष में अचलभ्राता तथा मेतार्य, अट्ठाईसवें वर्ष मे अग्निभूति तथा वायुभूति और तीसवें वर्ष मे व्यक्त, मडित, मौर्यपुत्र तथा अकपिक गणधर राजगृह के गुणशील चैत्य मे निर्वाण को प्राप्त हुए थे अत उस समय भगवान् महावीर वहीं होंगे, यह निश्चित है ।

६ रेखाचित्र की आवश्यकता—

भगवान् के केवलिजीवन का रेखाचित्र, इसकी उपपत्ति, आधारस्तभ और सामान्य हेतुसग्रह का सविस्तर निरूपण करके हम पाठकगण को नीरस विषय की चर्चा मे नहीं खींचते । पर हमारी कृति के इस विभाग की योजना बिलकुल नवीन है । इसमे त्रुटि अथवा असगति का होना सभव है और इसमे ऐसा कुछ भी हो तो तुरत दूर किया जाए, ऐसी लेखक की इच्छा है । रही हुई त्रुटि या असगति का पता तभी लग सकता है जब कि इसकी रचना का मूलाधार खोल कर दिखाया जाय और उसके साधक हेतुओं का भी दिग्दर्शन कराया जाय । बस यही कारण है कि हमें इस विषय मे यहाँ विस्तार से लिखना पड़ा ।

७ अभ्यस्त सामग्री—

ग्रन्थनिर्माण मे किस सामग्री का कहाँ उपयोग किया गया है, यह प्राय पहले कहा जा चुका है और जो शेष है वह केवलिजीवन के सबन्ध मे ही । हमने यह योजना किन किन सूत्रों के आधार से की है, उसके उल्लेख वहीं प्रकरणों के अन्त मे दी गई टिप्पणों मे कर दिये गये हैं जिससे कहीं भी कुछ शका अथवा असगति ज्ञात होते ही उस विषय का आधार ग्रन्थ देख कर उसका निराकरण किया जा सके ।

अभ्यस्त सामग्री के विषय में अधिक कहना नहीं है । हमारी श्रद्धा और रुचि का विषय मुख्यतया जैन सूत्र थे, अत विशेपतया हमने जैन सूत्रों में ही छान बीन की । वैदिक और बौद्ध साहित्य,

महावीर के सबन्ध में कचित् उल्लेख मिलते अवश्य हैं, पर उनकी यहाँ उपयोगिता नहीं समझी गई। आज तक छपे हुए हिन्दी, गुजराती महावीर चरित्र भी देख लिये गये हैं पर उन सबको अभ्यास के रूप मे नहीं पढा। वस्तुत उनकी शैली, भाषा अथवा वस्तु कोई भी चीज हमे अच्छी नहीं लगी, अत आधुनिक चरित्रों का हमने इसके निर्माण मे उपयोग नहीं किया।

८ हमारी पूर्वयोजना—

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का कार्य प्रारभ किया तब हमारी योजना कुछ भिन्न थी। उस समय हमारा विचार इस ग्रन्थ को चरित, सघ और परिशिष्ट नामक तीन खडों मे विभक्त करने का था और इस क्रम से हमने ग्रन्थ तैयार भी कर लिया था, परन्तु अन्त मे हमारा विचार बदल गया। 'सघ खण्ड' को स्वतत्र ग्रन्थ के रूप मे छपवाने का विचार भविष्य के ऊपर छोड कर चरितखण्ड और परिशिष्ट खण्डात्मक प्रस्तुत ग्रन्थ को पहले छपवाना निश्चित किया। ऐसा करने के अनेक कारण थे। पहला यह कि तीनों खण्ड एक साथ छपवाने से ग्रन्थ वढ जाता, दूसरा समय अधिक निकल जाता और तीसरा कागजों की इस महगी के समय में खर्च बहुत अधिक बढ़ जाता, अत पूर्वयोजना मे थोड़ा सा परिवर्तन करना पड़ा है।

९ हमारा उद्देश—

इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश जैन सूत्रों मे से भगवान् महावीर के जीवन प्रसगों को चुन कर कालक्रम से रखना और इस विषय के जिज्ञासुओं की जिज्ञासापूर्ति करने के अतिरिक्त भविष्य के समर्थ लेखकों के लिये सामग्री उपस्थित करना है।

आज से बराबर चार वर्ष पहले हमने भगवान् महावीर का यह केवलि-जीवन का रेखा चित्र 'श्री जैन सत्यप्रकाश' मासिक मे प्रकाशित कराया था। उसका उद्देश यही था कि इसमें कोई भूल अथवा असगति हो तो ज्ञात हो सके। परन्तु हमारे इस निबन्ध के ऊपर किसी ने किसी प्रकार की टीका टिप्पणी नहीं की। हाँ, श्रीसागरानन्दसूरिजी ने

अपने पाक्षिक पत्र 'सिद्धचक्र' में इसके संबन्ध में कुछ लिखना प्रारंभ अवश्य किया था परन्तु न मालूम बाद में उन्होंने भी आगे लिखना क्यों छोड़ दिया। चर्चा न होने के कारण इस विषय में हमें नवीन सूचना सम्मति का लाभ तो नहीं मिला पर फिर भी हमारा यह रेखा-चित्र का प्रकाशन निष्फल नहीं गया।

'श्री महावीर कथा' ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक श्रीगोपालदास जीवाभाई पटेल ने अपने उक्त ग्रन्थ में हमारा यही केवलि-जीवन रेखाचित्र पूर्णरूप से अपना कर अपने ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण भाग व्यवस्थित किया है। यद्यपि उक्त चित्र में रंगपूर्ति आपने अपनी रुचि के अनुसार की है, तथापि उसको ज्यों का त्यों स्वीकार करके श्रीयुत पटेल ने हमारे इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ाया है। हमें बहुत संतोष होगा यदि अन्य विद्वान् भी हमारी इस ग्रन्थोक्त सामग्री के आधार पर *भगवान् महावीर का विशिष्ट जीवन जीवन ग्रन्थित करने का श्रम* करेंगे।

१० शैली—

हमने इस ग्रन्थ का आलेखन प्रतिपादक शैली में किया है। जिन जिन सूत्रों में जो-जो चरितांश मिले और ठीक समझे गये उनको अपनी सादी भाषा में उतार कर यथास्थान रख दिये हैं। जहाँ तक बना सूत्रों के शब्दों में ही वृत्तान्त लिखा गया है तथापि बहुधा संक्षेप करके लिखना पड़ा है, क्योंकि सूत्र शैली अति विस्तृत होने से अक्षरशः अनुवाद करने से भाषान्तर बढ़ जाता और पढ़नेवालों को भी नीरसता का अनुभव होता।

शैली के विषय में हमें अनेक विद्वान् मित्रों की अनेकविध सूचनाएँ मिली थीं। किसी की सम्मति आलोचनात्मक दृष्टि से चरित्र लिखने के पक्ष में थी तो कुछ विद्वान् पुरातत्त्व की दृष्टि से वस्तु को परिष्कृत करके लिखवाना चाहते थे, परन्तु जब हमने पाठकगण की दृष्टि का विचार किया तो हमें उक्त सम्मतियाँ अच्छी होने पर भी विशेष उपयोगी प्रतीत नहीं हुईं। हमारा यह प्रयास केवल आलोचकगण

विदेहसूमाले तीस वासाइ विदेहं सिकट्टु" इत्यादि जो वर्णन मिलता है, इससे यह स्वत सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश मे अवतीर्ण हुए और वहीं उनका सवर्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित 'विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके' इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान् महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमार थे। एक जगह तो महावीर को 'वैशालिक' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आपका जन्मस्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग रहा होगा।

(२) जब कि भगवान् ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षा चातुर्मास्य किये थे तब क्षत्रियकुण्डपुर मे एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुडपुर जहाँ आज माना जाता है वहीं होता तो भगवान् के कतिपय वर्षावास भी वहाँ अवश्य ही होते, पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा उसके उद्यान में भगवान् के आने जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रारभ मे जब आप ब्राह्मणकुण्डपुर के बाहर बहुसाल चैत्य में पधारे थे तब क्षत्रियकुण्डपुर के लोगों का आपकी धर्मसभा मे जाने और जमालि के प्रव्रज्या लेने की बात अवश्य आती है।

भगवान् महावीर बहुधा वहीं अधिक ठहरा करते थे जहाँ पर राजवश के मनुष्यों का आपकी तरफ सद्भाव रहता। राजगृह-नालदा मे चौदह और वैशाली-वाणिज्यग्राम मे बारह वर्षावास होने का यही कारण था कि वहाँ के राजकर्ताओं की आपकी तरफ अनन्य भक्ति थी। क्षत्रियकुण्ड के राजपुत्र जमालि ने अपनी जाति के पाँच सौ राजपुत्रों के साथ निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या ली थी। इससे भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ से कि एक साथ पाँच सौ राजपुत्र निकले थे कोई बड़ा नगर रहा होगा। तब क्या कारण है कि महावीर

१ सचित्र कल्पसूत्र पत्र ३० (१)।

ने एक भी वर्षावास अपने जन्मस्थान में नहीं किया ? इसका उत्तर यही है कि क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक भाग उपनगर था और वैशाली वाणिज्यग्राम में बारह वर्षा चातुर्मास्य हुए ही थे जिनसे क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड के निवासियों को भी पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इस परिस्थिति मे क्षत्रियकुण्ड मे जाने आने अथवा वर्षावास करने संबन्धी उल्लेखों का न होना अस्वाभाविक नहीं है।

(३) भगवान् की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाक सनिवेश मे पारणा करने का उल्लेख है। जैन सूत्रों के अनुसार कोल्लाकसंनिवेश दो थे—एक वाणिज्यगाँव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान् का जन्म-स्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक मे पारणा होना असभव था, क्योंकि राजगृहवाला कोल्लाक सनिवेश वहाँ से कोई चालीस मील दूर पश्चिम मे पड़ता था और वाणिज्यग्रामवाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसगत होगा कि भगवान् ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्ड वन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीपवर्ती कोल्लाक में पारणा किया।

(४) क्षत्रियकुण्ड मे दीक्षा लेकर भगवान् ने कर्मारग्राम, कोल्लाकसनिवेश, मोराकसनिवेश आदि मे विचरकर अस्थिकग्राम मे वर्षाचातुर्मास्य बिताया और चातुर्मास्य के बाद भी मोराक, वाचाला, कनकखल आश्रमपद और श्वेतविका आदि स्थानों मे विचरने के उपरान्त राजगृह की तरफ प्रयाण किया और दूसरा वर्षावास राजगृह मे किया था।

उक्त विहार वर्णन मे दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान् प्रथम चातुर्मास्य के बाद श्वेतविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर से विहार करने के बाद आप गगानदी उतर कर राजगृह जाते हैं।

श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में

पड़ती थी। यह भूमि-प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम मे पड़ता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच में गगा पार करनी पड़ती थी, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आस पास न तो श्वेतविका नगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गगा ही पार करनी पडती थी। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड—जो आज-कल पूर्व बिहार मे गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अगदेश में पडता है—नहीं है, किन्तु गगा से उत्तर की ओर उत्तर बिहार मे कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय कुण्ड ही हो सकता है।

(३) भगवान् की केवलज्ञान भूमि—

भगवान् महावीर के जन्मस्थान के सबन्ध मे जिस प्रकार गोल-माल हुआ है वैसे ही केवलज्ञान भूमि के विषय में भी अवश्य हुआ है।

भगवान् को जभियगाँव के पास ऋजुपालिका अथवा ऋजुवालुका नदी के उत्तर तट पर केवलज्ञान हुआ था और वहाँ से आप रातभर चल कर मध्यमापावा पहुँचे थे, जो जंभिया से बारह योजन अर्थात् लगभग अड़तालीस कोस दूर थी।

आजकल भगवान् का केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान हजारीबाग से पूर्व में पार्श्वनाथ पहाड़ से दक्षिण पूर्व में दामोदर नदी के किनारे माना जाता है, परन्तु निश्चित रूप से यही स्थान केवल-कल्याणक भूमि है, यह कहना साहस मात्र होगा, क्योंकि दामोदर नदी से पावामध्यमा की दूरी पूर्वोक्त दूरी से बहुत अधिक है।

कुछ विद्वान् आजी नदी को ऋजुवालुका का अपभ्रश मानकर आजी के निकट स्थित जमगॉव को जभियगाँव मानते हैं और वहाँ से मध्यमा को लगभग बारह योजन दूर होना बताते हैं, परन्तु यह बात भी युक्तिसगत नहीं है। क्योंकि पहले तो 'आजी' यह 'ऋजुवालुका' का अपभ्रंश नहीं, पर इसी नाम की प्राचीन नदी है। जैन सूत्रों में

इसका 'आजी' और 'आदी', इन नामों से उद्देश मिलता है[1]। दूसरा आजी के तट से मध्यमापावा की दूरी अड़तालीस कोस की नहीं, पर इससे बहुत अधिक है। इस दशा में भगवान् के केवलकल्याणक का असली स्थान निश्चित करना कठिन है।

भगवान् महावीर ने बारहवाँ वर्षाचातुर्मास्य चम्पा में व्यतीत करके चम्पा से विहार कर जँभियगाँव और वहीं से छम्माणि होकर मध्यमा नगरी पहुँचे थे और मध्यमा से फिर आप जभियगाँव पधारे थे। इस प्रकार जभियगाँव, जहाँ पर भगवान् को केवलज्ञान हुआ था, चम्पा और मध्यमापावा के बीच में कहीं होगा। आधुनिक पावापुरी, जो महावीर की निर्वाण भूमि मानी जाती है, वास्तव में मध्यमापावा ही है। यहाँ से पूर्व की तरफ पचास कोस से कुछ अधिक दूर चम्पा पड़ती थी। चम्पा से विहार कर भगवान् ने पहला मुकाम जभियगाँव में किया और केवली होने के बाद वहाँ से अड़तालीस कोस के लगभग दूर अवस्थित मध्यमा पहुँचे थे। इससे हमारा अनुमान तो यह है कि महावीर की केवल कल्याणक भूमि जभियगाँव तथा ऋजुवालुका नदी चम्पा के पश्चिम प्रदेश में मध्यमा के रास्ते पर कहीं होनी चाहिये।

(४) महावीर की निर्वाणभूमि—

भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि के विषय में हमें कोई संदेह नहीं है। भगवान् की निर्वाण भूमि वही पावा है जो विहार नगर से आग्नेय कोण में सात मील पर पुरी अथवा पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध जैनतीर्थ है। जैन शास्त्रों में इसको मध्यमापावा कहा है, क्योंकि पावा नामक तीन नगर थे—एक गोरखपुर जिला में कुशीनारा के पास जहाँ आज पडरौना के समीप 'पपउर' नामक गाँव है। दूसरी पावा राजगृह के निकट विहार शहर से दक्षिण पूर्व में लगभग साढे तीन कोस पर अवस्थित महावीर की निर्वाण भूमि के

---

१ जंबूद्दीवेदीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण गंगा महानदी पंच महानदीओ समप्पेंति तंजहा—जउणा सरऊ आदी कोसी मही। (स्थानाङ्ग २।३।५१)

नाम से प्रसिद्ध पावापुरी और तीसरी पावा हजारीबाग के आसपास के प्रदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश भगि अथवा भग नाम से प्रसिद्ध आर्य देश था, जिसकी गणना जैन ग्रन्थकारों ने साढे पचीस आर्य देशों में की है।

दूसरी पावा से पहली पावा वायव्य और तीसरी आग्नेय कोण में थी। इन दोनों के बीच में लगभग समानान्तर यह दूसरी पावा अवस्थित होने से वह मध्यमा पावा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। जब कि बौद्ध ग्रन्थों में तीसरी पावा की चर्चा नहीं है तब जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि सशोधक विद्वान् दो ही पावाओं का निरूपण करते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य का समन्वय करने पर पावा तीन सिद्ध होती हैं, जो ऊपर सूचित की हैं।

१२ पाठकगण से प्रार्थना—

यद्यपि पूर्व महापुरुषों ने भगवान् श्री महावीर का जीवन चरित्र सूत्र तथा चरित्र ग्रन्थों में लिखा है, तथापि भगवान् के महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर जीवन का शृखलाबद्ध निरूपण उनमें नहीं था। यह एक अखरनेवाली बात थी। मुझे ही नहीं पर अनेक महावीर के भक्तों को यह बात अखरती थी, इसलिये उनकी ऐसे महावीर चरित्र की माँग थी, जिसमें भगवान् श्रीवर्धमान स्वामी के तीस वर्ष जितने तीर्थंकर जीवन का कालक्रम से निरूपण मिल सकता हो। बात अवश्य ध्यान देने योग्य थी और इसी कारण मेरा ध्यान इस तरफ स्थिर हुआ। इसकी सिद्धि के लिये जैन सिद्धान्तों का अध्ययन कर भगवान् के जीवन् प्रसगों को चुन कर एकत्र किया और उनको यथास्थान रखकर भगवान् के केवलिजीवन को व्यवस्थित करने का यथाशक्ति परिश्रम किया है। इसमे अपूर्णता है, यह तो मैं पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ असगति अथवा स्खलना दृष्टिगोचर हो तो पाठकगण उसकी लेखक को सूचना करने की उदारता करें, ऐसी प्रार्थना है।

हरजी मारवाड़
ता० २१-१०-४१

कल्याण विजय

विषय-सूची



चरित-खण्ड

प्रथम परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

परिशिष्ट खण्ड

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

श्रमण भगवान् महावीर

चरित-खण्ड

प्रथम परिच्छेद

गृहस्थ जीवन

भारतवर्ष का जन-समाज धार्मिक आडम्बरों में बहुत फँस चुका था, परन्तु धर्म के मौलिक तत्त्व प्रतिदिन तिरोहित होते जा रहे थे। मूल वैदिक धर्म 'श्रौत धर्म' के नाम से प्रसिद्ध था, उपनिषदों का अध्यात्मवाद और कपिल ऋषि का तापत्रयनिवृत्ति का उपदेश शुकपाठ की तरह रटा जाता था पर व्यवहार में इन सिद्धान्तों का बहुत कम उपयोग होता था। आडम्बरपूर्ण यज्ञक्रियाओं की विधि में ही वैदिक धर्म की परिसमाप्ति मानी जा रही थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही तत्कालीन वैदिक धर्म के अधिकारी थे और वे ही अपने लिए 'द्विज' शब्द का उपयोग कर सकते थे। शूद्र और अन्त्यज जातियाँ यद्यपि प्रतिदिन सभ्यता और धार्मिकता के निकट पहुँच रही थीं तथापि वैदिक धर्माचार्य उनके लिए दृढतापूर्वक धर्म के द्वार बन्द किए हुए थे[1]।

१-तत्कालीन परिस्थिति

इस वैदिक क्रियाकाण्ड के युग ने जैनधर्म पर बड़ा भारी असर

---

१ 'अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपु जतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥" गौतमधर्मसूत्रम् १२५।

अर्थ– वेद सुननेवाले शूद्र के कानों में सीसा और लाख भर दिये जायें। वेद का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाय और याद कर लेने पर उसका शरीर काट डालना चाहिये।

"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥१४॥" वासिष्ठधर्मसूत्रम्।

अर्थ–शूद्र को बुद्धि न दे, उसे यज्ञ का प्रसाद न दे और उसे धर्म तथा व्रत का उपदेश भी न दे।

किया। २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण को अभी पूरे दो सौ वर्ष भी नहीं हुए थे फिर भी उनके सघ और धर्म की स्थिति शोचनीय हो गई थी। तत्कालीन वैदिकधर्म की क्रियाओं और आचरणों के भिन्न-भिन्न प्रभावों से जैन सघ किसी अश तक प्रभावित भी हो गया था, फिर भी श्री पार्श्वनाथ की उग्रविहारी साधुसतति अभी अहिसा का रक्षण करने के लिये कटिबद्ध थी और उसीके उपदेश के प्रभाव से जैन अपना मौलिक स्वरूप टिकाये हुए थे।

समय धर्मभावना का था, परन्तु इस भावना के पोषक धर्माधिकारी बहुत कम रह गये थे। परिणामस्वरूप भावुक भारतवर्षीय प्रजा की धार्मिक भावनायें श्रद्धा, धर्म और सदनुष्ठान के स्थान पर अन्धविश्वास, हिंसा और रूढियों का पोषण कर रही थीं।

यद्यपि भारतवर्ष की धार्मिक प्रवृत्ति उस समय रूढि और आडम्बर का रूप धारण कर चुकी थी, तथापि इसकी तत्कालीन राष्ट्रीय स्थिति बहुत कुछ सतोषजनक थी। अग, मगध, वत्स, दशार्ण, अवन्ती, सिन्धु आदि अनेक देश उस समय राजसत्ताक थे तथापि वहाँ की प्रजा अधिकार-सपन्न और सुखी थी।

काशी, कोसल, विदेह आदि अनेक राष्ट्र प्रजासत्ताक थे। यद्यपि इन देशों में भी कहने मात्र को राजा होते थे तथापि वहाँ की राज्य-व्यवस्था प्रत्येक जाति के उन चुने हुए नायकों के सुपुर्द होती थी जो 'गणराज' के नाम से पुकारे जाते थे।

देश के शासक प्रत्येक कार्यों मे इन गणराजों की सम्मति लेते थे और युद्ध जैसे प्रसगों मे तो राजा लोग इन गणराजों की सलाह के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढते थे।

विदेह देश की राजधानी 'वैशाली' तत्कालीन प्रसिद्ध और समृद्ध नगरों मे से एक थी। मिथिला की चिरसचित समृद्धि उस समय वैशाली को प्राप्त थी। उसके निवासी वृजिक और विदेह यदि देव थे तो वैशाली उनकी अमरावती थी।

हैहय वश के जैन राजा चेटक की छत्र-छाया मे वैशाली अपनी उन्नति और ख्याति की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी।

वैशाली के पश्चिम परिसर मे गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम-तट पर स्थित ब्राह्मणकुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कमरिग्राम और कोल्लाक सनिवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे।

ब्राह्मणकुण्डपुर और क्षत्रियकुण्डपुर क्रमश एक दूसरे के पूर्व और पश्चिम मे थे। इन दोनों के दक्षिण और उत्तर दो-दो विभाग थे। दोनों नगर पास पास मे थे। इनके बीच मे एक उद्यान था जो 'बहुसाल चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध था।

ब्राह्मणकुण्डपुर का दक्षिण विभाग अर्थात् दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर 'ब्रह्मपुरी' कहलाता था। उसमे अधिकाश वस्ती ब्राह्मणों की थी।

दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर के नायक कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण थे। इनकी स्त्री देवानन्दा जालधरगोत्रीय ब्राह्मणी थी। ऋषभदत्त और देवानन्दा भगवान् श्रीपार्श्वनाथ के शासनानुयायी जैन श्रमणोपासक थे।

क्षत्रियकुण्डपुर मे करीब ५०० घर ज्ञात क्षत्रियों के थे जो सब क्षत्रियकुण्डपुर के उत्तर विभाग मे अर्थात् उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर मे बसे हुए थे।

उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ काश्यपगोत्रीय ज्ञातक्षत्रिय थे और ज्ञातक्षत्रियों की अधिकतावाले प्रदेश के सर्वाधिकारसपन्न स्वामी होने से 'राजा' कहलाते थे।

सिद्धार्थ की रानी त्रिशला वैशाली के महाराज चेटक की बहन वासिष्ठगोत्रीया क्षत्रियाणी थीं। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला भी तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ की श्रमणपरम्परा के श्रमणोपासक थे।

जिस परिस्थिति का हमने ऊपर वर्णन किया है उसका समय विक्रम के पूर्व की छठी शताब्दी है।

१–च्यवन और जन्म

देवाधिदेव भगवान् महावीर प्राणत नामक कल्प (स्वर्ग) से च्युत होकर (ईसवी सन् पूर्व ६०० आषाढ शुक्ला षष्ठी की मध्यरात्रि के समय) ब्राह्मणकुण्डपुर में देवानन्दा की कुक्षि मे अवतीर्ण हुए। क्षण भर के लिए जगत् अनिर्वचनीय प्रकाश से उद्योतित हुआ और पृथिवी हर्ष से उच्छ्वसित हो गई।

उस रात्रि को देवानन्दा ने हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्मसरोवर, क्षीरसमुद्र, देव विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि—ये १४ पदार्थ स्वप्न में देखे। जागृत होने पर देवानन्दा ने ऋषभदत्त से अपने स्वप्न-दर्शन का फल पूछा।

अपनी बुद्धि तथा शास्त्र के अनुसार स्वप्न-दर्शन का फल विचार कर ऋषभदत्त बोले "देवानुप्रिये! तुमने बड़े शुभ स्वप्न देखे हैं। इन स्वप्नों के फलानुसार हमें ज्ञानी और वेदवेदाङ्गपारगत पुत्र की प्राप्ति होनी चाहिये और आज ही से हमारी सर्वतोमुखी उन्नति का प्रारंभ होना चाहिये।"

स्वप्नों का फल सुन कर देवानन्दा परम आनन्दित हुई। उसने भावी पुत्र और उसकी विशिष्टताओं के सम्बन्ध में सुन कर आत्म-गौरव का अनुभव किया।

सुख सन्तोष और शान्ति में क्षणों की तरह दिन बीत रहे थे। स्वप्नदर्शन को ८२ दिवस हो चुके थे और ८३ वें दिन की ठीक मध्यरात्रि के समय देवानन्दा ने स्वप्न देखा कि 'मेरे स्वप्न त्रिशला क्षत्रियाणी ने चुरा लिये।'

जिस समय देवानन्दा ने त्रिशला द्वारा किया गया अपने स्वप्नों का हरण देखा उसी समय त्रिशला ने वे ही चौदह महास्वप्न देखे जो पहले देवानन्दा ने देखे थे।

तीर्थंकरों के जीव अपने पूर्वभवों में, खास कर पूर्व के तीसरे भव में, ऐसी साधना करते हैं कि तीर्थंकर के भव में उनके प्राय पुण्यप्रकृतियों का ही उदय होता है और इसलिए वे क्षत्रियकुलों में ही जन्म पाते हैं। इस दशा में भगवान् महावीर के जीव का देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरण एक आश्चर्यभूत घटना थी।

सौधर्मेन्द्र को पृथिवी पर तीर्थंकर के अवतार से अत्यन्त आनन्द हुआ। उसने भावी तीर्थंकर की स्तुति की और हरिणैगमेषी नामक देव को बुला कर कहा—देवानुप्रिय! पृथिवी पर तीर्थंकर का अवतार हुआ यह बड़े आनन्द की बात हुई पर यह अवतार ब्राह्मणकुल में हुआ, यह एक अनहोनी बात है। प्रिय नैगमेषी! कुछ भी हो तीर्थंकर का जन्म

ब्राह्मणकुल मे न हुआ, न होगा। इसलिए तुम जाओ और भावी तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा की कोख से सिद्धार्थ क्षत्रिय की भार्या त्रिशला की कोख मे और त्रिशला के पुत्रीरूप गर्भ को देवानन्दा की कोख मे रख दो।

इन्द्र की आज्ञा पाकर हरिणैगमेषी देव ने आश्विन वदी त्रयोदशी की मध्यरात्रि मे मनुष्य लोक मे आकर देवानन्दा तथा त्रिशला को निद्रावश करके तथा उनके पेट चीर कर उनके गर्भों का परिवर्तन कर दिया।

स्वप्नदर्शन के अनन्तर त्रिशला तुरन्त जग पडीं और राजा सिद्धार्थ के पास जाकर अपने स्वप्नदर्शन की बात कही। राजा ने अपने बुद्धि-बल के अनुसार पुत्रप्राप्तिरूप फल बताया, पर वे खुद ही इन महा स्वप्नों का विशेष फल जानना चाहते थे अत इनका आखिरी फलादेश निमित्त वेत्ताओं के मुख से सुनने का निर्णय किया।

प्रात काल होते ही सिद्धार्थ ने अपने सेवकों को बुलाया और आस्थानमण्डप को सजाने तथा अष्टाङ्ग निमित्तवेत्ताओं को बुलाने का आदेश दिया।

हमेशा की अपेक्षा उस रोज राजा कुछ जल्दी उठे थे। प्रात काल नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सामन्त-मन्त्रिमण्डल के साथ वे आस्थानमण्डप मे आकर सिंहासन पर बैठे। सामन्त-मन्त्री आदि सभी यथास्थान बैठ गये। रानी त्रिशला भी सपरिकर आकर यवनिका के भीतर भद्रासन पर सुशोभित हुईं।

राजा का आमन्त्रण पाकर अष्टाङ्गनिमित्तशास्त्र के पारगत आठ विद्वान् राजसभा मे आये और आशीर्वाद आदि शिष्टाचार के उपरान्त योग्य आसनों पर बैठ गये।

राजा सिद्धार्थ फल-पुष्पादि से अञ्जलि भर कर उठे और बोले—"विद्वानो! गत मध्यरात्रि मे सुख की नींद सोती हुई रानी गज, वृषभादि चौदह स्वप्न देख कर जग गई और उसने शेषरात्रि विना सोये व्यतीत की। देवानुप्रिय! इस स्वप्नदर्शन का निश्चित फल क्या होना चाहिये सो शास्त्र के आधार से कहिये।"

स्वप्नपाठकों ने स्वप्न सबन्धी सपूर्ण हकीकत सुन कर उस पर

विचार किया। देर तक एक दूसरे के साथ विचार विनिमय करके उनका मुखिया बोला—"राजन! बहुत ही शुभ स्वप्नदर्शन है। हमारे स्वप्नशास्त्र मे कुल ७२ प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं जिनमे से गज, वृषभादि १४ महास्वप्न वे ही भाग्यवती स्त्रियाँ देखती हैं जिनके गर्भ मे भावी चक्रवर्ती राजा अथवा धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर का अवतार होता है। रानी ने जो ये महास्वप्न देखे हैं इससे निश्चित ही सवा नौ महीने उपरान्त इनकी कोख से किसी महान् चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर का जन्म होगा।"

यवनिका के भीतर बैठी हुई रानी त्रिशला ने यद्यपि फलादेश अच्छी तरह सुन लिया था फिर भी राजा ने उनके निकट जाकर स्वप्नपाठकों के मुख से सुना हुआ स्वप्न-फल फिर सुनाया। रानी अपने स्वप्नदर्शन का फल सुन कर परम सतुष्ट हुईं और बार बार स्वप्नों का ही स्मरण करती हुई अपने स्थान पर गईं। राजा ने भी स्वप्नपाठकों को विपुल दान दक्षिणा देकर विदा किया।

लोक मे तीर्थंकरों का अवतार मति, श्रुत तथा अवधि इन तीनों ज्ञानों के साथ ही होता है अर्थात् गर्भावस्था में ही वे विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। गर्भावतार के सातवें महीने मे महावीर ने, 'शारीरिक चलन स्पन्दनादि से माता को कष्ट न हो' इस विचार से अपने शरीर का चलनादि बिलकुल बन्द कर दिया। परन्तु माता ने अपने गर्भ की निश्चलता से अमगल की कल्पना की और सोचा कि गर्भस्थ बालक मृत्यु को प्राप्त हो गया है। क्षणभर मे सारा राजकुटुम्ब शोक सागर मे डूब गया।

गर्भस्थ बालक ने यह सब अपने ज्ञान से देखा और सोचा—माता-पिता की सतान विषयक ममता बडी प्रबल है। अभी जिसका मुँह भी नहीं देखा उसके वियोग की कल्पना से ही वे इस प्रकार अधीर हो उठे हैं। यह सोच कर महावीर ने गर्भावस्था मे ही प्रतिज्ञा की कि माता-पिता की जीवितावस्था मे मैं प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करूँगा।

जब से भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थ के कुल में अवतीर्ण हुए तभी से राजा की राजसत्ता बढने लगी, उनके भाण्डागार धन धान्य से भरपूर होने लगे और सब प्रकार से ज्ञातवश की उन्नति होने लगी। इस अभ्युदय को देख कर सिद्धार्थ और त्रिशला ने निश्चय किया कि

'यह सब वृद्धि हमारे गर्भस्थ पुत्र के पुण्यप्रताप का फल है इसलिये जन्म होने पर हम इस पुत्र का नाम वर्धमान रखेंगे।'

ईसवी सन् पूर्व ५९९ चैत्र सुदी १३ की मध्यरात्रि में रानी त्रिशला की पुण्यकुक्षि से श्रमण भगवान् महावीर का क्षत्रियकुण्डपुर में जन्म हुआ। इस पवित्र आत्मा के प्रादुर्भाव से केवल क्षत्रियकुण्डपुर ही नहीं, क्षण भर के लिए समस्त ससार लोकोत्तर प्रकाश से प्रकाशित हो गया और राजा सिद्धार्थ ने ही नहीं ससार भर के प्राणिगण ने अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया।

जन्म के समकाल ही स्वर्ग के इन्द्रासन कपित हुए। इन्द्र, देवगण तथा देवकुमारियों ने क्षत्रियकुण्डपुर मे आकर इस पवित्र विभूति के जन्मोत्सव का आनन्द लिया।

राजा सिद्धार्थ ने नगर मे दस दिन तक उत्सव मनाया। प्रजा के आनन्द और उत्साह की सीमा नहीं रही। सर्वत्र धूम मच गई। सारा नगर उत्सव और आनन्द का स्थान बन गया।

बारहवें दिन नामकरण सस्कार सपन्न हुआ। राजा सिद्धार्थ ने इस प्रसग पर अपने ज्ञातिजन, कुटुम्ब परिवार और मित्र तथा स्नेहियों को आमन्त्रित किया और भोजन, ताम्बूल, वस्त्र, अलकारों से सब का सत्कार कर उनके आगे अपना मनोरथ व्यक्त करते हुए राजा ने कहा-"भाइयो, जब से यह बालक हमारे कुल में अवतीर्ण हुआ है तब से हमारे कुल मे धन, धान्य, कोश, कोष्ठागार, बल, परिजन और राज्य की वृद्धि हो रही है तथा सामन्त राजा स्वय हमारे वश मे आ गये हैं। इस कारण हमने पहले ही निश्चय कर लिया था कि हम इस पुत्र का नाम 'वर्धमान' रक्खेंगे। हमारे वे चिरसचित मनोरथ आज पूर्ण हुए हैं। हम इस बालक का नाम वर्धमान रखते हैं।"

कुमार वर्धमान की बाल्यावस्था राजकुमारोचित वैभवसपन्न थी। यद्यपि राजा सिद्धार्थ का उत्तराधिकारी कुमार नन्दिवर्धन था तथापि राजा सिद्धार्थ के लिये कुमार वर्धमान युवराज से भी अधिक थे। स्वप्नपाठकों ने चक्रवर्ती राजा अथवा धर्म-तीर्थंकर होने का जो भविष्य कथन किया था उसे याद करते हुए सिद्धार्थ

३-बाल्यावस्था

और रानी त्रिशला अपने इस छोटे पुत्र को अधिक भाग्यशाली समझते थे। पाँच धात्रियाँ, बालमित्र, नौकर-अनुचर और अन्यान्य सभी सुख साधन वर्धमान के लिए प्रस्तुत किये गये थे।

वर्धमान बाल्यकाल से ही विवेक, विचार, शिष्टता और गाम्भीर्यादि अनेक गुणों से अलङ्कृत थे। अपने इन वृद्धोचित विशिष्ट गुणों से अपने समवयस्क मित्रों को ही नहीं बड़े बड़े समझदार वृद्धपुरुषों को भी चकित कर देते थे। जातिस्मरणादि अलौकिक ज्ञानों के कारण आप का हृदय पूर्वभवाभ्यस्त समग्र शास्त्रीय ज्ञान तथा विद्याओं से आलोकित था। यह सब होते हुए भी गम्भीरता के कारण आपकी इन विशिष्टताओं को कोई समझ नहीं पाता था।

यद्यपि कुमार वर्धमान की बाल्यावस्था में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुई तथापि आमलकी क्रीडा और लेख्यशाला गमन ये दो घटनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

४—आमलकी क्रीडा

वर्धमान की अवस्था आठ वर्ष से कुछ कम थी। वे अपनी मित्रमण्डली के साथ शहर के बाहर 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इन्द्र द्वारा प्रशंसित वर्धमान कुमार के बल, धैर्य और साहस की परीक्षा करने की इच्छा से एक देव विकराल सर्प के रूप में वहाँ प्रकट हुआ। और क्रीडा-वृक्ष के मूल को लिपट कर फूँकारने लगा। इस दृश्य से वर्धमान के सब मित्र भयभीत हुए पर वर्धमान जरा भी नहीं डरे। वे सर्प की ओर आगे बढ़े और साँप को अपने हाथ से पकड़ कर दूर फेंक दिया।

फिर खेल शुरू हुआ। अब की बार दो दो लड़के 'तिंदूसक' खेल खेलने लगे। दो दो के बीच खेल होता और हारने वाला अपनी पीठ पर विजेता को चढ़ा कर दौड़ता। सर्परूपधारी देव समझ गया कि उसकी विभीषिका का वर्धमान पर कुछ भी असर नहीं हुआ। अब वह किशोररूप धारण करके उनके साथ खेलने लगा। क्षण भर में कुमार-रूपधारी देव अपने हरीफ वर्धमान से हार गया और शर्त के अनुसार वर्धमान कुमार को अपनी पीठ पर लेकर दौड़ने लगा। वह दौड़ता जाता था और अपना शरीर बढ़ाता जाता था। क्षण भर में वह सात

ताड जितना ऊँचा पिशाच बन गया। वर्धमान ने इस माया को तुरन्त जान लिया और जोर से उसकी पीठ पर एक घूँसा जमा दिया। वर्धमान का वज्रसम मुष्टिप्रहार मायावी देव सह नहीं सका अत वह सिकुड कर अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त हुआ।

अब देव को विश्वास हो गया कि वर्धमान का साहस और सामर्थ्य सचमुच ही प्रशसनीय है। वह प्रकट होकर बोला—"वर्धमान! सचमुच ही तुम 'महावीर' हो। अवश्य ही तुम्हारा साहस और सामर्थ्य इन्द्र की प्रशसा के योग्य है। कुमार! मे तुम्हारा परीक्षक बनकर आया था और प्रशसक बनकर जाता हूँ।"

देव चला गया पर उसके मुख से निकला हुआ 'महावीर' शब्द वर्धमान के नाम का सदा के लिये विशेषण हो गया।

कुमार वर्धमान बाल्यावस्था से ही कैसे गभीर थे इस बात को समझने के लिये उनके लेखशाला प्रवेश का प्रसग विशेष उल्लेखनीय है।

५—लेखशाला प्रवेश

वर्धमान अलौकिक ज्ञान और विद्याओं के प्रकाण्ड विद्वान थे परन्तु इनकी गम्भीरता के कारण उनके माता पिता तक भी उनकी विद्वत्ता के सबध मे कुछ भी नहीं जान पाये इसी लिये उन्होंने आठ वर्ष पूरे होते ही अपने प्रिय पुत्र को विद्याध्ययन कराने के लिए लेखशाला मे भेजने का निश्चय किया और शुभ तिथि-करण योग मे महोत्सवपूर्वक एक विद्यार्थी के रूप मे उन्हें लेखशाला में भर्ती किया।

ठीक उसी समय स्वर्ग के इन्द्र को इसका पता लगा। बालक वर्धमान की गभीरता और उनके माता पिता की मुग्धता को देख कर इन्द्र को बडा आश्चर्य हुआ। तत्काल उसने वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे क्षत्रियकुण्डपुर की ओर प्रयाण किया और उस लेखशाला मे जाकर वर्धमान से व्याकरण विषयक अनेक प्रश्न पूछे जिनके उन्होंने स्पष्ट और ठीक उत्तर दिए।

कुमार के विद्वत्तापूर्ण उत्तरों से पाठशाला का अध्यापक चकित हो गया। वह अपने शकास्थलों को याद कर कुँवर से पूछने लगा। कुँवर ने भी प्रश्नों के होते ही उसकी सब शकाओं का समाधान कर दिया।

अध्यापक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से वर्धमान और वृद्ध की तरफ देखने लगा। उस समय वृद्धरूपधारी इन्द्र बोला—"देवानुप्रिय! इस राजकुमार को तुम साधारण बालक न समझो। यह बालक विद्या का सागर और ज्ञान का निधि है। इस का समकक्ष इस देश में तो क्या भारतवर्ष में भी नहीं मिलेगा। सज्जनो! इसे साधारण मनुष्य न समझो। यह ज्ञानी है जो आगे जाकर एक महान् धर्मतीर्थंकर होकर इस भारतवर्ष का उद्धार करेगा।" यह कहकर उसने अपना स्वरूप प्रकट किया और वर्धमान को नमस्कार कर अन्तर्धान हो गया।

अब वर्धमान के माता-पिता और परिजनगण कुमार की विशेषताओं को समझ पाए और उसी क्षण उन्हें वापस अपने घर ले गये।

वर्धमान की बाल्यावस्था व्यतीत होने पर समरवीर नामक एक महासामन्त की पुत्री 'राजकुमारी यशोदा' के साथ उनका विवाह[1] हुआ और उससे उनके 'प्रियदर्शना' नामक पुत्री भी हुई।

६—विवाह और सतति

१ दिगम्बर सम्प्रदाय महावीर को 'अविवाहित' मानता है जिसका मूल आधार शायद श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत आवश्यकनिर्युक्ति है। उसमें जिन पाँच तीर्थंकरों को 'कुमारप्रव्रजित' कहा है उनमें महावीर भी एक हैं। यद्यपि पिछले टीकाकार 'कुमारप्रव्रजित' का अर्थ 'राजपद नहीं पाए हुए' ऐसा करते हैं परन्तु आवश्यक निर्युक्ति का भाव ऐसा नहीं मालूम होता। निर्युक्तिकार 'ग्रामाचार' शब्द की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं कि 'कुमारप्रव्रजितों को छोड़ अन्य तीर्थंकरों ने भोग भोगे।' (गामायारा विसया ते भुत्ता कुमाररहिएहिं) इस व्याख्या से यह ध्वनित होता है कि आवश्यकनिर्युक्तिकार को 'कुमारप्रव्रजित का अर्थ 'कुमारावस्था में दीक्षा लेनेवाला' ऐसा अभिप्रेत है। इसी निर्युक्ति अथवा इस पर से बने हुए किसी अन्य दिगम्बर सम्प्रदायमान्य किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर के कौमार्य जीवन की मान्यता चल पड़ी मालूम होती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थकार महावीर को विवाहित मानते हैं और उसका मूल आधार 'कल्पसूत्र' है। उसमें महावीर की स्त्री और उनकी पुत्री के नामों का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थाश्रम का अथवा उनकी भार्या यशोदा का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

कुमार वर्धमान स्वभाव से ही वैराग्यशील और एकान्तप्रिय थे। उन्होंने माता पिता के दाक्षिण्य से गृहवास स्वीकार किया। इससे जब

७-अभिनिष्क्रमण

वे २८ वर्ष के हुए और माता पिता का देहान्त हो गया तो उनका मन प्रव्रज्या के लिए उत्कण्ठित हो उठा। उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और इतर स्वजनवर्ग के आगे अपना मनोभाव प्रकट किया। स्वजनवर्ग ने कहा–भाई, घाव पर नमक न छिडको। अभी माता पिता के वियोग का दुःख तो भूले ही नहीं कि तुम भी छोडने की बात करने लगे। भाई, जल्दी न करो। अभी कुछ समय तक ठहरो।

वर्धमान – कब तक ?

स्वजन – कम से कम दो वर्ष तक।

वर्धमान – अच्छा, पर आज से मेरे निमित्त कुछ भी आरंभ समारंभ न करना।

स्वजनवर्ग ने वर्धमान की बात मंजूर की और वर्धमान गृहस्थ वेष में रहते हुए भी त्यागी जीवन बिताने लगे। अपने लिए बने हुए भोजन, पान या अन्य भोगसामग्री का बिलकुल उपयोग न करते हुए वे साधारण भोजनादि से अपना निर्वाह करने लगे। ब्रह्मचारियों के लिये वर्जित तेल-फुलेल, माल्य विलेपन और अन्य शृंगारसाधनों को उन्होंने पहले ही छोड दिया था। गृहस्थ होकर भी वे सादगी और संयम के आदर्श बने हुए शान्तिमय जीवन बिताते थे।

महावीर ने २८ वें वर्ष के बाद घर में रह कर दो वर्ष संयमी जीवन बिताया ऐसे उल्लेख अनेक स्थलों में मिलते हैं और आश्चर्य नहीं यदि उसके भी बहुत पहले से वे ब्रह्मचारी बने हुए हों क्योंकि दीक्षाकाल में या आगे पीछे कहीं भी यशोदा का नामोल्लेख नहीं मिलता। यदि तब तक यशोदा जीवित होती तो महावीर की बहन तथा पुत्री की ही तरह वह भी प्रव्रज्या लेती अथवा अन्य रूप से उसका नामोल्लेख पाया जाता। संभव है कि यशोदा अल्पजीवी हो और उसके देहावसान के बाद महावीर ब्रह्मचारी रहने से ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हो गये हों और उसी प्रसिद्धि ने कालान्तर में महावीर को 'कुमारप्रव्रजित' के रूप में प्रसिद्ध किया हो। कुछ भी हो पर इतना तो निश्चित है कि महावीर के अविवाहित होने की दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता बिलकुल निराधार नहीं है।

अन्तिम वर्ष मे वर्धमान ने अपना विशेष लक्ष्य दीन दुखियों के उद्धार मे लगाया। प्रतिदिन प्रातःकाल से ही आप सुवर्णदान करने लगते और पहरभर मे एक करोड आठ लाख दीनारों का दान कर डालते। वर्षभर मे अरबों सुवर्ण मुहरों का दान कर अन्त मे अभिनिष्क्रमण करने का निश्चय किया।

अभिनिष्क्रमण का सकल्प करते ही नौ लोकान्तिक देव वहाँ उपस्थित हुए और वर्धमान के निश्चय का अनुमोदन करते हुए बोले–'श्रीमन्, तुम्हारी जय हो! कल्याणकारिन्, तुम्हारी जय हो! हे क्षत्रियश्रेष्ठ, तुम्हारा जय कल्याण हो! हे जगत् के स्वामी, अब आप जल्दी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये जिससे सर्वजीवों का सुख और कल्याण हो।'

सुवर्ण, रूप्य, धन, धान्य, स्त्री, परिवार, राज्य और राष्ट्र सब प्रतिबन्धों पर से वर्धमान ने मन खीच लिया और मार्गशीर्ष शुक्ला १०मीं को दिन के चौथे पहर 'चन्द्रप्रभा' पालकी में बैठ कर राजभवन से निकले। राजकुटुम्ब, राज्याधिकारी, चतुरगिणी सेना के अतिरिक्त हजारों नागरिकों ने आपका अनुगमन किया।

क्षत्रियकुण्डपुर के बाहर ईशान दिशा विभाग मे 'ज्ञातखण्ड' नामक उद्यान था। वर्धमान के दीक्षामहोत्सव का जुलूस इसी ज्ञातखण्ड मे पहुँच कर एक अशोक वृक्ष के समीप रुका।

वर्धमान पालकी से उतरे और अशोक वृक्ष के नीचे वस्त्राभूषणों को त्याग कर स्वय पञ्चमुष्टिक केशलोच किया। एक देवदूष्य वस्त्र बायें कधे पर रख कर भावी जीवनचर्या की कठिन प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार हुए।

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था। विजय नामक मुहूर्त वर्तमान था। ऐसे सुव्रत दिन के चौथे पहर को वैरागी वर्धमान ने सिद्धों को नमस्कार कर अपने भावी जीवन का दिग्दर्शन करानेवाली यह प्रतिज्ञा की–

'मैं समभाव को स्वीकार करता हूँ और सर्व सावद्य-योग का त्याग करता हूँ। आज से जीवन पर्यन्त मानसिक, वाचिक तथा कायिक सावद्ययोगमय आचरण न स्वय करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुए

का अनुमोदन करूँगा। पहले के सावद्य आचरण से निवृत्त होता हूँ, उससे घृणा करता हूँ और अपने पूर्वकालीन सावद्यजीवन का त्याग करता हूँ।'

उक्त प्रतिज्ञापूर्वक सर्वविरति-चरित्र को स्वीकार करते ही भगवान् वर्धमान को 'मन पर्याय' ज्ञान प्राप्त हुआ।

केशलोच कर देवदूष्य वस्त्र कधे पर रख कर 'सामायिक' की प्रतिज्ञा करते समय कुमार वर्धमान के पास एक ब्राह्मण आया और आशीर्वाद पूर्वक बोला—'जय हो, राजकुमार की जय हो। आपके सुवर्ण दान ने पृथिवीभर का दारिद्र्य दूर कर दिया पर इस भाग्यहीन ब्राह्मण को उससे लाभ नहीं हुआ। मे परदेश से इसी समय आया हूँ, इस गरीब ब्राह्मण पर भी कुछ दया हो जाय।' ब्राह्मण की प्रार्थना पर भगवान् ने देवदूष्य के दो टुकडे कर आधा उसे दे दिया।

दूसरा परिच्छेद

तपस्वी-जीवन

राजकुमारोचित सुख वैभवों मे पोसेपले ज्ञातपुत्र वर्धमान ने महावीरोचित अन्तिम कोटि की दुष्कर जीवन-चर्या अंगीकार की। राज्य-वैभव, देश नगर और कुटुम्ब परिवार को तृणवत् छोडकर आपने त्यागी जीवन–श्रामण्य को स्वीकार किया और भाई-बंधुओं से अन्तिम विदा ले ज्ञातखण्ड से आगे विहार कर गये।

१–पहला वर्ष
(वि॰ पू॰ ५१२–५११)

ज्ञातखण्ड से चलकर एक मुहूर्त दिन शेष रहते भगवान् कमरिग्राम पहुँचे और रात्रि वहीं बिताने के विचार से कायोत्सर्ग मे स्थिर हो गये।

संध्या के समय वहाँ एक ग्वाला बैलों के साथ आया और बैलों को वहीं छोड गाँव मे चला गया। जब वह कार्य से निवृत्त हो गाँव से लौटा तो बैल वहाँ नहीं थे। ध्यानस्थित भगवान् के पास जाकर उसने पूछा–'देवार्य! क्या आप जानते हैं कि यहाँ से बैल कहाँ गये हैं।' महावीर की तरफ से गोप को कोई उत्तर नहीं मिला। उसने सोचा–देवार्य को मालूम न होगा। वह चला गया और बैलो की खोज मे रात भर जंगल मे भटकता रहा पर उसे बैल न मिले।

सारी रात घूमफिर कर ग्वाला रात्रि के अन्तिम भाग मे वहाँ लौटा तो भगवान् के निकट बैल बैठे देखकर वह महावीर पर झल्ला कर बोला–'बैलों की बात जानते हुए भी तुमने मुझे सारी रात भटकाया है' और हाथ में रास लिए वर्धमान को मारने के लिए दोडा पर उसके पाँव वहीं स्तब्ध हो गये। उसी समय वहाँ इन्द्र प्रकट होकर बोला–'दुरात्मन्! तुझे इतना भी मालूम नहीं कि ये राजा सिद्धार्थ के दीक्षित पुत्र वर्धमान हैं।'

इसके पश्चात् भगवान् को वन्दन कर इन्द्र ने कहा–'भगवन्! बारह

वर्ष तक आपको विविध उपसर्ग होनेवाले हैं अत आज्ञा दीजिये कि तबतक मैं आपकी सेवा मे रहकर कष्ट निवारण किया करूँ।'

इन्द्र की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा– देवेन्द्र ! यह कभी नहीं हुआ और न होगा। अर्हन्त देवेन्द्र या असुरेन्द्र किसी के सहारे केवलज्ञान नहीं पाते किन्तु अपने ही उद्यम, बल, वीर्य और पुरुषार्थ से केवलज्ञान पाकर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और होंगे।

दूसरे दिन भगवान् ने कमरिग्राम से आगे विहार किया और कोल्लाग सन्निवेश जाकर 'बहुल' ब्राह्मण के यहाँ क्षीरान्न से छट्ठ तप का पारणा किया।

कोल्लाग सन्निवेश से भगवान् ने मोराक सन्निवेश की तरफ प्रयाण किया और मोराक के बाहर दूइज्जन्त नामक पाषण्डस्थों के आश्रम मे गये। वहाँ का कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था और महावीर का परिचित। अत महावीर को देखते ही वह उठा और दोनों ने हाथ मिलाया। कुलपति के आग्रह से उस दिन भगवान् वहीं ठहरे। दूसरे दिन चलते समय कुलपति ने कहा—'कुमार ! यह आश्रम दूसरे का न समझिये। कुछ समय यहाँ ठहर कर इसे भी पवित्र कीजिये। कम से कम आगामी वर्षावास तो यहीं बिताने की स्वीकृति दीजिये।'

कुलपति की प्रार्थना स्वीकार कर महावीर वहाँ से विहार कर गये और शीत तथा उष्णकाल आसपास के प्रदेश मे व्यतीत कर वर्षा ऋतु के प्रारंभ मे फिर उसी आश्रम मे पहुँचे और कुलपति के बताये हुए एक झोंपडे मे रहने लगे।

यद्यपि कुलपति के आग्रहवश भगवान् ने वर्षाकाल आश्रम मे बिताना स्वीकार कर लिया था पर कुछ समय रहने पर उन्हे ज्ञात हो गया कि यहाँ पर उन्हें शान्ति न मिलेगी। आप सब तरह से निवृत्ति मे रहना चाहते थे परन्तु आश्रमवासियों की प्रवृत्तियाँ उससे बिलकुल विपरीत थीं। जिस झोंपडे मे आपको ठहराया गया था उसका मालिक झोंपडे की देखभाल और रक्षा के लिये आपको बारबार चेताता और टोका करता पर आप उस ओर लक्ष्य नहीं देते थे। घास की कमी से गाएँ

झोंपडे की घास चरा करतीं और इसकी शिकायत कुलपति तक पहुँचती। एक बार कुलपति खुद भी आपको सूचित करता हुआ बोला—'कुमार! एक पक्षी भी अपने घोंसले का रक्षण करता है और तुम क्षत्रियपुत्र होकर भी अपने आश्रय स्थान की रक्षा नहीं कर सकते ?'

आश्रमवासियों के इस व्यवहार से वर्धमान का वहाँ से दिल उठ गया। उन्होंने सोचा—'अब मेरा यहाँ रहना आश्रमवासियों के लिये अप्रीतिकर होगा'। इसलिए वर्षाकाल के पद्रह दिन व्यतीत हो जाने पर भी वहाँ से अस्थिकग्राम की ओर प्रयाण किया और वर्षाकाल वहीं पूरा किया।

उक्त घटना ने महावीर के चित्त पर बडा प्रभाव डाला। परिणाम-स्वरूप उन्होंने निम्नलिखित प्रतिज्ञायें कीं—

(१) अब से अप्रीतिकर स्थान मे नहीं रहूँगा।
(२) नित्य ध्यान मे लीन रहूँगा।
(३) नित्य मौन रहूँगा।
(४) हाथ मे भोजन करूँगा।
(५) गृहस्थ का विनय नहीं करूँगा।

अस्थिकग्राम के परिसर मे शूलपाणि नामक व्यन्तर देव का चैत्य था। भगवान् वहाँ गये और वहाँ ठहरने के लिये पूजक से आज्ञा माँगी पर पूजक ने यह अधिकार ग्राम का बताया। उस समय ग्रामजन भी वहीं इकट्ठे हुए थे। भगवान् ने उनसे चैत्य मे ठहरने की आज्ञा माँगी तो लोगों ने कहा—'महाराज! आपका यहाँ रहना खतरनाक है। यह शूलपाणि देव कोई साधारण देव नहीं कि आप इसके मदिर मे ठहर कर सकुशल रह सकें। दिन मे ही मनुष्य यहाँ रह सकता है, भूल कर भी यदि वह रात को यहाँ रह जाय तो उसकी कुशल नहीं। क्रोध की प्रतिमूर्ति यह शूलपाणि रात मे यहाँ ठहरनेवाले को बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डालता है। इस कारण रात्रिवास के लिए आप कोई दूसरा स्थान देखिए।'

ग्रामजनों का अभिप्राय सुन कर महावीर ने कहा—'इस बात की तुम कुछ भी चिन्ता न करो। हमें केवल आज्ञा चाहिये।'

इस पर उनमे से एक ने कहा—'आप यहाँ रह सकते हैं।

महावीर ने कहा—'मुझे सारे गाँव की आज्ञा चाहिए क्योंकि सारे गाँव का ही इस चैत्य पर स्वामित्व है।'

तब उपस्थित जनता ने आज्ञा प्रदान की और आपने चैत्य के एक कोने मे जाकर ध्यान लगाया।

सूर्यास्त के पहले-पहले सब लोग वहाँ से चले गये। पूजक ने महावीर से कहा—'देवार्य ! अब आप भी जाइये। यहाँ रह कर व्यर्थ प्राणों को सकट मे न डालिये।' परतु महावीर ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पूजक चला गया।

भगवान् चैत्य के एक कोने मे खडे ध्यान मे मग्न थे। शूलपाणि ने महावीर की इस निर्भयता को धृष्टता समझा। मन ही मन कुढता हुआ वह बोला—'कैसा ढीठ मनुष्य है। गाँववालों ने समझाया, पूजक ने चेताया, फिर भी यहाँ से नहीं हटा ! ठीक है। समय होने दो। अभी इसे दिखा दूँगा कि भलेमानसो की बात न माननेवालो की क्या दशा होती है।'

क्षण भर मे सध्या हुई और यक्ष ने अपना पराक्रम दिखाना शुरू किया। सर्वप्रथम उसने एक अतिभयकर अट्टहास किया जिसकी आवाज से सारा जगल गूँज उठा। गाँव में सोते हुए मनुष्यों की छातियाँ धडकने लगीं और हृदय दहल उठे पर इस भीषण अट्टहास का भगवान् महावीर के चित्त पर कुछ भी असर नहीं हुआ। वे निश्चल भाव से ध्यान मे मग्न रहे। अब शूलपाणि ने हाथी का रूप धारण कर भगवान् के शरीर पर दन्तप्रहार किए और पैरो से उन्हें रोंदा पर भगवान् महावीर को ध्यानच्युत नहीं कर सका। फिर यक्ष ने विकराल पिशाच बन कर तीक्ष्ण नख-दन्तो से उनका शरीर नोंच नोंच कर फाडा पर इस विक्रिया से भी महावीर ध्यान से विचलित नहीं हुए। पिशाच की विभीषिकाओं से कुछ नहीं बना तो शूलपाणि ने विषधर नाग बनकर उनके शरीर के अनेक भागों मे डक मारा पर महावीर के मन की थाह नहीं पाया।

अन्त मे शूलपाणि ने अपनी दिव्यशक्ति से उनके शरीर मे अनेक

वेदनायें उत्पन्न कीं और विशेष कर सिर, कान, आँख, नाक, दाँत, नख और पीठ इन सात अङ्गों मे। पर क्षमामूर्ति श्रमण महावीर इन सब वेदनाओं को धैर्य्यपूर्वक सहन करते रहे।

रात भर शूलपाणि ने महावीर को विविध कसौटियों पर कसा पर उन्होंने लेशमात्र भी रंग न बदला। फलस्वरूप देव ने अपनी पराजय स्वीकार की और जिस क्रूर प्रकृति से उसने महावीर का सामना किया था वह प्रकृति उसके हृदय में से सदा के लिये विलीन हो गई। वह शान्त होकर क्षमाशील महावीर के चरणों मे गिर पड़ा और अपराध की क्षमा प्रार्थना करता हुआ महावीर की धीरज और क्षमाशीलता के गीत गाने लगा।

उस दिन भगवान् ने पिछली रात मे एक मुहूर्त भर निद्रा ली जिसमें उन्होंने निम्नोक्त दस स्वप्न देखे—

(१) अपने हाथ से ताल पिशाच का मारना।
(२) अपनी सेवा करता हुआ श्वेतपक्षी।
(३) सेवा करता हुआ चित्र कोकिल पक्षी।
(४) सुगन्धित दो पुष्पमालाएँ।
(५) सेवा में उपस्थित गोवर्ग।
(६) पुष्पित-कमलोंवाला पद्म सरोवर।
(७) समुद्र का पार करना।
(८) उदीयमान सूर्य की किरणों का फैलना।
(९) अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत का लपेटना, और
(१०) मेरुपर्वत पर चढना।

रात्रि के समय में शूलपाणि के अट्टहास को सुनकर ग्रामवासियों ने देवार्य के मारे जाने का अनुमान किया और पिछली रात को जब यक्ष ने गीत गाये तो लोगों ने निश्चय कर लिया कि देवार्य को मार कर वह यक्ष खुशी मना रहा है।

अस्थिकग्राम में एक उत्पल नामक निमित्तवेत्ता विद्वान् रहता था जो किसी समय पार्श्वनाथ की परम्परा का जैन साधु था और बाद में गृहस्थ बनकर निमित्त ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

उत्पल ने जब सुना कि शूलपाणि के चैत्य मे ठहरे हुए देवार्य न
प्रव्रजित भगवान वर्धमान हैं तो उसे बडी चिन्ता हुई और अमग
कल्पनाओं में सारी रात पूरी कर सूर्योदय होते ही पूजक इन्द्रशर्मा अ
अन्य अनेक ग्राम के लोगों के साथ वह देवार्य का पता लेने शूलपा
के चैत्य मे गया। वहाँ पहुँचते ही उत्पल ने देखा कि महावीर के चरप
मे पुष्प गन्धादि द्रव्य चढे हुए हैं। इस दृश्य से उत्पल और ग्रामजन
हर्ष का पार नहीं रहा। हर्षावेश मे गगनभेदी नारे लगाते हुए वे स
भगवान् के चरणों मे गिर पडे और कृतज्ञता प्रकाश करते हुए बोले
'बहुत अच्छा हुआ जो देवार्य ने अपने दिव्य आत्मबल से क्रूर यक्ष क
शान्त कर दिया।'

भगवान् के स्वप्नों का फलादेश कहता हुआ उत्पल बोला–'भगवन्
पिछली रात को आपने जो स्वप्न देखे हैं उनका फल इस प्रकार होगा-

(१) आप मोहनीय कर्म का जल्दी नाश करेंगे।
(२) शुक्ल ध्यान आपका साथ न छोडेगा।
(३) आप विविध ज्ञानमय द्वादशाङ्ग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे।
(४) ?
(५) श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकात्मक सघ आपकी सेवा करेगा।
(६) चतुर्विध देवनिकाय आपकी सेवा मे उपस्थित होगा।
(७) ससार समुद्र को आप पार करेंगे।
(८) आपको केवलज्ञान उत्पन्न होगा।
(९) स्वर्ग मर्त्य और पाताल तक आपका निर्मल यश फैलेगा, और
(१०) सिंहासन पर बैठकर आप देव और मनुष्यों की सभा मे
धर्मप्रज्ञापना करेंगे। इस प्रकार आपके ९ स्वप्नों का फल तो मैंने
समझ लिया पर चौथे स्वप्न मे आपने जो सुगन्धित पुष्पमाला-युग्म
देखा उसका फल मेरी समझ में नहीं आया।'

चतुर्थ स्वप्न का फल बताते हुए भगवान ने कहा–'उत्पल! मेरे
चतुर्थ स्वप्नदर्शन का फल यह होगा कि सर्वविरति और देशविरतिरूप
द्विविध धर्म का मैं उपदेश करूँगा।'

यह प्रथम वर्षा-चातुर्मास्य भगवान् ने १५-१५ उपवास की आठ तपस्याओंसे पूर्ण किया।

मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने अस्थिकग्राम से वाचाला की तरफ विहार किया। बीच में मोराक सन्निवेश के उद्यान में कुछ समय तक ठहरे पर वहाँ पर इनके तप, ध्यान और ज्ञान की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई कि दिन भर वहाँ लोगों का मेला सा रहने लगा। ध्यानपरायण महावीर के लिये यह लोगों का जमघट असह्य हो गया। दूसरी तरफ वहाँ के रहनेवाले 'अच्छदक' नाम के पाषण्ड लोग भी, जो ज्योतिष निमित्त आदि से अपना निर्वाह चला रहे थे, महावीर की इस ख्याति और प्रशसा से जलते थे और महावीर को अन्यत्र जाने की प्रार्थना करते थे। इस परिस्थिति मे वहाँ अधिक रहना अनुचित समझ कर भगवान् आगे वाचाला की तरफ विहार कर गये।

२-दूसरा वर्ष
(वि० पू० ५११-५१०)

वाचाला नामक दो सनिवेश थे—एक उत्तर वाचाला और दूसरा दक्षिण वाचाला। दोनों सनिवेशों के बीच में सुवर्णवालुका तथा रूप्यवालुका नाम की दो नदियाँ बहती थीं। भगवान् महावीर दक्षिण वाचाला होकर उत्तर वाचाल को जा रहे थे तब उनका दीक्षाकालीन आधा देवदूष्य भी सुवर्णवालुका के तट पर गिर गया। भगवान् उसे वहीं छोड़कर आगे चले गये और बाद मे कभी वस्त्र ग्रहण नहीं किया।

उत्तर वाचाला के दो मार्ग थे—एक कनकखल आश्रमपद के भीतर होकर जाता था और दूसरा उसके बाहर से होकर। भीतरवाला मार्ग सीधा होने पर भी भयकर और उजडा हुआ था और बाहर का मार्ग लम्बा और टेढा होने पर भी निर्भय। भगवान् ने भीतर के मार्ग से प्रयाण किया भगवान् अभी थोडे ही कदम आगे बढे थे कि गोपालों ने उन्हे चेताया। वे बोले-'देवार्य! यह मार्ग निरापद नहीं है। इसमे एक अतिभयकर दृष्टिविष सर्प रहता है जो अपनी विषज्वालाओं से मुसाफिरों को जलाकर भस्म कर देता है। यही कारण है कि यह मार्ग सीधा होते हुए भी उजडा हुआ है। आप इसे छोडिये और बाहर के मार्ग से जाइये।

महावीर ने हितचिन्तकों की चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया

और उसी मार्ग से चलते हुए वे उस सर्प के बिल के समीप यक्ष के देवालय मे जाकर ध्यानारूढ़ हो गये।

सारा दिन आश्रमपद मे घूम-फिरकर सर्प जब अपने स्थान पर आया तो उसकी नजर ध्यानस्थित भगवान् के ऊपर पड़ी। वह चकित होकर सोचने लगा कि बहुत समय से निर्जन इस वन मे यह मनुष्य कैसे आ गया है? उसने अपनी विषमय दृष्टि उन पर फेंकी। साधारण मनुष्य एक ही दृष्टिनिपात से जलकर खाक हो जाता पर महावीर पर इसका कोई असर नहीं हुआ। दूसरी तीसरी बार भी सर्प ने अपनी विषपूर्ण दृष्टि महावीर पर फेंकी फिर भी उसका कोई फल नहीं हुआ।

अब सर्प के क्रोध का पार नहीं रहा। वह बड़े जोरो से उन पर झपटा और पॉव के अँगूठे मे काटा। मूर्च्छित देह उसके ऊपर न गिरे इस भय से एक ओर हट गया और स्थिरदृष्टि से उनके मुख के भाव देखने लगा। देर तक देखने के बाद उसने निश्चय किया कि इनकी शान्ति तथा स्थिरता मे कोई चलन नहीं हुआ।

सर्प ने दूसरी और तीसरी बार पूरी ताकत से आक्रमण किया पर परिणाम वही रहा जो पहले था। अब सर्प को निश्चय हो गया कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। वह स्थिरदृष्टि से भगवान के मुख की तरफ देखने लगा। ज्यो ज्यों वह उनकी मुखमुद्रा को निहारता था त्यों त्यों प्रशमरसपूर्ण भगवान् की दृष्टि मे चमकती हुई शान्ति और क्षमा की ज्योति से उसकी ऑखें चोंधिया रही थीं। इसी समय महावीर ने ध्यान समाप्त कर उसे सबोधित किया—"समझ! चण्डकौशिक समझ!!"

भगवान् के इस वचनामृत से सर्प का क्रूर हृदय पानी पानी हो गया। वह शान्त होकर सोचने लगा—'चण्डकौशिक यह नाम मैंने कहीं सुना हुआ है।' ऊहापोह करते करते उसको अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। किस प्रकार उसका जीव पूर्व के तीसरे भव मे इस आश्रमपद का 'चण्डकौशिक' नामक कुलपति था, किस प्रकार वह उद्यान को उजाड़नेवाले राजपुत्रों के पीछे दौड़ा, किस प्रकार दौड़ता हुआ गड्ढे मे गिर कर मरा और पूर्व संस्कार वश भवान्तर मे इस उद्यान मे सर्प की जाति मे उत्पन्न होकर इसका रक्षण करने लगा इत्यादि सब बातें उसको

याद आ गई। वह विनीत शिष्य की तरह भगवान् महावीर के चरणों में जा पड़ा और पाप का पश्चात्ताप करते हुए उसने अपने वर्तमान पापमय जीवन का अन्त करने के लिये अनशन कर लिया। भगवान् भी वहीं ध्यानारूढ रहे।

पन्द्रह दिन के अनशन के उपरान्त देह छोड कर चण्डकौशिक ने स्वर्ग प्राप्त किया और भगवान् ने आगे विहार किया। उत्तर वाचाला मे जाकर महावीर ने नागसेन के घर १५ उपवास का पारणा किया।

उत्तर वाचाला से भगवान् सेयविया की ओर गये। यहाँ पर राजा प्रदेशी ने आपका बहुत ही आदर-सत्कार किया।

सेयविया से भगवान् सुरभिपुर को जा रहे थे। मार्ग मे प्रदेशी राजा के पास जाते हुए पॉच नैयक राजा मिले। इन्होंने भगवान् का बडा आदर सत्कार किया।

सुरभिपुर और राजगृह के बीच मे गगा नदी पडती थी। भगवान् नाव पर चढे। दूसरे भी अनेक मुसाफिर नाव मे बैठे थे जिनमें खेमिल नामक एक नैमित्तिक भी था। नाव के आगे चलते ही दाहिनी तरफ मे घोर उलूकध्वनि हुई जिसे सुन कर खेमिल बोला—'यह बड़ा अपशकुन है। मालूम होता हे कि हम सब पर प्राणान्तक कष्ट आनेवाला है पर इन महात्मा पुरुष के प्रभाव से हम बाल-बाल बच जायेंगे।'

नाव का गगा के मध्यभाग मे पहुँचना ही था कि वहाँ एक बडा भारी बवडर आया। बॉसों पानी उछलने लगा। नाव हिलोरें खाने लगी और यात्रिजन अपने अपने इष्टदेवों और इष्टजनों को याद कर चिल्लाने लगे। बडी दिल दहलानेवाली घटना थी। सबके हृदय धडक रहे थे। पर इस उत्पात के समय भी भगवान् महावीर नाव के एक कोने में निश्चल भाव से बैठे हुए ध्यान मे मग्न थे।

कुछ समय के बाद तूफ़ान शान्त हुआ। नाव किनारे लगी। यात्री लोग नया जन्म मानते हुए नाव से जल्दी जल्दी उतरने लगे। भगवान् भी नाव से उतरे और गगा के पुलिन में चलते हुए थूणाक सनिवेश के परिसर मे जाकर ध्यानारूढ हो गये।

थोड़ी देर के बाद 'पुष्य' नामक एक सामुद्रिक शास्त्री उस रास्ते से

गुजरा और गंगा के पुलिन में पड़े हुए महावीर के पदचिह्नों को देख कर चकित हो गया और मन में सोचने लगा—'सचमुच आकार का मारा कोई चक्रवर्ती इस रास्ते से अकेला पैदल ही गया है। मैं जाकर उसकी सेवा करूँ ताकि भविष्य में जब इसे चक्रवर्ती पद मिले तो मेरे भी भाग्य खुल जायँ।' पुष्य भगवान की पदपंक्ति का अनुसरण करता हुआ थूणाक के परिसर में पहुँचा तो उसकी दृष्टि ध्यानावस्थित महावीर पर पड़ी। भगवान् को देखते ही वह निराश होकर बोला—'आज तक मैं समझता था कि सामुद्रिक शास्त्र सच्चा है पर अब मेरा विश्वास उठ गया। शास्त्र में कहा है कि ऐसे रेखाङ्कित पादतल जिसके हों वह अवश्य ही चक्रवर्ती होता है पर आज मैं अपनी आँखों से देख रहा हूँ कि ऐसी रेखाओंवाला मनुष्य भी भिक्षु बन कर वन वन भटक रहा है।'

पुष्य का शास्त्र से विश्वास उठ चुका था और शायद वह अपने ग्रन्थों को जलशरण भी कर देता पर इसी समय उसके सुनने में आया कि जिनके विषय में यह ऊहापोह कर रहा है वे कोई सामान्य भिक्षु नहीं हैं। ये भावी तीर्थंकर हैं जो चक्रवर्ती और स्वर्ग के इन्द्रों के भी पूजनीय हैं। तब वह शान्त हो गया।

थूणाक से विहार करते हुए महावीर राजगृह पहुँचे और नगर की बाहिरिका (उपनगर) नालन्दा में एक तन्तुवायशाला में जाकर वर्षावास किया। इसी तन्तुवायशाला में गोशालक नामक एक मंखजातीय युवा भिक्षु भी वर्षा चातुर्मास्य बिताने के लिये ठहरा हुआ था।

गोशालक का स्वीकार

इस चातुर्मास्य में भगवान् मासक्षपण के अन्त में आहार लेते थे। महावीर के इस तप, ध्यान और अन्य गुणों से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर का शिष्य होने का निश्चय कर लिया। वह भगवान् के पास आकर बोला—'भगवन्! मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ।' पर महावीर ने उसकी इस प्रार्थना का कोई उत्तर नहीं दिया।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन भिक्षाचर्या को जाते हुए गोशालक ने पूछा—'आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा?' भगवान् ने उत्तर दिया—'कोदों के तन्दुल, खट्टी छाछ और एक कूट रुपया।'

अच्छी बात है नहीं तो तन्दुलों को इसके ऊपर ही फेंककर चली आ।' दासी ने ऐसा ही किया।

ब्राह्मणगॉव से भगवान् और गोशालक चम्पानगरी गये और तीसरा वर्षावास चम्पा मे किया। इस चातुर्मास्य मे भगवान् ने दो दो मास-क्षपण की दो तपस्याएँ कीं और विचित्र आसनों से ध्यान किया। पहले क्षपण का पारणा चम्पा मे किया और दूसरे का चम्पा के बाहर। वहॉ से आपने कालायसनिवेश की तरफ विहार किया।

कालाय मे भगवान् ने एक खण्डहर मे वास किया और रात भर वहीं ध्यानारूढ़ रहे। कालाय से आप पत्तकालय पहुँचे और वहॉ भी खडहर मे ही ठहरे और रात भर ध्यानस्थित रहे। उक्त दोनों स्थानों मे गोशालक को अपने ओछेपन के कारण लोगो से मार खानी पडी।

४–चौथा वर्ष
(वि० पू० ५०९–५०८)

पत्तकालय से आपने कुमारासनिवेश की ओर विहार किया और चम्परमणीय उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान लगाया।

भिक्षा का समय होने पर गोशालक ने कहा—चलिये भगवन्, भिक्षा का समय हो गया है।

भगवान् ने कहा—'हमारा तो आज उपवास है।'

उस समय पार्श्वापत्य मुनिचन्द्र स्थविर कुमारा मे विचरते थे। आपका वास कुमारा के कूवणय कुम्हार की शाला मे था। गोशालक जब कुमारा मे गया तो उसे पार्श्वापत्य मुनि मिले। उन्हें देखकर गोशा-लक ने पूछा—तुम कौन हो?

पार्श्वापत्य– हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।

गोशालक – वाह रे निर्ग्रन्थ! इतना इतना ग्रन्थ पास मे रखते हुए भी तुम निर्ग्रन्थ? निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं जो तप और त्याग की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं।

पार्श्वापत्य – जैसा तू है वैसे ही स्वयगृहीत-लिंग तेरे धर्माचार्य भी होंगे।

गोशालक – तुम मेरे धर्माचार्य की निन्दा करते हो? मेरे धर्मा-चार्य के तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जलकर भस्म हो जाएगा।

पार्श्वापत्य – हम तुम्हारे जैसों के शाप से जलनेवाले नहीं।

देर तक पार्श्वापत्य अनगारों के साथ तकरार करके गोशालक अपने स्थान पर आया और बोला – भगवन्! आज तो मेरी सारम्भ और सपरिग्रह श्रमणों से भेंट हुई।

भगवान् ने कहा – वे पार्श्वापत्य अनगार हैं।

कुमारा से भगवान् गोशालक के साथ चोराक सन्निवेश गये। वहाँ आरक्षकों ने उनसे परिचय माँगा और उत्तर न मिलने पर उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और उन्हें काफी तग किया परतु दोनों मे से किसी ने भी अपने बचाव के लिए सफाई नहीं दी। यह बात जब सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं ने सुनी तो उन्होंने घटनास्थल पर पहुँचकर आरक्षकों को महावीर का परिचय दिया। तब आरक्षकों ने आपको आदर-सत्कारपूर्वक छोड दिया।

चोराक से भगवान् ने पृष्ठचम्पा की ओर विहार किया और चौथा वर्षावास पृष्ठचम्पा मे ही किया। इस वर्षावास मे आपने चातुर्मासिक तप और विचित्र आसनों से ध्यान किया। चातुर्मास्य समाप्त होने पर बाहर गाँव में तप का पारणा कर आपने कयगला की ओर विहार कर दिया।

कयगला मे 'दरिद्दथेर' नामधारी पाषडस्थ लोग रहते थे। वे सपत्नीक और सारभ परिग्रही थे। भगवान् ने उनके देवल मे एक रात व्यतीत की। उस दिन उनका धार्मिकोत्सव था इसलिए सन्ध्या होते ही सब स्त्री पुरुष देवल मे एकत्रित होकर बाजे गाजों के साथ गाते हुए उत्सव मनाने लगे।

५ पाँचवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०८–५०७)

कड़ाके का जाड़ा पड रहा था और उस पर यह धमाल! गोशालक परेशान हो गया। वह लाचारी से रात्रिजागरण करता हुआ उनकी इस धार्मिक प्रवृत्ति की निन्दा करने लगा। बोला – 'यह भी कोई धर्म है, जहाँ स्त्री पुरुष रात्रि मे गाते बजाते हैं?' अपने धर्म की निन्दा सुनकर लोगों ने उसे मदिर से निकाल दिया।

बाहर जाड़े से सिकुड़ कर बैठा हुआ गोशालक बोल रहा था – 'दुनिया

कर लिया। परन्तु विजया और प्रगल्भा नामक दो परिव्राजिकाओं ने तुरन्त घटनास्थल पर पहुँच कर राजपुरुषों का तिरस्कार कर कहा—'क्या तुम लोग सिद्धार्थ राजा के पुत्र, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को नहीं पहिचानते ? यदि यह बात इन्द्र तक पहुँचे तो तुम्हारी क्या दशा हो ?' यह सुन कर राज्याधिकारी कॉप उठे। उन्होंने अपनी इस अज्ञानजन्य भूल के लिए भगवान् से क्षमा प्रार्थना की। दयामूर्ति भगवान् महावीर ने मौन रह प्रार्थना स्वीकार की।

कूपिय से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया। गोशालक ने इस समय आपके साथ चलने से इन्कार कर दिया। उसने कहा—"आपके साथ रहते हुए मुझे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है परन्तु आप कुछ भी सहायता नहीं देते इसलिये अब मैं आपके साथ न चलूँगा। भगवान् शान्त रहे।

भगवान् क्रमश वैशाली पहुँचे और लोहे के कारखाने मे वास किया। दूसरे दिन एक लोहार जो छ महीने की लम्बी बीमारी से उठा था, कारखाने मे काम पर गया तो उसे पहले पहल भगवान् के दर्शन हुए। लोहार इस परममगल को भी अज्ञानवश अमगल मान कर हथौड़ा लेकर उन्हें मारने के लिए दौड़ा। परन्तु उसके हाथ पाँव एकदम स्तब्ध हो गए।

वैशाली से भगवान् ग्रामाक सनिवेश की ओर गये। ग्रामाक के उद्यानस्थित विभेलक यक्ष ने आपकी बहुत महिमा की।

ग्रामाक से आप शालिशीर्ष पधारे और उसके बाहर उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान लगाया।

माघ महीने की कडी सर्दी मे भगवान् खुले शरीर ध्यान कर रहे थे कि वहाँ कटपूतना नामक एक व्यन्तर देवी आई और भगवान् को देखते ही वह द्वेषवश जल उठी। क्षणभर में उसने परिव्राजिका का रूप धारण किया और बिखरी हुई जटाओं में पानी भरभर कर भगवान् के ऊपर छिडकने लगी और उनके कधों पर चढ कर धूनती हुई हवा करने लगी। इस भीषण और असाधारण उपसर्ग से भी भगवान् अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

कटपूतनाकृत घोर उपसर्ग को धीरज और क्षमापूर्वक सहते हुए भगवान् को 'लोकाऽवधि' ज्ञान उत्पन्न हुआ और उससे आप लोकवर्ती समस्त रूपी द्रव्यों को हस्तामलकवत् जानने और देखने लगे। अन्त मे महावीर की धीरज और क्षमाशीलता के आगे कटपूतना ने अपनी हार मानी और क्रोध को शान्त कर भगवान् की पूजा की।

शालिशीर्ष से भगवान् ने भद्दियानगरी की तरफ विहार किया और छठा वर्षावास आपने भद्दिया में ही किया।

गोशालक भी छ महीने तक अकेला घूम-फिरकर शालिशीर्ष मे आकर फिर भगवान् के साथ मिल गया। भद्दिया के इस चातुर्मास्य मे भी आपने चातुर्मासिक तप और विविध योगासन तथा योगक्रियाओं की साधना की। चातुर्मास्य समाप्त होने पर आपने भद्दिया के बाहर चातुर्मासिक तप का पारणा किया और वहाँ से मगध भूमि की ओर विहार किया।

७-सातवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०६-५०५)

इस वर्ष शीत और उष्णकाल मे भगवान मगधभूमि मे ही विचरे और वर्षाकाल निकट आने पर आप आलभिया पधारे और सातवाँ वर्षावास आलभियानगरी में किया।

आलभिया के वर्षावास मे भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध योगक्रियाओं की साधना की। चातुर्मास्य के अन्त मे भगवान् ने नगर के बाहर जाकर तप का पारणा किया और वहाँ से कुडाकसंनिवेश की ओर विहार किया।

८-आठवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०५-५०४)

कुछ समय तक भगवान् कुडाक के वासुदेव के मंदिर मे रहे और वहाँ से विहार कर मद्दनासंनिवेश जाकर बलदेव के मंदिर मे ध्यान किया। मद्दना से आप बहुसाल होते हुए लोहार्गला राजधानी पधारे। लोहार्गला के राजा जितशत्रु पर उन दिनों शत्रुओं की वक्रदृष्टि होने से राजपुरुष बहुत सतर्क रहते थे। कोई व्यक्ति अपना परिचय दिए विना नगरी मे प्रवेश नहीं कर सकता था। महावीर और गोशालक के वहाँ

जाते ही पहरेदारों ने उन्हें रोक कर परिचय माँगा पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। फलस्वरूप उनको गिरफ्तार कर राजा के पास ले गए।

जिस समय महावीर और गोशालक राजसभा में लाये गये उस समय वहाँ अस्थिकग्रामवासी नैमित्तिक उत्पल भी उपस्थित था। भगवान् को देखते ही वह खड़ा हो गया और वन्दन करके बोला—'ये गुप्तचर नहीं, राजा सिद्धार्थ के पुत्र धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर हैं। चक्रवर्ती के लक्षणों को भी मात करने वाले इनके शारीरिक लक्षणों को तो देखिये।' उत्पल द्वारा परिचय पाते ही जितशत्रु ने भगवान् और गोशालक को सत्कारपूर्वक मुक्त करके उनसे क्षमा प्रार्थना की।

लोहार्गला से भगवान् ने पुरिमताल की ओर विहार किया और नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में कुछ समय तक ध्यान किया। यहाँ आपका 'वग्गुर श्रावक' ने सत्कार किया। पुरिमताल से उन्नाग, गोभूमि होते हुए आप राजगृह पधारे और आठवाँ वर्षावास राजगृह में किया। इस वर्षावास में भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध योग-क्रियाओं की साधना की। चातुर्मास्य के समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृह से विहार किया और बाहर जाकर तप का पारणा किया।

९—नवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०४–५०३)

भगवान् ने सोचा—'अभी मुझे बहुत कर्म खपाने बाकी हैं इस लिए अनार्य देश में विहार कर सहायकों द्वारा विशेष निर्जरा कर दूँ।' यह विचार कर आपने राढ के वज्रभूमि और शुद्धभूमि जैसे अनार्य प्रदेशों में परिभ्रमण आरम्भ किया।

अनार्य देश में विचरने का परिणाम भगवान् अच्छी तरह जानते थे। वास्तव में उसे भोगने के लिए ही आपने यह मार्ग ग्रहण किया था।

अनार्यों की दृष्टि में मानो महावीर उनके शिकार की वस्तु थे। जहाँ भी वे इन्हें देखते चारों ओर से घेर लेते, इन पर शिकारी कुत्ते छोड़ते, लाठी-पत्थरों से पीटते और गालियों की बौछारें करते। इस प्रकार की अनेक कदर्थनायें अनार्यों द्वारा की जातीं, पर मेरुधीर भगवान् महावीर पर उनका कुछ असर नहीं होता था। इन विडम्बनाकारी अनार्यों के ऊपर भगवान् लेशमात्र भी दुर्भाव नहीं लाते थे। वरन् अपने कर्मों

की विशेष निर्जरा होती देख आप आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इस प्रकार आप अपने आचरणों से ही अनार्यों को क्षमाशीलता का पाठ पढा रहे थे।

इस अनार्यभूमि मे भगवान् को वर्षावास के लिए मकान तक नहीं मिला। फलस्वरूप यह नवॉ वर्षा चातुर्मास्य आपने घूमते फिरते ही पूरा किया।

छ महीने तक अनार्यभूमि मे भ्रमण कर वर्षाकाल के अनन्तर भगवान् आर्यभूमि मे लौटे।

१०-दसवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०३-५०२)

अनार्यभूमि से निकलकर भगवान् और गोशालक सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जा रहे थे। मार्ग पर सात फूलोंवाले एक तिल-क्षुप को देखकर गोशालक ने पूछा—'भगवन्! क्या यह तिल क्षुप निपजेगा?'

भगवान् ने उत्तर दिया—'हॉ, निपजेगा और इन सातों ही फूलों के जीव एक फली मे सात तिल होंगे। यह सुनकर गोशालक ने उस तिल स्तम्ब को वहॉ से उखाड कर फेंक दिया।

कूर्मग्राम के बाहर वैश्यायन नामक एक तापस जिसने प्राणायामा दीक्षा अंगीकार की हुई थी, धूप मे औंधे मस्तक लटकता हुआ तप कर रहा था। धूप से आकुल होकर उसकी जटाओं मे से जूँएँ गिर रही थीं और वैश्यायन उन्हें पकड पकड अपनी जटाओं मे डाल रहा था। गोशालक यह दृश्य देखकर बोला—'भगवन्! यह जूँओं को स्थान देनेवाला कोई मुनि है या पिशाच?'

गोशालक ने बार बार उक्त आक्षेप किया। आक्षेप को सुनकर वैश्यायन ने क्रुद्ध होकर अपनी तेजोलेश्या उस पर छोडी। परतु उसी क्षण भगवान् ने शीतलेश्या छोडकर गोशालक को बचा लिया। उस समय वैश्यायन बोला—'बीत गई भगवन्! बात बीत गई।'

गोशालक वैश्यायन के सकेत को समझ नहीं सका, वह बोला—'भगवन्! यह यूका-शय्यातर क्या कह रहा है?'

भगवान् ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—इसने तेरे पर अपनी तेज. शक्ति का प्रयोग किया था पर मेरी शीतलेश्या के प्रयोग से तू बच गया।

यह देख कर तापस कह रहा है—यदि मैं पहले जानता कि यह आपका शिष्य है तो मैं ऐसा कभी न करता पर अनजानपन मे यह हो गया।

तेजोलेश्या की बात सुनकर गोशालक भयभीत हो गया और बोला—भगवन्! यह तेजोलेश्या कैसे प्रकट होती है? तेजोलेश्या की प्राप्ति का उपाय समझाते हुए भगवान् ने कहा—जो मनुष्य छ महीनों तक निरन्तर छट्ठ तप के साथ सूर्य के सामने दृष्टि रखकर खड़ा-खड़ा आतापना करता है और उबाले हुए मुट्ठिभर उरद तथा चुल्लू भर गरम पानी से पारणा करता है, उस तपस्वी को थोडी बहुत तेजोलेश्या उत्पन्न होती है।

कुछ समय के बाद भगवान ने फिर सिद्धार्थपुर की तरफ विहार किया। जब वे तिलवाली जगह पहुँचे तो गोशालक बोला—देखिये भगवन्! वह तिलस्तम्ब नहीं निपजा जिसके निपजने की आपने भविष्यवाणी की थी। अन्य स्थान पर लगे हुए उस तिलस्तम्ब को बतलाते हुए भगवान् ने कहा—देख, यही है वह तिलस्तम्ब जिसे तूने उखाड फेंका था।

गोशालक को विश्वास न हुआ। वह तिलस्तम्ब के पास गया और फली तोडकर उसे फोड कर देखा तो उसमे से सात ही तिल निकले। इस घटना से गोशालक नियतिवाद के सिद्धान्त की तरफ आकृष्ट होकर बोला—'इसी प्रकार सभी जीव मर कर फिर अपनी ही योनि मे उत्पन्न होते हैं।'

अब तक की अनेक घटनाओं से गोशालक नियतिवाद का पक्का समर्थक बन चुका था, अत भगवान् से जुदा होकर वह श्रावस्ती गया और आजीविक मत की उपासिका कुम्हारिन हालाहला की भाण्डशाला मे रहकर तेजोलेश्या की साधना करने लगा।

भगवान् की कही हुई विधि के अनुसार छ मास तक तप और आतापना करके गोशालक ने तेज शक्ति प्राप्त करली और परीक्षा के तौर पर उसका पहला प्रयोग कुँए पर पानी भरती हुई एक दासी पर किया।

तेजोलेश्या प्राप्त करने के उपरान्त गोशालक ने छ दिशाचरों से निमित्तशास्त्र का कुछ अंश पढा जिससे वह सुख, दुख, लाभ, हानि, जीवित और मरण इन छ बातों में सिद्धवचन नैमित्तिक बन गया।

तेजोलेश्या और निमित्तज्ञान जैसी असाधारण शक्तियों ने गोशालक का महत्त्व बहुत बढा दिया। प्रतिदिन उसके भक्त और अनुयायियों की सख्या बढने लगी। साधारण भिक्षु गोशालक अब एक आचार्य की कोटि मे पहुँच गया और आजीविक सम्प्रदाय का तीर्थंकर बनकर विचरने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। एक दिन वैशाली के बाहर आप कायोत्सर्ग ध्यान मे खडे थे। उस समय नगर के बालक खेलते खेलते वहाँ आए और पिशाच समझ कर आपको सताने लगे। इसी समय राजा सिद्धार्थ का मित्र गणराज शख भी अकस्मात् वहाँ पहुँच गया। उसने बालकों को वहाँ से भगाया और स्वय भगवान् के चरणों मे गिरकर क्षमा याचना की।

वैशाली से आपने वाणिज्यग्राम के लिये प्रयाण किया। वैशाली और वाणिज्यग्राम के बीच गडकी नदी पडती थी। भगवान् ने उसे नाव द्वारा पार किया। पार पहुँचने पर नाविक ने किराया माँगा और उत्तर न मिलने पर आपको वहीं रोक रक्खा। उसी समय शखराज का भानजा 'चित्र' जो राजदूत बनकर कहीं जा रहा था, वहाँ पहुँच गया और उसने भगवान् को छुडाया।

वाणिज्यग्राम जाकर भगवान् नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में ठहरे। वाणिज्यग्राम मे आनन्द नामक एक श्रमणोपासक रहता था। निरन्तर छठ तप और आतापना कर आनन्द को उन दिनों अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था। भगवान् का आगमन जानकर वह बाहर गया और वन्दन करके बोला—'भगवन्! अब आपको थोड़े समय मे ही केवल ज्ञान उत्पन्न होगा।'

वाणिज्यग्राम से विचरते हुए भगवान् श्रावस्ती पधारे और दसवाँ वर्षावास श्रावस्ती में किया। वहाँ भी भगवान् ने विचित्र तप और योगक्रियाओं की साधना की।

वर्षा चातुर्मास्य समाप्त होने के अनन्तर भगवान् ने श्रावस्ती से सानुलट्ठिय सनिवेश की तरफ विहार किया और सानुलट्ठिय मे आपने निरन्तर सोलह उपवास

११—ग्यारहवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०२-५०१)

के साथ खडे रह कर ध्यान करते हुए भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र प्रतिमाओं का आराधन किया ।

तप की समाप्ति पर भिक्षाटन करते हुए आप पूर्वोक्त आनन्द गाथापति के घर गये । आनन्द की बहुला नामक दासी रसोई के वरतन धोकर वचा खुचा अन्न फेंक रही थी कि इतने में भगवान् पहुँचे । दासी ने पूछा—'क्या काम है, महाराज !' इस पर भगवान् ने अपने दोनों हाथ पसारे । दासी ने भक्तिपूर्वक वह अन्न आपके हाथों मे रख दिया ।

सानुलट्ठिय से भगवान् ने दृढभूमि की तरफ विहार किया और उसके बाहर पेढाल-उद्यानस्थित पोलास चैत्य मे जाकर अट्ठम तप कर रातभर एक अचित्त पुद्गल पर निर्निमेष दृष्टि से ध्यान किया । भगवान् के इस निश्चल और निर्निमेष ध्यान को देख कर स्वर्ग मे इन्द्र ने प्रशंसा करते हुए कहा—'ध्यान और धैर्य मे भगवान् वर्धमान का कोई सानी नहीं । मनुष्य तो क्या देव भी भगवान को इस निश्चलता से डिगा नहीं सकता ।'

इन्द्र की यह प्रशसा सगमक नामक देव से सहन न हुई । वह उठ कर बोला—'आप जिस मनुष्य की यह प्रशसा कर रहे हैं, वास्तव मे वह इसके योग्य नहीं हो सकता । कैसा भा मनुष्य क्यों न हो उसमे इतनी क्षमता हो ही नहीं सकती कि वह एक देव के आगे टिक सके । आप देखिए । मैं अभी जाकर उसे ध्यानच्युत किए देता हूँ ।' यह प्रतिज्ञा कर सगमक ने पोलास चैत्य मे जाकर भगवान् को ध्यान से विचलित करने के लिए रात को विविध प्रकार के कष्टदायक बीस उपसर्ग किये पर भगवान् का हृदय तिलमात्र भी क्षुब्ध नहीं हुआ ।

पोलास चैत्य से चल कर भगवान् ने नालुका, सुभोग, सुच्छेत्ता, मलय और हत्थिसीस आदि स्थानों में भ्रमण किया और इन सभी ग्रामों में सगमक ने तरह तरह के उपसर्ग किये ।

एक समय भगवान् तोसलिगाँव के उद्यान मे ध्यानारूढ थे । सगमक साधुरूप धारण कर गाँव मे गया और एक मकान मे सेंध लगाने लगा । लोगों ने चोर समझ कर पकड़ा और मारने लगे तो वह बोला—

'मुझे मत मारो। मैं तो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला हूँ। उन्होंने मुझे इस काम के लिए भेजा है।'

लोगों ने पूछा—'कहाँ है रे तेरा गुरु ?'।

उसने कहा—'वे उद्यान मे ठहरे हुए हैं।'

लोग उसके साथ उद्यान में गये तो भगवान् को ध्यान मे खड़े देखा। अज्ञानी नागरिकों ने चोर समझ कर भगवान् पर हमला किया और बाँध कर नगर मे ले जाने ही लगे थे कि भूतिलनामक एक इन्द्रजालिक वहाँ आ पहुँचा। उसने आपका परिचय देकर आपको ग्रामीणों से छुड़ाया। अब लोगों ने उस साधुवेषधारी की तलाश की। पर उसका कहीं पता नहीं चला तब ग्रामवालों को पूरा विश्वास हुआ कि इसमें कुछ रहस्य अवश्य है।

तोसलि से भगवान् मोसलि पधारे और उद्यान मे ध्यानारूढ हुए। यहाँ भी संगमक ने आप पर चोर होने का अभियोग लगवाया जिससे आप पकड़े जाकर राजा के पास ले जाये गये। राजसभा मे राजा सिद्धार्थ का मित्र सुमागध नामक राष्ट्रिय बैठा हुआ था। भगवान् को देखते ही वह उठा और राजा से भगवान् का परिचय कराकर उन्हें बन्धन मुक्त करवाया।

फिर आप तोसलि जाकर उद्यान मे ध्यानारूढ हुए। इस समय संगमक ने आपके पास चोरी के औजार रख दिये। इन औजारों को देखकर लोगों ने आपको चोर के सदेह मे पकड लिया और तोसलि क्षत्रिय के पास ले गये। क्षत्रिय ने आपसे कई प्रश्न पूछे और परिचय माँगा पर आपने कोई उत्तर नहीं दिया और न ही अपना परिचय दिया। इस पर तोसलि क्षत्रिय और उसके सलाहकारों को विश्वास हो गया कि अवश्य ही यह कोई छद्मवेशधारी चोर है। उन्होंने आपको फाँसी का हुक्म दे दिया। अधिकारियों ने आपको फाँसी के तख्ते पर चढा दिया और तुरन्त गले मे फाँसी का फंदा लगाया पर तख्ता हटाते ही फाँसी टूट गई। दुबारा लगाई। फिर टूट गई। इस तरह सात बार आपके गले में फाँसी डाली गई और सात ही बार टूट गई। इस घटना से कर्मचारी

चकित हुए और क्षत्रिय से सब हकीकत बयान की जिसे सुनकर राजा तोसलि क्षत्रिय ने आपको आदर सत्कारपूर्वक मुक्त कर दिया।

तोसलि से भगवान् सिद्धार्थपुर गये और यहाँ भी चोर के संदेह मे पकड लिए गये पर कौशिक नामक एक घोडों के व्यापारी के परिचय देने पर आपको छोड दिया गया। सिद्धार्थपुर से भगवान् व्रजग्राम (गोकुल) पहुँचे।

व्रजगॉव मे उस दिन कोई त्योहार था। घर घर क्षीरान्न बना था। भगवान् भिक्षाचर्या के लिये निकले पर संगमक वहाँ भी पहुँच गया और आहार को अनेषणीय करने लगा। भगवान् ने संगमक की हरकत को जान लिया और वे तुरत गॉव से बाहर चले गये।

संगमक को आए करीब छ महीने होने आये थे। भगवान् को ध्यानच्युत करने के लिये वह अगणित विघ्न कर चुका था पर उन्हें विचलित करने मे वह सफल नहीं हो सका। अब वह अवधिज्ञान से भगवान् की मानसिक वृत्तियों की परीक्षा करने लगा। उसने देखा कि महावीर के मनोभाव पहले से भी अधिक दृढ हैं। उसने अपनी हार मानी और बोला—'भगवन्! इन्द्र ने आपके संबन्ध मे जो कहा था वह अक्षरश सत्य है। भगवन्, आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और मैं भग्नप्रतिज्ञ। आप भिक्षा के लिये जाइये। अब मैं कुछ भी विघ्न नहीं डालूँगा।'

संगमक के ये वचन सुनकर भगवान् महावीर ने कहा–'संगमक' मैं किसी के कथन की अपेक्षा नहीं रखता। मैं तो अपनी ही इच्छा के अनुसार चलता हूँ।'

भगवान् के धैर्य्य से हार मानकर संगमक वहॉ से चला गया। दूसरे दिन भगवान् उसी व्रजगॉव मे भिक्षाचर्या करने के लिए गये। पूरे छ महीनों के बाद आपने एक बुढिया ग्वालिन के हाथ से क्षीरान्न का भोजन किया।

व्रजगॉव से भगवान् ने श्रावस्ती की तरफ विहार किया। आलभिया, सेयविया आदि प्रसिद्ध नगरों से होते हुए श्रावस्ती पहुँचे और नगर के उद्यान मे ध्यानारूढ हुए।

उन दिनों श्रावस्ती में स्कन्द का उत्सव चल रहा था। लोग उत्सव

मे इतने व्यस्त थे कि भगवान् की तरफ किसीने लक्ष्य ही नहीं दिया। सारा गाँव स्कन्द के मंदिर के पास एकत्र हो रहा था। भक्तजन देव-मूर्ति को वस्त्रालकारों से सजाकर रथ मे बिठाने जा रहे थे कि मूर्ति स्वय चलने लगी। भक्तों के आनन्द का पार न रहा। वे समझे कि देव स्वय रथ मे बैठने जा रहे हैं। हर्ष के नारे लगाते हुए सब लोग मूर्ति के पीछे पीछे चले। मूर्ति उद्यान मे पहुँची और भगवान् के चरणों मे गिर पडी। लोगों ने हर्षनाद किया और देवाधिदेव मान कर महावीर का बहुमान और महिमा की।

श्रावस्ती से कोशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला आदि नगरों मे घूमते हुए भगवान् वैशाली पधारे और ग्यारहवाँ वर्षावास वैशाली मे किया।

वैशाली के वाहर काममहावन नामक उद्यान और इसी नाम का एक चैत्य था। भगवान् चातुर्मासिक तप कर उसी कामवन चैत्य मे ठहरे।

वैशाली का भूतपूर्व नगरसेठ प्रतिदिन भगवान् को वन्दन करने जाता और आहार-पानी के लिये प्रार्थना करता था परन्तु भगवान् बस्ती मे नहीं जाते थे। सेठ ने सोचा भगवान् का मासिक तप होगा। महीना पूरा होने पर पधारेंगे। मास की समाप्ति पर उसने विशेष प्रार्थना की पर भगवान् नहीं पधारे। तब सेठ ने द्विमासक्षपण की कल्पना की और दूसरे मास के अन्त मे त्रिमासिक की। भगवान् तीसरे महीने की समाप्ति पर भी भिक्षाचर्या के लिए नहीं निकले। तब उसने निश्चय किया कि आपने चतुर्मासक्षपण किया है। चातुर्मास्य के अन्त में उसने आग्रह और विनयपूर्वक प्रार्थना की और घर जाकर भगवान् की राह देखने लगा। मध्याह्न समय हुआ तब भगवान् भिक्षा के लिये कामवन से निकले और पिण्डैषणा (भिक्षाचर्या) के नियमानुसार बस्ती में फिरते हुए आपने एक गृहस्थ के घर में प्रवेश किया। भगवान् को देख कर गृहस्वामी ने दासी से सकेत किया—जो कुछ तैयार हो, इन्हें दे दो। दासी ने जो कुछ रूखा-सूखा हाथ लगा वह लाकर भगवान् के हाथों मे रख दिया। भगवान ने उसी से चातुर्मासिक तप का पारणा किया। वृद्ध भक्त सेठ ने जब सुना कि भगवान् ने अन्यत्र पारणा

कर लिया है तो वह बहुत निराश हुआ और पूरण सेठ के, जिसके यहाँ भगवान् ने आहार किया था, भाग्य की प्रशंसा की।

चातुर्मास्य पूरा होने पर भगवान् ने वैशाली से सूसुमारपुर की तरफ विहार किया।

सूसुमारपुर के परिसर में आप अशोक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मे खडे थे। यहीं पर चमरेन्द्र ने इन्द्र के वज्र प्रहार से भयभीत होकर आपके चरणों मे शरण ली। यहाँ से भगवान् भोगपुर तथा नन्दी-ग्राम होते हुए मेढियगॉव पधारे। यहाँ भी एक गोप ने आपको उपसर्ग करने की निष्फल चेष्टा की।

१२–बारहवा वर्ष
(वि० पू० ५०१–५००)

मेंढिय से आप कोशाम्बी पधारे और पौष-कृष्ण प्रतिपद् के दिन भिक्षाविषयक यह घोर अभिग्रह किया—"मुण्डितसिर, पॉवों मे बेडियों सहित, तीन दिन की भूखी, राधे हुए उरद के बाकुले सूप के कोने में लेकर भिक्षा का समय बीत चुकने पर द्वार के बीच मे खडी हुई तथा दासत्व को प्राप्त हुई यदि कोई राजकुमारी भिक्षा देगी तो ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।"

उक्त प्रतिज्ञा करके भगवान् प्रति दिन कोशाम्बी मे भिक्षाटन के लिए जाते परन्तु कहीं भी अभिग्रह पूर्ण नहीं होता था। इस प्रकार आपको घूमते २ चार महीने बीत गये पर अभिग्रह पूरा न हुआ।

एक दिन आप कोशाम्बी के अमात्य सुगुप्त के घर पधारे। अमात्य-पत्नी नन्दा श्राविका भक्तिपूर्वक भिक्षान्न देने आई पर भगवान् कुछ लिए बिना ही चले आए। नन्दा पछताने लगी। तब दासियों ने कहा—'ये देवार्य तो प्रति दिन यहाँ आते हैं और कुछ भी लिए बिना चले जाते हैं।' तब से नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् को कोई दुर्गम अभिग्रह है जिससे आप आहार नहीं लेते। नन्दा बहुत चिन्तित हुई।

जब अमात्य घर आया तो नन्दा को उदासीन देखा। उसने पूछा—'क्या बात है? चिन्तित सी दीख रही हो।'

नन्दा ने कहा—'हमारा यह अमात्यपन किस काम का जब कि

इतना समय होने पर भी भगवान् भिक्षा नही पाते ? और आपका यह चातुर्य भी किस काम का जो उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सकते ?'

आश्वासन देता हुआ सुगुप्त बोला—तुम चिन्ता मत करो। अब ऐसा उपाय करूँगा कि वे कल ही भोजन ग्रहण कर लेंगे।

जिस समय भगवान् के अभिग्रह के विषय में बातें हो रही थीं उस समय प्रतिहारी विजया वहीं खडी थी। उसने सब बातें सुन लीं और महल मे जाकर रानी मृगावती से निवेदन किया। रानी भी इस घटना से बहुत आकुल हुई और राजा को उलाहना देती हुई बोली—'आपके राज्य की और मेरे रानीपन की क्या सार्थकता हुई जब कि भगवान् महावीर महीनों से राजधानी मे घूमते हैं पर उनके अभिग्रह का पता नहीं लगाया जाता ? आज तक किसी ने यह नहीं सोचा कि ये आहार ग्रहण क्यों नहीं करते।'

राजा शतानीक ने रानी को आश्वासन दिया और अपने सभा पण्डित तथ्यवादी को बुला कर कहा—'महाशय ! तुम्हारे धर्मशास्त्रों में जो जो आचार वर्णित हों उनका निरूपण करो।'

सुगुप्त की तरफ इशारा कर शतानीक बोला—'तुम भी तो बुद्धिमान् हो। जानते हो तो कहो।'

उन्होंने कहा—'अभिग्रह अनेक प्रकार के होते हैं पर यह कैसे जाना जाय कि किसके मन का क्या अभिप्राय है ?' उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावविषयक अभिग्रह तथा सात पिण्डैषणा पानैषणाओं का निरूपण कर साधुओं के आहार-पानी लेने देने की रीतियों का वर्णन किया। राजा ने प्रजाजनो को इन बातों की जानकारी कराई और भगवान् के आने पर इन रीतियों से आहार पानी देने की सूचना की। लोगों ने सावधानी से उनका पालन किया। परन्तु भगवान् को भिक्षा देने में कोई सफल नहीं हो सका।

भगवान् के अभिग्रह को पाँच महीने हो चुके थे और छठा महीना पूरा होने मे सिर्फ पॉच दिन शेष रह गये थे। भगवान् नियमानुसार इस दिन भी कोशाम्बी मे भिक्षा चर्या के लिए निकले और फिरते हुए

सेठ धनावह के घर पहुँचे। यहाँ आपका अभिग्रह पूर्ण हुआ और आपने चन्दना नामक राजकुमारी के हाथों भिक्षा ग्रहण की।

कोशाम्बी से सुमगल, सुच्छेता, पालक आदि गाँवों में होते हुए भगवान् चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप कर वहीं स्वातिदत्त ब्राह्मण की यज्ञशाला मे वर्षावास किया।

यहाँ पर भगवान् के तप साधन से आकृष्ट होकर पूर्णभद्र और माणिभद्र नामक दो यक्ष रात्रि के समय आकर आपकी पूजा करने लगे। स्वातिदत्त को जब इस बात का पता चला तो वह भगवान् से धर्म चर्चा करने आया और बोला—महाराज! 'आत्मा' क्या वस्तु है?

महावीर—जो 'मैं' शब्द का वाच्यार्थ है वही आत्मा है अर्थात् मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि वाक्यों मे 'मैं' शब्द से जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वही 'आत्मा' है।

स्वातिदत्त—आत्मा का क्या स्वरूप है? उसका क्या लक्षण है?

महावीर—आत्मा अति सूक्ष्म और रूपातीत है। इसका लक्षण 'चेतना' है।

स्वातिदत्त—सूक्ष्म का अर्थ क्या है?

महावीर—जो इन्द्रियों से न जाना जाय।

स्वातिदत्त—शब्द, गन्ध और वायु ऐसे माने जा सकते हैं?

महावीर—नहीं, शब्द श्रोत्रग्राह्य है, गन्ध नासिका का विषय है और वायु का स्पर्शेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। जो किसी भी इन्द्रिय का विषय न हो वह 'सूक्ष्म' है।

स्वातिदत्त—तो क्या 'ज्ञान' का नाम आत्मा है?

महावीर—'ज्ञान' आत्मा का असाधारण गुण है। जिसमे यह ज्ञान हो वह 'ज्ञानी' आत्मा कहलाता है।

स्वातिदत्त—महाराज! 'प्रदेशन' का क्या अर्थ है?

महावीर—'प्रदेशन' का अर्थ है उपदेश और वह दो प्रकार का है—धार्मिक प्रदेशन और अधार्मिक प्रदेशन।

स्वातिदत्त—महाराज! 'प्रत्याख्यान' किसे कहते हैं?

महावीर—प्रत्याख्यान का अर्थ है निषेध। प्रत्याख्यान भी दो प्रकार

का है—मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान। आत्मा के स्व सत्यवादिता आदि मूल—स्वाभाविक गुणों की रक्षा तथा हिंसा, मृ वादिता आदि वैभाविक प्रवृत्तियों का त्याग मूलगुणप्रत्याख्यान है अ मूलगुणों के सहायक सदाचार के प्रतिकूल वर्तन के त्याग का नाम उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

उक्त प्रश्नोत्तरों से स्वातिदत्त को विश्वास हो गया कि देवार्य को तपस्वी ही नहीं ज्ञानी भी हैं।

चातुर्मास्य के बाद भगवान् विचरते हुए जभियगाँव मे पधारे।

जभियगाँव मे कुछ समय ठहर कर भगवान् वहाँ से मिंढिय होते हुए छम्माणि गये और गाँव के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान किया। सन्ध्या के समय एक ग्वाला भगवान् के समीप बैल छोड कर गाँव मे चला गया और जब वह वापस लौटा तो उसे बैल वहाँ नहीं मिले।

१३-तेरहवाँ वर्ष
(वि० पू० ५००-४९९)

उसने भगवान् से पूछा—'देवार्य! मेरे बैल कहाँ हैं?' भगवान् मौन रहे। इस पर उस ग्वाले ने क्रुद्ध होकर भगवान् के दोनों कानों मे काठ के कीले ठोक दिए।

छम्माणि से भगवान मध्यमा पधारे और भिक्षाचर्या मे फिरते हुए सिद्धार्थ वणिक के घर गये। सिद्धार्थ अपने मित्र खरक वैद्य से बातें कर रहा था। भगवान् को देख कर वह उठा और आदरपूर्वक वन्दन किया।

उस समय भगवान् को देख कर खरक बोला—भगवान् का शरीर सर्वलक्षण सपन्न होते हुए भी सशल्य है।

सिद्धार्थ ने कहा—मित्र भगवान् के शरीर मे कहाँ क्या शल्य है? जरा देखो तो सही।

देख कर खरक ने कहा—यह देखो, भगवान् के कानो मे किसीने कटशलाकायें ठोंक दी हैं।

सिद्धार्थ—देवानुप्रिय! शलाकायें जल्दी निकाल डालो। महातपस्वी को आरोग्य पहुँचाने से हमे बडा पुण्य होगा।

वैद्य और वणिक शलाका निकालने के लिए तैयार हुए पर भगवान् ने स्वीकृति नहीं दी और आप वहाँ से चल दिये।

भगवान् के स्थान का पता लगा कर सिद्धार्थ और खरक औषध तथा आदमियों को साथ लेकर उद्यान मे गये और भगवान् को तैल-द्रोणी मे बिठाकर तेल की मालिश करवाई। फिर अनेक मनुष्यों से पकड़वा कर कानों मे से कटशलाकायें खींच निकलवाई। शलाका निकालते समय भगवान् के मुख से एक भीषण चीख निकल पड़ी।

इस प्रकार विषम उपसर्ग तथा घोर परीषहों को सहते हुए और विविध तप-ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते हुए दृढ प्रतिज्ञ वीर भगवान् ने साढे बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक कठिन साधना की और क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे कषायों के ह्रास से आप मे क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष प्रभृति आत्मिक गुणों का विकास हुआ। आपका व्यक्तित्व लोकोत्तर और जीवन स्फटिकमणि सा निर्मल हो गया।

इस दीर्घकालीन विहारचर्या मे भगवान् ने जो जो घोर तपश्चर्यायें कीं उनकी तालिका इस प्रकार है—

१ षाण्मासिक।
१ पाँच दिन कम षाण्मासिक।
९ चातुर्मासिक।
२ त्रिमासिक।
२ सार्ध द्विमासिक।
६ द्विमासिक।
२ सार्ध मासिक।
१२ मासिक।
७२ पाक्षिक।
१ सोलह उपवास।
१२ अष्टम भक्त।
२२९ षष्ठ भक्त।

इसके अतिरिक्त दशम भक्त आदि तपश्चर्यायें भी भगवान् ने की थीं ऐसा आचाराङ्ग सूत्र से ज्ञात होता है।

उक्त तपश्चर्याओं के सधि दिन (भोजन दिन) ३४९ होते हैं अर्थात् उक्त साढ़े बारह वर्ष के दीर्घकाल मे भगवान् ने केवल ३४९ दिन ही भोजन किया था और सभी उपवास निर्जल ही किए थे।

मध्यमा के उद्यान से विचरते हुए श्रमण भगवान् महावीर जभिय-गाँव के समीप ऋजुवालुका नदी के उत्तर तट पर स्थित देवालय के समीप सालवृक्ष के नीचे उकड़ु आसन से ध्यानावस्थित हुए।

निर्जल षष्ठभक्तप्रत्याख्यान कर आपने शुक्ल-ध्यान का आरम्भ किया और शीघ्र ही इस ध्यान की प्रथम दो श्रेणियों को पार करके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय किया और उसी समय (वैशाख शुक्ला दशमी के दिन, चौथे पहर के समय) आपने केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

अब भगवान् सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी हुए। सम्पूर्ण लोकालोकान्तर्गत भूत भविष्यत्, सूक्ष्म व्यवहित, मूर्तामूर्त समस्त पदार्थ आपके ज्ञान मे आलोकित हुए।



तीसरा परिच्छेद

तीर्थंकर-जीवन

भगवान् की कैवल्य प्राप्ति का समाचार पाकर देवों ने स्वर्ग से आकर समवसरण (धर्मसभा) की योजना की। इस प्रथम समवसरण मे देवता लोग ही उपस्थित थे अत विरति-रूप सयम का लाभ किसी प्राणी को नहीं हो सका। यह आश्चर्यजनक घटना जैनागमों मे 'अछेरा' (आश्चर्यजनक—अस्वाभाविक) नाम से प्रसिद्ध है।

ऋजुवालुका के तट पर प्रथम समवसरण

उन दिनों मध्यमा नगरी मे एक धार्मिक प्रकरण चल रहा था। सोमिलाचार्य नामक एक ब्राह्मण अपने यहाँ एक बडा भारी यज्ञ करा रहा था। इसमे भाग लेने के लिए उसने देश-देशान्तरों से बडे बडे विद्वानों को आमन्त्रित किया था। बोधिप्राप्त महावीर ने देखा कि मध्यमा नगरी का यह प्रसग अपूर्व लाभ का कारण होगा। यज्ञ मे आये हुए विद्वान् ब्राह्मण प्रतिबोध पायेंगे और धर्म तीर्थ के आधारस्तभ बनेंगे, यह सोच कर भगवान् ने सन्ध्या समय वहाँ से विहार कर दिया और रात भर बारह योजन (४८ कोस) चल कर मध्यमा के महासेन नामक उद्यान मे वास किया।

भगवान् महावीर का दूसरा समवसरण मध्यमा नगरी के महासेन उद्यान में हुआ। वैशाख शुक्ला एकादशी को प्रात काल से ही मध्यमा के उस उद्यान की तरफ नागरिकों के समूह उमड पडे थे। अपने-अपने वैभवानुसार सज धज कर समवसरण मे जाने के लिये मानों वे एक दूसरे से होड लगा रहे थे। थोड़े ही समय

दूसरा समवसरण

मे देव-दानवों और मनुष्य तिर्यंचों के समूहों से महासेन वन मे सभा के रूप मे एक नगर वस गया ।

उस महती सभा मे भगवान् महावीर ने सर्वभाषानुगामिनी अर्धमागधी भाषा मे एक पहर तक धर्मोपदेश दिया जिसमे लोक अलोक, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध किया । नरक क्या है, नरक मे दुःख क्या है, जीव नरक मे क्यों जाते हैं और तिर्यंचगति मे जीवों को किस प्रकार शारीरिक एव मानसिक कष्ट सहन करने पडते हैं इसका वर्णन किया । देवगति में पुण्य फलों को भोग कर अविरत जीव किस प्रकार फिर ससार की नाना गतियों मे भ्रमण करते हैं इसका भी आपने दिग्दर्शन कराया । अन्त मे भगवान् ने मनुष्यगति को अधिक महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ बताते हुए उसे सफल बनाने के लिए पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और सम्यक्त्वधर्म का उपदेश दिया ।

भगवान महावीर के ज्ञान और लोकोत्तर उपदेश की सर्वत्र प्रशसा होने लगी। मध्यमा के चौक और बाजारों मे उन्हीं की चर्चा होने लगी। इस चर्चा को सोमिल के अतिथि विद्वानों ने सुना। वे चौकन्ने हो गये ।

यों तो सोमिलार्य के इन मेहमानों की सख्या हजारों की थी पर उनमें ग्यारह विद्वान्—१ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मडिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पिक, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य और ११ प्रभास विशेष प्रतिष्ठित थे ।

१ इन्द्रभूति मगधदेशान्तर्वर्ती गोवरगाँव के रहनेवाले गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे । इनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथिवी था । उस समय इन्द्रभूति की उम्र ५० वर्ष की थी । आप ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे ।

२ अग्निभूति इन्द्रभूति के भाई थे । इनकी ४६ वर्ष की उम्र थी । ये ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे ।

३ वायुभूति इन्द्रभूति के भाई थे । इनकी ४२ साल की उम्र थी । ये भी ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे ।

४ व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के रहनेवाले भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण

थे। इनकी माता वारुणी और पिता धनमित्र थे। इनकी उम्र ५० साल की थी। आप ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे।

५ सुधर्मा कोल्लाग सन्निवेशनिवासी अग्निवैश्यायनगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। इनकी अवस्था ५० साल की थी। ये भी ५०० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

६ मंडिक मौर्य-संनिवेश के रहनेवाले वासिष्टगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता विजयदेवा और पिता धनदेव थे। उस समय इनकी उम्र ५३ वर्ष की थी। ये ३५० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

७ मौर्यपुत्र भी मौर्य-सनिवेश-निवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता विजयदेवा और पिता मौर्य थे। उस समय आपकी अवस्था ६७ साल की थी। आप ३५० छात्रों के अध्यापक थे।

८ अकम्पिक मिथिला के गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता जयन्ती और पिता देव थे। उस समय इनकी उम्र ४८ साल की थी, आप ३०० छात्रों के उपाध्याय थे।

९ अचलभ्राता कोसलनिवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता नन्दा और पिता वसु थे। उस समय इनकी अवस्था ४६ साल की थी। ये ३०० छात्रों के अध्यापक थे।

१० मेतार्य वत्सदेश के तुंगिक-सनिवेश के रहनेवाले कौडिन्य-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वरुणदेवा और पिता दत्त थे। इनकी उम्र ३६ साल की थी। ये ३०० छात्रों के अध्यापक थे।

११ प्रभास राजगृह निवासी कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता अतिभद्रा और पिता बल थे। उस समय प्रभास की उम्र केवल १६ वर्ष की थी। आप ३०० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

ये सभी कुलीन ब्राह्मण सोमिलार्य के आमन्त्रण से अपने-अपने छात्र परिवार के साथ मध्यमा आये थे। प्रत्येक को किसी न किसी विषय मे शका बनी हुई थी परन्तु वे कभी किसी को पूछते नहीं थे, क्योंकि उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि उन्हें ऐसा करने से रोकती थी।

महावीर की सर्वज्ञता के समाचार सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम के कानों तक पहुँचे। उनको कभी विश्वास नहीं था कि ससार मे उनसे

बढकर भी कोई विद्वान् हो सकता है। वे महासेन उद्यान की तरफ से आनेवालों से बार-बार पूछते—"क्यों कैसा है वह सर्वज्ञ ?" उत्तर मिलता—"कुछ न पूछिये ज्ञान और वाणीमाधुर्य मे उनका कोई समकक्ष नहीं।" इस जनप्रवाद ने इन्द्रभूति को एक प्रकार से उत्तेजित कर दिया। उन्होंने इस नूतन सर्वज्ञ से भिडकर अपनी ताकत का परिचय देने का निश्चय किया और अपने छात्रसघ के साथ महासेन उद्यान की ओर चल दिए। अनेक विचार-विमर्श के अन्त मे इन्द्रभूति भगवान् महावीर की धर्मसभा के द्वार तक पहुँचे और वहीं स्तब्ध से होकर खडे रह गये।

इन्द्रभूति की प्रव्रज्या

इन्द्रभूति ने अपने जीवनकाल मे बहुत पडित देखे थे, बहुतों से टक्कर ली थी, बहुतों को वादसभा मे निरुत्तर करके नीचा दिखाया था और यहाँ भी वे इसी विचार से आये थे, पर जब उन्होंने महावीर के समवसरण के द्वार मे पैर रक्खा तो महावीर के योगैश्वर्य्य और भामण्डल को देखकर वे चोंधिया गये, उनकी विजयकामना शात हो गई। वे अपनी अविचारित प्रवृत्ति पर अफसोस करने लगे। फिर सोचा यदि ये मेरी शकाओं को बिना पूछे ही निर्मूल कर दें तो इन्हें सर्वज्ञ मान सकता हूँ।

इन्द्रभूति इस उधेडबुन मे ही थे कि भगवान् महावीर उन्हे सबोधित करते हुए बोले—गौतम ! क्या तुम्हें पुरुष (आत्मा) के अस्तित्व के सबन्ध मे शका है ?

इन्द्रभूति—हाँ महाराज, मुझे इस विषय मे शका सी रहती है क्योंकि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति।"[1] इत्यादि वेदवाक्य भी इसी बात का समर्थन करते हैं कि भूत समुदाय से चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है और उसीमे

---

१ यह वेद वाक्य आवश्यकटीका में से लिया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में यह वाक्य इस रूप में मिलता है "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्तीत्यरे ब्रवीति होवाच याज्ञवल्क्य।" बृहदारण्यकोपनिषद् १२-५३८।

लीन हो जाता है, परलोक की कोई सज्ञा नहीं। भूतसमुदाय से ही विज्ञानमय आत्मा की उत्पत्ति का अर्थ तो यही है कि भूतसमुदाय के अतिरिक्त पुरुष का अस्तित्व ही नहीं।

महावीर—और यह भी तो तुम जानते हो कि वेद से पुरुष का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

इन्द्रभूति—जी हाँ, "स वै अयमात्मा ज्ञानमय"[1] इत्यादि श्रुति वाक्य आत्मा का अस्तित्व भी बता रहे हैं। इनसे शका होना स्वाभाविक ही है कि 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुति वाक्य को प्रमाण मानकर भूतशक्ति को ही आत्मा माना जाए अथवा आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व माना जाए।

महावीर—महानुभाव इन्द्रभूति ! 'विज्ञानघन' इत्यादि पदों का जैसा तुम अर्थ समझ रहे हो वास्तव मे वैसा नहीं है। अगर इस श्रुति-वाक्य का वास्तविक अर्थ समझ लिया होता तो तुम्हें कोई शका ही न होती।

इन्द्रभूति—क्या इसका वास्तविक अर्थ कुछ और है ?

महावीर—हाँ। 'विज्ञानघन' इस श्रुति का वास्तविक अर्थ और ही है। तुम 'विज्ञानघन' का अर्थ पृथिव्यादि भूतसमुदाय से उत्पन्न 'चेतनापिण्ड' ऐसा करते हो पर वस्तुत 'विज्ञानघन' का तात्पर्य विविध-ज्ञानपर्यायों से है। आत्मा मे प्रतिक्षण नवीन ज्ञानपर्यायों का आविर्भाव तथा पूर्वकालीन ज्ञानपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जब एक पुरुष घट को देखता है और उसका चिन्तन करता है तो उस समय उसकी आत्मा मे घटविषयक ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है जिसे हम घटविषयक 'ज्ञानपर्याय' कहते हैं। जब वही पुरुष घट के पश्चात् पटादि अन्य पदार्थों को देखेगा तब उसे पटादि का ज्ञान प्रकट होगा और पूर्वकालीन घट-ज्ञान तिरोहित (व्यवहित) हो जायगा। अन्यान्य पदार्थविषयक ज्ञान के पर्याय ही 'विज्ञानघन' (विविध पर्यायों का पिण्ड) है जो भूतों

---

१ आवश्यकटीका में उद्धृत यह वाक्य 'बृहदारण्यकोपनिषद् (४-४-५) मे मिलता है और इससे मिलता जुलता 'य एष विज्ञानमय पुरुष' वाक्य बृहदारण्यक (पृ० ५२१) मे उपलब्ध होता है।

से उत्पन्न होता है। यहाँ 'भूत' शब्द का अर्थ पृथिव्यादि पाँच भूत नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है 'प्रमेय'—अर्थात पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ही नहीं परन्तु जड चेतन समस्त ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ।

सब ज्ञेय पदार्थ आत्मा मे अपने स्वरूप से भासमान होते हैं—घट घटरूप मे भासता है, पट पटरूप मे। ये भिन्न भिन्न प्रतिभास ही ज्ञान-पर्याय हैं। ज्ञान और ज्ञानी (आत्मा) मे कथचित् अभेद होने के कारण भूतों से अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञेयो से विज्ञानघन अर्थात् 'ज्ञान-पर्यायों का उत्पन्न होना और उत्तरकाल मे उन पर्यायों का तिरोहित (व्यवहित) होना कहा है।

'न प्रेत्यसञ्ज्ञास्ति' का अर्थ 'परलोक की सज्ञा नहीं' ऐसा नहीं है। वास्तव मे इसका अर्थ 'पूर्वपर्याय का उपयोग नहीं' ऐसा है। जब पुरुष मे नये-नये ज्ञानपर्याय उत्पन्न होते हैं तब उसके पूर्वकालीन उपयोग व्यवहित हो जाने से उस समय स्मृतिपट पर स्फुटित नहीं होते इसी अर्थ को लक्ष्य करके 'न प्रेत्यसञ्ज्ञास्ति' यह वचन कहा गया है।

भगवान् महावीर के मुख से वेदवाक्य का समन्वय सुनते ही इन्द्रभूति के मन का अन्धकार विच्छिन्न हो गया। वे दोनों हाथ जोड कर बोले—भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। प्रभो! मे आपका प्रवचन सुनना चाहता हूँ।

गौतम की प्रार्थना पर महावीर ने निर्ग्रंथ प्रवचन का उपदेश दिया। उपदेश सुन कर वे ससार से विरक्त होकर निर्ग्रंथधर्म मे प्रव्रजित हुए। गौतम के ५०० छात्र भी जो उनके साथ ही आए थे, महावीर के पास प्रव्रजित हुए और वे सभी इन्द्रभूति के शिष्य रहे।

इन्द्रभूति की प्रव्रज्या की बात पवनवेग से मध्यमा मे पहुँची। नगर भर मे यही चर्चा होने लगी। कोई कहता 'इन्द्रभूति' जैसे जिनके आगे शिष्य हो गए उन महावीर का क्या कहना है! सचमुच वे ज्ञान के अथाह समुद्र और धर्म के अवतार हैं। दूसरा कहता—अजी, कुछ करा-मात जानते होंगे। अन्यथा इन्द्रभूति जैसे विद्वान का इस प्रकार मोहित हो कर अपने छात्रसघ के साथ उनका शिष्य बन जाना सभव नहीं।

उनका छोटा भाई अग्निभूति उनकी विद्वत्ता का इतना कायल था कि वह यह तो मानने को तैयार हो सकता था कि सूर्य का उदय पश्चिम मे हो परन्तु यह नहीं कि इन्द्रभूति किसी से हार जाए और उसका शिष्य हो जाए। वह कुछ क्रोध, कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान के भावों के साथ अपने छात्रमडल सहित महासेन उद्यान की ओर चल पड़ा। उसे पूर्ण विश्वास था कि किसी भी तरह वह महावीर को परास्त करके वडे भाई इन्द्रभूति को वापस ले आएगा।

अग्निभूति की प्रव्रज्या

अग्निभूति जब नगर से निकला तो उसके शरीर मे वडी तेजी थी पर ज्यों-ज्यों वह आगे वढने लगा त्यों-त्यों उसका शरीर भारी होने लगा। जब वह समवसरण के सोपानमार्ग तक पहुँचा तो उसके पैरों ने जवाब दे दिया। उसके मन का जोश विलकुल ठडा पड गया। वह सोचने लगा —क्या सचमुच ये सर्वज्ञ ही हैं, क्या इसी कारण इन्द्रभूति ने अपनी हार मान ली है ? यदि यही बात है तो मैं यहीं से एक प्रश्न पूछूँगा। यदि मुझे ठीक उत्तर मिल जाएगा तो म भी इन्हें सर्वज्ञ मान लूँगा। अग्निभूति द्वार पर ही खड़े थे कि महावीर ने उन्हें सबोधित किया— प्रिय अग्निभूति, क्या तुम्हें कर्म के अस्तित्व के विपय मे शका है ?

अग्निभूति—हाँ महाराज, कर्म के अस्तित्व को मैं सदेह की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि "पुरुप एवेद ग्नि सर्वं यद्भूत यच्च भाव्य"[1] इत्यादि श्रुति पुरुषाद्वैत का प्रतिपादन कर रही है और जब दृश्य, अदृश्य, वाह्य

---

१ आवश्यकटीका मे सपूर्ण श्रुतिवाक्य इस प्रकार है—

"पुरुप एवेद ग्नि सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके। यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्याऽस्य वाह्यत ॥"

'वाजसनेयीसहिता' (४०-५) मे भी उपर्युक्त वाक्य ही मिलता है। 'ईशावास्योपनिषद्' में 'तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत' यह पाठ मिलता है। 'वाजसनेयीसहिता' (३२-२) 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (२४९) और 'पुरुषसूक्त' में "पुरुप एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।" यह पाठ उपलब्ध होता है।

अभ्यन्तर, भूत एव भविष्यत सब कुछ 'पुरुष' ही है तो पुरुष के अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं ।

युक्तिवाद भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकता। कर्मवादी कहते हैं—जीव पहले कर्म करता है फिर उसका फल भोगता है। परन्तु यह सिद्धान्त तर्कवाद की कसौटी पर टिक नहीं सकता। 'जीव' नित्य 'अरूपी' और 'चेतन' माना जाता है और 'कर्म' 'अनित्य' 'रूपी' और 'जड़'। इन परस्पर विरुद्ध प्रकृतिवाले जीव और कर्म का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध कैसा माना जायगा—सादि अथवा अनादि ?

जीव और कर्म का सबन्ध 'सादि' मानने का अर्थ यह होगा कि पहले 'जीव' कर्मरहित था और अमुक काल में उसका कर्म से सयोग हुआ। परन्तु यह मान्यता कर्मसिद्धान्त के अनुकूल नहीं। कर्मसिद्धान्त के अनुसार जीव की मानसिक वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ ही कर्मबन्ध का—जीव-कर्म के सयोग का कारण होती हैं। मन, वचन और काय ये स्वय कर्मफल हैं क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से ही मन आदि तत्त्व जीव को प्राप्त होते हैं। इस दशा मे 'अबद्ध' जीव किसी भी प्रकार 'बद्ध' नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास बन्धकारण नहीं है। यदि बिना कारण भी जीव 'कर्मबद्ध' मान लिया जाय तो कर्ममुक्त सिद्धात्माओं को भी पुन कर्मबद्ध मानने मे कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार कर्मवादियों का 'मोक्ष' तत्त्व नाम मात्र को रह जायगा। वस्तुत कोई भी आत्मा 'मुक्त' ठहरेगा ही नहीं। अत 'अबद्ध' जीव का 'बन्ध' मानना दोषापत्ति पूर्ण है।

जीव और कर्म का 'अनादि सबध' भी सगत नहीं हो सकता क्योंकि जीव-कर्म का सबध 'अनादि' होगा तो वह 'आत्मस्वरूप' की ही तरह 'नित्य' भी होगा, और 'नित्य' पदार्थ का कभी नाश न होने से वह कभी कर्ममुक्त नहीं होगा। जब जीव की कर्म से मुक्ति ही नहीं तो वह उसके लिये प्रयत्न ही क्यों करेगा ?

महावीर—महानुभाव अग्निभूति ! तुम्हारी इन दलीलों से ही प्रकट होता है कि तुमने 'वेदवाक्य' का वास्तविक अर्थ नहीं समझा। 'पुरुष

एवेद' यह श्रुतिवाक्य 'पुरुषाद्वैत' का साधक नहीं, परन्तु यह एक स्तुतिवाक्य है।

अग्निभूति—इस श्रुतिवाक्य को 'स्तुतिवाक्य' क्यों माना जाय और 'पुरुषाद्वैतसाधक' क्यों नहीं ?

महावीर—पुरुषाद्वैतवाद दृष्टापलाप और अदृष्टकल्पना दोषों से दूषित है।

अग्निभूति—यह कैसे ?।

महावीर—पुरुषाद्वैत के स्वीकार मे यह पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों का अपलाप होता है और सत्-असत् से विलक्षण 'अनिर्वचनीय' नामक एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करनी पडती है।

अग्निभूति—महाराज ! इसमे अपलाप की बात नहीं है। पुरुषाद्वैतवादी इस दृश्य जगत को पुरुष से अभिन्न मानते हैं। जड़ चेतन का भेद व्यावहारिक कल्पनामात्र है। वस्तुत जो कुछ दृश्यादृश्य और चराचर पदार्थ है सब पुरुषस्वरूप है।

महावीर—पुरुष दृश्य है या अदृश्य ?

अग्निभूति—पुरुष रूप, रस, गध, और स्पर्शादिहीन अदृश्य है। इसका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता।

महावीर—ये पदार्थ क्या है जो आँखों से देखे जाते हैं, कानों से सुने जाते हैं, नाक से सूँघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते हैं और त्वचा से स्पर्श किए जाते हैं ?

अग्निभूति—यह सब नामरूपात्मक जगत् है।

महावीर—यह पुरुष से भिन्न है या अभिन्न ?।

अग्निभूति—यह सब पुरुष से अभिन्न है।

महावीर—अभी तुमने कहा था कि 'पुरुष' अदृश्य है, इन्द्रियातीत है। इस 'पुरुषाभिन्न' नामरूपात्मक जगत् का इन्द्रियों से कैसे प्रत्यक्ष हो रहा है ?।

अग्निभूति—इस नामरूपात्मक दृश्य जगत् की उत्पत्ति माया से होती है। माया तथा उसका कार्य नामरूप सत् नहीं है क्योंकि कालान्तर मे उसका नाश हो जाता है।

महावीर—तो क्या दृश्य जगत् असत् है ?

अग्निभूति—नहीं । जैसे यह सत् नहीं वैसे असत् भी नहीं, क्योंकि ज्ञानकाल मे वह सत्रूप से प्रतिभासित होता है ।

महावीर—सत् भी नहीं और असत् भी नहीं । तब इसे क्या कहोगे ?

अग्निभूति—सत् असत् से विलक्षण इस माया को हम 'अनिर्वचनीय' कहते हैं ।

महावीर—आखिर पुरुषातिरिक्त 'माया' नामक एक विलक्षण पदार्थ मानना ही पडा । तब कहाँ रहा तुम्हारा पुरुषाद्वैतवाद ? प्रिय अग्निभूति ! जरा सोचो, ये दृश्य पदार्थ पुरुष से अभिन्न कैसे हो सकते हैं ? यह दृश्य जगत् यदि 'पुरुष' ही हो तो 'पुरुष' की ही तरह यह भी इन्द्रियातीत होना चाहिए । पर तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि यह इन्द्रियगोचर है । प्रत्यक्षदर्शन को तुम भ्रान्ति नहीं कह सकते ।

अग्निभूति—इसे भ्रान्ति मानने मे क्या आपत्ति है ?

महावीर—भ्रान्तिज्ञान उत्तरकाल मे भ्रान्त सिद्ध होता है । जिसे तुम भ्रान्ति कहते हो वह कभी भ्रान्तिरूप सिद्ध नहीं होता, अत यह निर्बाध ज्ञान है, भ्रान्ति नहीं ।

अग्निभूति—यह माया पुरुष की ही शक्ति है और पुरुष विवर्त में नाम-रूपात्मक जगत बन कर भासमान होता है । वस्तुत माया पुरुष से भिन्न वस्तु नहीं ।

महावीर—यदि माया पुरुष की शक्ति ही है तो यह भी पुरुष के ज्ञानादि गुणों की तरह अरूपी अदृश्य होनी चाहिए । परन्तु यह तो है दृश्य । अत सिद्ध होता है कि माया पुरुष की शक्ति नहीं । यह एक स्वतंत्र पदार्थ है ।

पुरुषविवर्त मानने से भी पुरुषाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि पुरुषविवर्त का अर्थ है पुरुष के मूल स्वरूप की विकृति, परन्तु पुरुष में विकृति मानने से उसे सकर्मक ही मानना पड़ेगा, अकर्मक नहीं। जिस प्रकार खालिस पानी मे खमीर नहीं उत्पन्न होता उसी तरह अकर्मक जीव मे विवर्त नहीं हो सकता ।

पुरुषवादी जिस पदार्थ को माया अथवा अज्ञान का नाम देते हैं वह वस्तुत आत्मातिरिक्त जड पदार्थ है। पुरुषवादी इसे सत् या असत न कह कर 'अनिर्वचनीय' कहते हैं जिससे सिद्ध होता है कि यह पुरुष से भिन्न पदार्थ है। इसी लिये तो वे इसे पुरुष की तरह 'सत्' नहीं मानते। 'असत' न मानने का तात्पर्य तो केवल यही है कि यह माया आकाशपुष्प की तरह कल्पित वस्तु नहीं है।

अग्निभूति—ठीक है। दृश्य जगत् को 'पुरुषमात्र' मानने से प्रत्यक्ष अनुभव का निर्वाह नहीं हो सकता, यह मैं समझ गया हूँ। परन्तु जड़ तथा रूपी कर्म द्रव्य चेतन तथा अरूपी आत्मा के साथ कैसे सबद्ध हो सकता है और उस पर अच्छा बुरा असर कैसे डाल सकता है ?

महावीर—जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यों का सपर्क होता है उसी तरह अरूपी आत्मा का रूपी कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार ब्राह्मीऔषधि और मदिरा आत्मा के अरूपी चैतन्य पर भला बुरा असर करते हैं उसी तरह अरूपी चेतन आत्मा पर रूपी जड कर्मों का भी भला-बुरा असर हो सकता है।

इस लम्बी चर्चा के बाद अग्निभूति ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। भगवान् महावीर का उपदेश सुन कर अग्निभूति ने प्रतिबोध पाया और अपने छात्रमण्डल के साथ भगवान् के चरणों मे श्रामण्य अगीकार किया।

अग्निभूति की दीक्षा से मध्यमा में आए हुए सब ब्राह्मण विद्वानों के गर्व चूर्ण हो गये। अब उनको विश्वास हो गया कि महावीर सर्वज्ञ है।

शरीरातिरिक्त आत्मा की सिद्धि तथा वायुभूति की दीक्षा

फिर भी वायुभूति गौतम और अन्य विद्वानों ने भगवान् महावीर से भेंट करने और उनके ज्ञान वैराग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया और वे अपने अपने छात्रमण्डलों के साथ महासेन उद्यान की ओर चल पडे। सब के आगे वायुभूति था। वायुभूति समवसरण मे पहुँचा तो भगवान् के अलौकिक तेज से उसके नेत्र चौंधिया गए। वह अपना प्रश्न पूछने को ही था कि भगवान् ने उसकी

मानसिक शङ्का को व्यक्त करते हुए कहा—वायुभूति ! क्या तुम्हे शरीर से भिन्न जीव की सत्ता के विषय मे शका है ?,

वायुभूति—*जी हॉं । मे ऐसा समझता हूँ कि शरीर से भिन्न जीव* की कोई सत्ता नहीं। क्योंकि 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी यही प्रतिपादन करता है कि यह ज्ञानात्मक 'आत्मपदार्थ' इन भूतों से प्रकट होता हे और इन्हीं मे विलीन हो जाता है। पुनर्जन्म जैसा कोई भाव नहीं है।

महावीर—और आत्मा का अस्तित्व भी वेद से सिद्ध होता है। "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण"[1] इत्यादि श्रुतिवाक्य आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं।

भूतसमुदायात्मक शरीर को 'आत्मा' मानने से काम नहीं चलेगा क्योंकि कार्य कारणानुरूप होता है। तिल के प्रत्येक दाने मे तेल होता है तभी उसके समुदाय से तेल निकलता है। रेती के कणो मे तेल न होने से उसके समुदाय से भी वह कभी प्रकट नहीं होता। भूत जड़ स्वरूप है। उनका समुदाय भी जड़ ही होगा। उसमे चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता।

वायुभूति—आपका 'कारणानुरूप कार्य' वाला नियम अव्यापक है। मदिरा के प्रत्येक अग मे मादकता नहीं होती, फिर भी उसके सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई मदिरा मे वह अवश्य होती हे। इससे सिद्ध हुआ कि 'कारणानुरूप ही कार्य हो' ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं हैं।

महावीर—प्रिय वायुभूति ! मदिरा के दृष्टान्त से 'कारणानुरूप कार्य का नियम' विघटित नहीं होता। मदिरा के प्रत्येक अग मे मादकता

---

१ सपूर्ण श्रुतिवाक्य आवश्यकटीका मे इस प्रकार है—
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
ज्योतिर्मयोहि शुद्धो य पश्यन्ति धीरा यतय सयतात्मान ॥"।
मुण्डकोपनिषद (१४०) में यह पाठ इस प्रकार है—
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा" ॥

नहीं होती, यह कथन वास्तविकता से दूर है। मदिरा के प्रत्येक अग मे अनभिव्यक्त अवस्था में मादकता है। तभी उनके सधान मे वह समीर रूप से अभिव्यक्त होती है। यदि ऐसा न हो तो दूसरे पदार्थों के सधान मे वह क्यों नहीं अभिव्यक्त होती। अमुक पदार्थों मे ही यह उत्पन्न होती है और अमुक मे नहीं, इससे भी क्या सिद्ध नहीं होता कि वह शक्ति उन पदार्थों मे पहले ही से सन्निहित रहती है जो कारण पाकर प्रकट होती है ?

वायुभूति—अच्छा यदि यह मान भी लें कि जड से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती तो भी भूतोंसे अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व मे प्रमाण क्या है ?

महावीर—ज्ञानी मनुष्यों के लिये तो आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की जरूरत ही नहीं है। वे इसे हस्तामलकवत् साक्षात् देखते हैं। चर्म-नेत्रवालों के लिये आत्मा अवश्य एक पहेली है। उनके लिये आत्मा गूढातिगूढ और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ है जिसे वे अनुमान से जान सकते हैं।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतग, वृक्ष, लता आदि जीवधारी पदार्थों की प्रवृत्तियों का निरीक्षण कीजिए। सब अपने अनुकूल वेदनीय की ओर-प्रवृत्त और प्रतिकूल वेदनीय से निवृत्त होते हैं। कीट-पतग तक भी आग, पानी आदि अनिष्टकारी तत्त्वों की गध पाते ही उससे बचने की चेष्टा करते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन सब देहधारियों मे कोई अदृश्य शक्ति है जिससे वे अपने भले-बुरे का विचार करते हैं ? महानुभाव वायुभूति ! यह शक्ति जिससे कि वे अपना हित-अहित समझते हैं शरीर का धर्म नहीं हो सकती। अवश्य ही इस नियामक शक्ति का उद्गमस्थान शरीर से भिन्न है, और वही क्रिया-वादियों का 'आत्म' पदार्थ है।

मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ, मैंने खाया, मैंने किया इत्यादि वाक्यों मे 'मैं' शब्द से जो अपना सूचन करता है वह वास्तव मे शरीर नहीं पर शरीराश्रित आत्मा है। मृत शरीर मे इस प्रकार की कोई भी चेष्टा नहीं होती। यदि वह शरीरधर्म हो तो शरीर के रहते उसका लोप नहीं हो

सकता । इससे सिद्ध है कि शारीरिक चेष्टाओं का कर्ता शरीर नहीं वरच तद्गत आत्मा है ।

वायुभूति—शरीरगत ज्ञानमय प्रवृत्तियों की अन्यथाअनुपपत्ति ही शरीरातिरिक्त 'आत्म' पदार्थ की साधिका है अथवा और भी कोई प्रमाण है ।

महावीर—वायुभूति, इस ससार की विचित्रता जिसे तुम देख रहे हो किसका कार्य हो सकता है ? सुखी-दु खी, सधन-निर्धन, स्वामी-सेवक, भला-बुरा ये सब विविधताएँ किसका परिणाम हो सकता है ?

वायुभूति—इन विविधताओं का कारण स्वभाव ही तो हो सकता है।

महावीर—किसका स्वभाव ?

वायुभूति—पदार्थों का ।

महावीर—यदि तुम्हारी मान्यतानुसार ससार मे भूतों के सिवा कोई पदार्थ ही नहीं है तब तो यह जगद्वैचित्र्य किसी प्रकार सगत हो ही नहीं सकता क्योंकि 'भूत' जड पदार्थ हैं। इन जडो मे ऐसी कोनसी नियामक शक्ति है जो ससार मे विचित्रता ला देगी ? भले ही आग मे जलने जलाने का स्वभाव हो पर वह स्वय नहीं जल सकती। इसी तरह भूतों मे भले ही सब कुछ करने की शक्ति हो पर वे स्वय कुछ नहीं कर सकते । इनका कोई नियोजक चेतन होगा तभी ये ससार की विचित्रता का कारण हो सकेंगे। अतएव भूतो से विलक्षण 'चेतन' मानना जरूरी है ।

आत्मा का अस्तित्व मान लेने पर भी ससार की विविधता सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि चेतन और जड के बीच मे कोई विशिष्ट सबध न माना जाए क्योंकि जड़ से निर्लेप रहता हुआ चेतन जड पदार्थ का कोई नियमन अथवा उपयोग नहीं कर सकता। मिट्टी का स्पर्श न करनेवाला कुम्हार मिट्टी के बरतन नहीं बना सकता ।

वायुभूति—तब क्या कुम्हार की तरह चेतन भी जड पदार्थों से इस जगत् की रचना करता है ?

महावीर—मेरा अभिप्राय यह नहीं है । कुम्हार की तरह कोई भी चेतनशक्ति इस ससार की रचना नहीं करती। मेरे कहने का तात्पर्य यह



है कि इस जगत मे चेतन और जड़ दो शक्तियॉ काम कर रही हैं। इन दो शक्तियों के बीच वह सबध है जो विजातीय दो पदार्थों के बीच हो सकता है। चेतन, जिसे हम आत्मा कहते हैं और जड, जिसे हम कर्म कहते हैं, अनादि काल से दूध और घी की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। दूध को हम देखते हैं पर घृत का अनुमानमात्र कर सकते हैं। इसी तरह सचेष्ट शरीर को देखते हैं और आत्मा का अनुमान करते हैं।

चेतन से लिप्त कर्माणुओं से ससार मे यह विचित्रता उत्पन्न होती है। जो चेतन शुभ कर्मों से लिप्त होता है वह ससार मे अच्छी स्थिति पाता है और जो अशुभ कर्मदलों से सबद्ध होता है वह बुरी स्थिति को प्राप्त होता है। इस प्रकार ससार के वैचित्र्य का कारण ससारी जीव और उनके शुभ-अशुभ कर्म हैं, केवल भूतों का स्वभाव नहीं।

अब वायुभूति ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और सपरिवार श्रमणधर्म की दीक्षा ले भगवान् के शिष्य हो गये।

आर्यव्यक्त की दीक्षा

अब भगवान् महावीर ने आर्यव्यक्त को सबोधित किया और बोले—आर्यव्यक्त, क्या तुम्हें ब्रह्म के सिवा अन्य-पदार्थों की वास्तविकता के विषय मे शका है ?

व्यक्त—जी हॉ। वेद मे "स्वप्नोपम वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय"[1] इत्यादि वचनों से सब कुछ स्वप्नतुल्य बताया है। केवल ब्रह्म—आत्मा को ही सत् कहा है। वेद मे ही "पृथिवी देवता, आपो देवता"[2] इत्यादि वाक्यों से पृथिव्यादि भूतों की सत्ता भी प्रतिपादित की है। इस स्थिति मे यह निश्चय करना अति कठिन है कि जगत् को किस रूप मे माना जाय, सत् या असत् ?

महावीर—महानुभाव! "स्वप्नोपम वै" इत्यादि वेद वाक्य को तुमने यथार्थरूप मे नहीं समझा। यह वेद-पद कोई विधिवाक्य नहीं है जैसा कि तुम समझ रहे हो। सब स्वप्न तुल्य होने का अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ ही नहीं। उक्त उपदेशवाक्य है और वह अध्यात्मचिन्ता का उपदेश करता हुआ सूचित करता है कि धन-यौवन,

---

१–२ ये वाक्य किन वैदिक ग्रन्थों के हैं इसका कुछ पता नहीं लगा।

पुत्र कलत्रादि पदार्थ जिन पर मुग्ध हो कर यह संसारी जीव अपना हितमार्ग चूक रहा है, सांसारिक सुख के प्रलोभनों में फँस कर आत्म-हित में प्रमाद कर रहा है, यह पदार्थ वस्तुत नाशशील है। क्या सामान्य मनुष्य और क्या देवेन्द्र चक्रवर्ती सब आयुष्य की सांकलों में बँधे हुए हैं। जब वे सांकलें टूटेंगी, जब आयुष्य की डोरी पूरी होगी तब भाड़े के घर की तरह इस देह को छोड़ कर स्वकर्मानुसार देहान्तर धारण करेंगे, और उस हालत में यहाँ के सबन्ध और सबन्धी केवल नामशेष हो जायँगे। अत आत्मार्थी जन का कर्तव्य है कि वह इन सासारिक क्षणिक सवन्धों, क्षणिक सुखों में न फँस कर आत्महित की चिन्ता करें।

भगवान् ने विस्तारपूर्वक जड़ चेतन की चर्चा करके दोनों के स्वरूप का प्रतिपादन किया। आर्यव्यक्त की सब शकाएँ दूर हुईं और उसने भी छात्रमडली के साथ निर्ग्रंथ-श्रमण-धर्म की प्रवज्या ग्रहण करके अपने को धन्य माना।

तत्पश्चात महावीर ने सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए कहा—

सुधर्मा की दीक्षा

सुधर्मन्! क्या तुम यह मानते हो कि सब प्राणी मर कर अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं?

सुधर्मा—जी हाँ। वेद वाक्य भी मेरे इन विचारों के समर्थक हैं। शास्त्र में कहा है—'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशव पशुत्वम्' पुरुष पुरुषपन पाता है और पशु पशुपन।

महावीर—इसके विरोधी वाक्य भी मिलते हैं। क्या यह तुमको मालूम है?

सुधर्मा—जी हाँ। 'शृगालो वै एष जायते य सपुरीषो दह्यते।' इस वाक्य से मनुष्य का भावान्तर में सियाल होना भी लिखा है। इन परस्पर विरोधी वाक्यों से यद्यपि इस विषय में कुछ निश्चय नहीं होता। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, भावान्तर मे प्राणिमात्र का सादृश्य प्रतिपादक वेदवाक्य ही युक्तिसगत मालूम होता है। क्योंकि यह एक अटल नियम है कि कार्य हमेशा कारणानुरूप ही होता है। गेहूँ से गेहूँ की ही उत्पत्ति होती है, जौ की नहीं। इसी तरह मनुष्य आदि प्राणी मर कर फिर मनुष्य आदि ही होने चाहिये।

महावीर—महानुभाव ! तुमने कार्य कारण की बात कही सो तो ठीक है । हम भी यही मानते हैं कि कारणानुरूप कार्य होता है । इसी-लिये गेहूँ से गेहूँ और जौ से जौ की ही उत्पत्ति होती है पर इस कार्य-कारण के नियम से ऐहिक सादृश्य सिद्ध हो सकता है जन्मान्तर का नहीं । गेहूँ के दाने से नये गेहुँओं की उत्पत्ति होती है यह बात सत्य है परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि उसी कारणरूप गेहूँ के जीव ने उससे उत्पन्न होनेवाले गेहूँ के दानों में जन्म लिया है । कारण और कार्यरूप गेहूँ के दानों में केवल शारीरिक कार्यकारण भाव होता है, आत्मिक नहीं । इसी प्रकार मनुष्य तथा तिर्यंच आदि में भी शारीरिक कार्यकारण भाव होता है । मनुष्य के मनुष्य-देहधारी सतान होती है और पशु के पशु-देहधारी । यदि यह नियम न होता तो मनुष्य से पशु और पशु से मनुष्यशरीर भी उत्पन्न हो सकता । महाशय सुधर्मन् ! प्रत्येक जन्तु का जीव जुदा और शरीर जुदा होता है । पूर्व शरीर उत्तर शरीर का कारण हो सकता है पर उत्तर भव का नहीं । भवप्राप्ति का कारण जीवों के शुभ-अशुभ कर्म होते हैं जो जीव जिस प्रकार के भले-बुरे कर्मों से अपनी आत्मा को बाँधता है, वह उसी प्रकार की भली-बुरी गतियों में जाकर उत्पन्न होता है । इसमें उसका पूर्वभविक शरीर कुछ असर नहीं कर सकता । इस भव का मनुष्य शारीरिक मानसिक और वाचिक अशुभ प्रवृत्तियों से अशुभ कर्म बाँध कर नारक और तिर्यंच हो सकता है और शुभ प्रवृत्तियों से मनुष्य और देव भी हो सकता है । इसी तरह इस भव का पशु अशुभ कर्मों से फिर तिर्यंच और नारक हो सकता है और वही तिर्यंच शुभ कर्मों के प्रताप से मनुष्य और देव तक हो सकता है । इससे तुम समझ सकते हो कि प्राणियों का पुनर्जन्म उनके कर्मों पर आधार रखता है शरीर पर नहीं ।

भगवान् महावीर के इस स्पष्टीकरण से सुधर्मा का सदेह निवृत्त हो गया और निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार सुनने के बाद वे अपने छात्र-मडल के साथ श्रमण धर्म की दीक्षा ले भगवान् महावीर के शिष्य हो गये ।

सुधर्मा के बाद मडिक का मानसिक सदेह व्यक्त करते हुए महावीर]

मडिक

बोले—आर्य मडिक ! क्या तुम्हें आत्मा के बन्ध मोक्ष के विषय में शका है ?

मडिक—जी हाँ । मेरी ऐसी मान्यता है कि 'आत्मा' एक स्वच्छ स्फटिक सा पदार्थ है । इसका कर्मों से बन्ध-मोक्ष तथा नये-नये रूपों मे ससार में भटकना बुद्धिमाह्य नहीं हो सकता है । शास्त्र मे भी आत्मा को त्रिगुणातीत, अबद्ध और विभु बताया है । शास्त्र मे लिखा है—"स एष विगुणो विभुर्न बध्यते ससरति वा न मुच्यते मोचयति वा, नवा एष बाह्यमाभ्यन्तर वा वेद'[1] ।"

आप ही कहिये, जो विगुण (सत्त्व-रज-तमोगुणातीत), बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) सुख-दु खों के प्रभावों से परे है, वह किस कारण से कर्म बद्ध होगा ? और जिसका बन्धन ही नहीं, उसके छूटने की तो बात ही कहाँ ? इस प्रकार जो अबद्ध होगा वह ससार-भ्रमण भी किस कारण करेगा ?

महावीर—उक्त श्रुतिवाक्य मे जो आत्मा का स्वरूप वर्णन है वह केवल सिद्ध आत्माओं को ही लागू होता है, ससारी आत्माओं को नहीं ।

मडिक—सिद्ध और ससारी आत्माओं मे क्या भिन्नता है ?

महावीर—यों तो आत्मस्वरूप से सभी आत्मायें एक सी हैं परन्तु उपाधिभेद से उनमे भिन्नता मानी गई है । जो आत्मायें तप ध्यान-योगानुष्ठान से सम्पूर्ण कर्मांशों से मुक्त होकर स्वस्वरूप को पा लेती हैं उनको हम 'सिद्ध' कहते हैं । और जो कर्मयुक्त आत्मायें हैं, शारीरिक मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों द्वारा भले बुरे कर्म कर नाना गतियों मे भ्रमण किया करती हैं, वे ससारी आत्मायें हैं । उक्त वेदवाक्य मे जो विभु आत्मा का निरूपण है वह कर्ममुक्त सिद्धात्माओं को ही लागू होता है क्योंकि उक्त सभी विशेषतायें उन्हीं में विद्यमान होती हैं, ससारी जीवों मे नहीं ।

---

१ इस श्रुति का भाव साख्यकारिका न० ६२ के भाव से मिलता है ।
तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।
ससरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥ साख्यकारिका न० ६२

मंडिक—'सिद्ध' और 'ससारी' दो तरह की आत्माओं की कल्पना करने के बदले सभी आत्माओं को कर्ममुक्त सिद्धस्वरूप मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

महावीर—ससारी आत्माओं को कर्मरहित (तटस्थ) मान लेने पर जीवों मे जो कर्मजन्य सुख दुःख के अनुभव का व्यवहार होता है वह निराधार सिद्ध होगा। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि व्यवहार का आधार जीवों के कर्मफल माने जाते हैं। यदि हम सभी जीवों को कर्मरहित मान लेंगे तो इस सुख दुःख का कारण क्या माना जायगा ?

मडिक—आत्मा को बुद्धि और शरीर से अपना जुदापन ज्ञात न होने से बुद्धि में होनेवाले सुख दुःखजन्य असरों को वह अपने मे मान लेता है और 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि वचनों से उन्हें प्रकट करता है, पर परमार्थ दृष्टि से ये असर आत्मा में नहीं, अन्तःकरण में होता है।

महावीर—तब आत्मा का शरीर और अन्तःकरण के साथ ऐसा कोई गाढ सम्बन्ध होना चाहिये जिससे वह उनमे अपनापन मान लेने की भूल करता होगा।

मडिक—हाँ, ऐसा ही है। दूध मे रहा हुआ घी दूध से भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं दीखता। ऐसे ही आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण वह अपने को भिन्न नहीं समझती और इसी अभेदज्ञान के वश अपने मे बुद्धि द्वारा पड़ते हुए शारीरिक सुख-दुःखों के प्रतिबिंबों को वह अपना सुख दुःख मानकर अपने को सुखी-दुःखी माना करता है।

स्फटिक स्वय उज्ज्वल होता है, फिर भी सन्निधि के कारण लाल, नीला, पीला, काला अनेक रूपों मे दीखता है। यही दशा आत्मा की भी है। स्वय स्वच्छ स्फटिक समान निर्मल होते हुए भी उपाधिवश वह अनेक रूपों मे दीखती है।

महावीर—आत्मा का शरीर अथवा अन्तःकरण के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी को हम 'बन्ध' कहते हैं। आत्मा स्वस्वरूपसे उज्ज्वल है, इसमे कोई विरोध नहीं, पर जब तक वह सकर्मक है, शरीर-

धारी है, तब तक कर्मफल से मलिन है। इस मलिन प्रकृति के कारण नये नये कर्म बाँधती रहती है और उन कर्मों के अनुसार ऊँच नीच गतियों मे भटकती है, यही इसका ससार भ्रमण है।

सुख दु ख की उत्पत्ति अन्त करण मे होती है और अन्त करण ही उसका अनुभव करता है, यह मान्यता भी तर्कसगत नहीं है। ज्ञान चेतन का धर्म है, जड का नहीं। अन्त करण जड पदार्थ है। उसे सुख-दु ख का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। अनुभव का होना तो निर्विवाद है, अत सुख दु ख का अनुभवकर्ता और वचन द्वारा व्यक्तकर्ता तत्त्व अन्त करण से भिन्न है। इसी तत्त्व को हम आत्मा कहते हैं।

जब तक आत्मा को ससार से मुक्त होने का साधन प्राप्त नहीं होता तब तक वह चातुर्गतिक ससार मे भटकता रहता है और अपने कर्मों का फल भोगता रहता है। जिस समय इसे गुरु द्वारा अथवा स्वय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है तब यह मुक्ति के लिये उद्यम करने लगता है और कर्मबन्धनों को क्षय करके वे मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव मडिक, हमारे इस कथन का नीचे लिखे वेदवाक्य से भी समर्थन होता है—

"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीर वा वसन्त प्रियाऽप्रिये न स्पृशत ।"[1]

भगवान महावीर के मुखारविन्द से बन्धमोक्ष की व्याख्या को सुन कर मडिक का अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार सुनकर सपरिवार उनके चरणों में प्रव्रजित हो गया।

मौर्यपुत्र

अब भगवान् महावीर ने मौर्यपुत्र की शंका को प्रकट करते हुए कहा—मौर्यपुत्र। क्या तुम्हें देवों के अस्तित्व मे शका है ?

---

१ यह पाठ छान्दोग्योपिषद् (८४५) में कुछ फेरफार के साथ मिलता है— न ह वै सशरीरस्य सत प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीर वा वसन्त न प्रियाऽप्रिये स्पृशत ॥१॥ अर्थ—'जब तक आत्मा शरीरधारी है इसके सुख दु खों का अन्त नहीं है और शरीर रहित होनेपर सुख दु ख इसका स्पर्श नहीं करते।'

मौर्यपुत्र—जी हाँ, 'देव' नामधारी प्राणियों की कोई स्वतंत्र दुनिया है अथवा विशिष्ट स्थिति सपन्न मनुष्य ही 'देव' कहलाते हैं, इस विषय में मैं सदेहशील हूँ।

इस सम्बन्ध मे शास्त्र की भी एकवाक्यता नहीं। "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुवेरादीन्"[1] इत्यादि शास्त्रवाक्य इन्द्र, यम, वरुण, कुवेरादि देवों को स्वप्नोपम (स्वप्नतुल्य-असत्) बताते हैं और "स एप यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोक गच्छति।"[2] यह श्रुतिवाक्य यजमान को यज्ञ की सहायता से स्वर्गगति की प्राप्ति बताता है। "अपाम सोममममृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मा तृणवदराति, किमु धूर्त्तिरमृत मर्त्त्यस्य"[3] यह वेदवाक्य भी देवलोक का अस्तित्व सूचित करता है। इन परस्पर विरुद्ध वाक्यों से कुछ भी निश्चय नहीं होता।

महावीर—महानुभाव मौर्यपुत्र! "मायोपमान्" इत्यादि श्रुतिवाक्य का वास्तविक अर्थ तुम समझ नहीं पाए। इसीसे तुम शकाकुल हो रहे हो। वस्तुत उक्त श्रुति देवों के अस्तित्व का निषेध नहीं करती बल्कि उनकी अनित्यता सूचित करती है। देव जो कल्पस्थायी दीर्घायुषी होते हैं वे भी आखिर स्वप्न की तरह नामशेष हो जाते हैं, तो मनुष्यादि अल्पजीवियों का तो कहना ही क्या है? इस भाव को प्रतिपादन करने के लिये पूर्वोक्त ऋषिवाक्य प्रयुक्त हुआ है, न कि देवत्व का अभाव बताने के लिये।

मौर्यपुत्र—'देवलोक' नामक एक नयी दुनिया की कल्पना करने

---

१ यह वाक्य किस वैदिक ग्रन्थ का है इसका पता नहीं चला। लेखक ने यह पाठ आवश्यकटीका में से उद्धृत किया है।

२ यह वाक्य हमें वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिला। यहाँ आवश्यकटीका में से उद्धृत किया है।

३ यह श्रुति आवश्यकटीका के अनुसार है। यह श्रुतिवाक्य 'ऋग्वेदसहिता' (८ ४८-३) तथा 'अथर्वशिर उपनिषद्।' (३) में इस प्रकार मिलता है—

अपाम सोमममृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान्
किमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यं च॥"

के वदले यही क्यो न मान लिया जाय कि विशिष्ट स्थिति सपन्न मनुष्य ही 'देव' हैं ?

महावीर—मनुष्यगति वह गति है जहाँ जन्म पाए हुए प्राणी सुख-दु ख मिश्रित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य लोक मे ऐसा कौनसा प्राणी है जो दु ख से अलिप्त केवल सुख मे ही जीवन गुजारता हो ? गर्भावास का दु ख किस मनुष्य ने नहीं भोगा ? शारीरिक और मानसिक पीडाओं ने किस मनुष्य को अछूता छोडा है ? इस मानव ससार मे ऐसा कौन मनुष्य है जो सासारिक इच्छाओं को पूर्ण करके मरा हो ? महानुभाव, मानव ससार की इस अपूर्ण सुख सामग्री को देखकर मानना होगा कि मनुष्य लोक केवल पुण्य-फल भोगने का स्थान नहीं, अत केवल पुण्य का फल भोगने के लिए कोई भिन्न स्थान अवश्य होना चाहिये जहाँ पर उत्पन्न होने वाले जीव दीर्घकाल पर्यन्त केवल सुख ही सुख भोगते हों। यही स्थान 'देवलोक' हैं और इनमे उत्पन्न होकर हजारों, लाखों, करोडों और अरबों खरबों वर्षों से भी अधिक समय तक पुण्य-कर्मों के फल भोगने वाले 'देव'।

हाँ, उत्तम प्रकृति के गुणी मनुष्यों को 'उपचार' से 'देव' कह सकते हैं, पर उत्पत्ति से देव तो वही कहलायेंगे जो स्वर्गलोक मे उत्पन्न होकर मनुष्यों से अनेकगुनी शक्ति और विलक्षण दिव्य कान्ति को धारण करनेवाले होंगे।

भगवान् महावीर के उक्त खुलासे से मौर्यपुत्र की शका निवृत्त हो गई और निर्ग्रंथ प्रवचन का श्रवण करने के उपरान्त वे अपने छात्रमडल के साथ भगवान् के पास दीक्षित हो गए।

अकम्पिक

अब भगवान् अकम्पिक का मनोगत सदेह व्यक्त करते हुए बोले—क्यों अकम्पिक ! तुम्हारे चित्त मे नरक के अस्तित्व के बारे मे सदेह है ?

अकम्पिक—जी हाँ। यद्यपि दार्शनिक लोग 'नरक' नामक एक अगम्य स्थान की कल्पना करते हैं पर मेरी समझ मे तो यह कोरी कल्पना ही है, प्रामाणिक वस्तु नहीं। जिसे विद्वान् लोग 'नरक' कहते

हैं, मेरे विचार से उसका तात्पर्य मनुष्य जीवन की एक निकृष्टतम दशा से है।

महावीर—मनुष्य की निकृष्ट दशा को नरक मानने से कर्मसिद्धान्त का निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्य कितना भी दुःखी क्यों न हो, फिर भी उसमें सुख का अंश रहता ही है। जो जीव जीवन पर्यन्त हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह मे लीन रहते हैं, हजारों के प्राण हरण करते हैं, सैकडों असत्यभाषण करते हैं, लाखों को लूटते हैं, असंख्य अनाचार करते हैं और दुनिया भर के राज्य और परिग्रह इकट्ठा कर उन्हीं प्रवृत्तियों मे अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं उनके लिये क्या निकृष्ट मनुष्यगति अथवा कीट-पतंगादि के जन्म ही पर्याप्त होंगे? ऐसे क्रूर कर्मकारियों का छुटकारा मनुष्य अथवा तिर्यंचगति के दुःखों से ही नहीं हो सकता। उनके कर्मफल भोगने के लिये कोई ऐसा स्थान चाहिये, जहाँ सुख का अंश भी न हो और जहाँ उनके आयुष्य करोड़ों वर्षों और इससे भी अधिक लम्बे हों। इस प्रकार केवल दुःखात्मक स्थान 'नरक' कहलाते हैं।

अकम्पिक—लेकिन 'न ह वै प्रेत्य नरके नारका सन्ति।'[1] इस प्रकार के वचनों से तो यही सिद्ध होता है कि 'मरकर नरक में नारक नहीं होते' फिर नरक की कल्पना क्यों करना चाहिये।

महावीर—शास्त्र में नरक का प्रतिपादन भी तो किया है। 'नारको वै एष जायते य शूद्रान्नमश्नाति।'[2] इस वेदवाक्य मे शूद्र का अन्न खानेवाले को नारक होना लिखा है।

अकम्पिक—परस्पर विरुद्ध वाक्यों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है?

महावीर—इन वाक्यों मे वास्तविक कोई विरोध नहीं है। प्रथम शास्त्रवाक्य नरकगति से निकलनेवाले जीवों को लक्ष्य करके कहा गया

---

१ यह वचन किस वैदिक ग्रन्थ का है, इसका पता नहीं लगा।

२ यह वेदपद किस ग्रन्थ का है, इस पता नहीं लगा। लेखक ने यह पाठ आवश्यकटीका से उद्धृत किया है।

के नारक मरकर नरक मे जन्म नहीं लेता। इसी भाव को लक्ष्य मे कर प्रथम वाक्य में नरक में 'नारकों' की उत्पत्ति का निषेध किया अन्य जीवों की उत्पत्ति का नहीं।

भगवान् के इस विवेचन से अकम्पिक का 'नरक' विषयक सदेह प्त हो गया और वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार पाकर भगवान् के छात्रमण्डल के साथ प्रव्रजित हो गया।

अचलभ्राता

पडित अचलभ्राता की शका को प्रकट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—पडित! क्या तुम्हें पुण्यपाप के अस्तित्व के विषय मे शका है?

अचलभ्राता—जी हाँ। एक ओर तो शास्त्र मे 'पुरुप एवेद ग्नि सर्व भूत यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' इत्यादि ति से पुरुषाऽद्वैत का प्रतिपादन किया गया है और दूसरी ओर 'पुण्य येन पाप पापेन-कर्मणा।"[1] आदि वेद वाक्य पुण्य पाप का अस्तित्व द्ध करते हैं।

इन विविध वाक्यों से यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि य पाप कोई वास्तविक पदार्थ हैं या कल्पना मात्र?

महावीर—"पुरुप एवेद" इत्यादि वेद वाक्य अर्थवाद मात्र हैं। से पुरुप का महत्त्व मात्र स्थापित होता है न कि अन्य तत्त्वों का अभाव ण्य पुण्येन' इत्यादि वाक्य कोई औपचारिक वचन नहीं, सैद्धान्तिक चन है। पुनर्जन्म और कर्मतत्त्व का अस्तित्व इसमे गर्भित है जो र्कसगत और व्यवहारिक वस्तु है।

अग्निभूति के सामने जिस प्रकार पुरुषाऽद्वैतवाद का खोखलापन द्ध किया था उसी तरह अचलभ्राता के आगे भी पुरुषाद्वैतवाद का रसन करके भगवान् ने पुण्य पाप का अस्तित्व सिद्ध कर दिया। ससे अचलभ्राता का सदेह दूर हुआ और निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार नकर उन्होंने भी अपनी छात्र मडली के साथ भगवान् महावीर के स प्रव्रज्या ग्रहण की।

---

१ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेनेति। बृहदारण्यकोपनिषद् ५६०।
पुण्य पुण्येन कर्मणा ... । बृहदारण्यकोपनिषद् ६३२।

पडित मेतार्य को पुनर्जन्म के सवन्ध मे शका थी। 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उसके दिल मे परलोकवाद में सशय हो रहा था। यदि भूतपरिणाम ही चेतन है तो उनके विनाश के साथ ही उसका विनाश भी निश्चित है। इस प्रकार के विचारों से मेतार्य का चित्त भौतिकवाद की तरफ आकृष्ट हो रहा था। भगवान् महावीर ने 'वेदवाक्य' का वास्तविक अर्थ समझाकर भौतिकवाद का खण्डन किया और भूतातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करके पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मेतार्य

इस अमृतवाणी से मेतार्य के सब सशय दूर हुए और वह भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ भगवान् महावीर के श्रमण परिवार में सम्मिलित हो गए।

अन्त मे भगवान् महावीर ने विद्वान् प्रभास का मनोगत सशय व्यक्त करते हुए कहा—क्यों प्रभास! तुम्हें मोक्ष के विषय मे सदेह है?

प्रभास

प्रभास—जी हाँ। मोक्ष के विषय मे मेरे मन मे शका है। मोक्ष का अर्थ यदि कर्मों से मुक्त होना है तो यह असभव है, क्योंकि जीव और कर्मों का सवध अनादि है अत उसे अनन्त भी होना चाहिये—जो अनादि है वह अनन्त भी है जैसे आत्मा। वेद में भी मोक्ष का कोई विधान भी नहीं है शास्त्र मे तो "जरामर्यं वा यदग्निहोत्रम्'।"[1] इत्यादि वचनों से जीवन पर्यन्त के लिये अग्निहोत्र ही विधेयकर्म लिखा है। यदि मोक्ष कोई वास्तविक पदाथ होता तो उसकी सिद्धि के लिये भी अवश्य कोई अनुष्ठान विहित होता।

महावीर—अनादि वस्तु अनन्त भी होनी ही चाहिये ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है।

सुवर्णादि खनिज पदार्थ अनादिकाल से मृत्तिकादि से सम्बद्ध होते

१ यह वाक्य आवश्यकटीका से लिया गया है। यह श्रुतिवाक्य नारायणोपनिषद् (२९३) में इस प्रकार मिलता है—"एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्र सत्रम्।" "तैत्तिरीयारण्यक" (१०-६४) तथा महानारायणोपनिषद् (२५) में यह पाठ है—"जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्।"

हुए भी अग्नि आदि के संयोग से निर्मल हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनादि काल से कर्मफल से सम्बद्ध होते हुए ज्ञान ध्यान आदि उपकरणों की सहायता से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह हो सकता है कि कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक-ऋचाओं में मोक्ष तथा उसके साधन का विधान न हो परन्तु वेद के ही अन्तिम भाग, उपनिषदों में तो इसके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपर च, तत्र पर सत्य ज्ञान अनन्तर ब्रह्म'[1] इत्यादि वाक्यों द्वारा वैदिक ऋषियों ने 'ब्रह्म' अथवा 'अनन्त ब्रह्म' के नाम से जिस तत्त्व का निर्देश किया है, उसीको हम 'निर्वाण' अथवा 'मुक्तावस्था' कहते हैं।

उक्त विवेचन से प्रभास की निर्वाण विषयक शका दूर हो गई। वह भी अपने छात्रमण्डल के साथ निर्ग्रंथ प्रवचन की दीक्षा ले भगवान् के श्रमणसघ मे सम्मिलित हो गया।

इस प्रकार मध्यमा के समवसरण (धर्मसभा) में एक ही दिन में ४४११ ब्राह्मणों ने निर्ग्रंथ प्रवचन को स्वीकार कर देवाधिदेव भगवान् महावीर के चरणों में नतमस्तक हो श्रामण्य धर्म को अगीकार किया।

भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति आदि प्रमुख ग्यारह विद्वानों को अपने मुख्य शिष्य बनाकर उन्हे 'गणधर' (समुदाय के नायक) पद से सुशोभित कियों और उनकी छात्रमण्डलियों को उन्हीं के शिष्य रहने की आज्ञा दी।

---

१ आवश्यकटीका मे उक्त वाक्य है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१८२) में—"सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म।" और मुण्डकोपनिषद् (११९) में—"तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो।वदन्ति परा चापरा च॥ १-४॥" ये वाक्य मिलते हैं।

२ ग्यारह मे से नौ गणधर तो भगवान् महावीर के जीवनकाल मे ही मुक्त हुए और इन्द्रभूति गौतम ने भी भगवान् के निर्वाण के दिन केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अन्त में सभी गण दीर्घजीवी सुधर्मा के सरक्षण में ही रहे।

इन्द्रभूति आदि विद्वानों और उनकी छात्र मण्डली के अ
अनेक नर-नारियों ने भगवान् महावीर का दिव्य उपदेश सु
संसार से विरक्त होकर श्रमणधर्म अंगीकार किया।

जिन श्रद्धालु व्यक्तियों ने अपने को श्रमणधर्म के लिए
पाया उन्होंने गृहस्थधर्म स्वीकार कर श्रमणोपासक तथा श्रमणो
रूप में भगवान् के संघ में प्रवेश किया।

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ला
के दिन मध्यमानगरी के महासेन नामक उद्यान में साधु-
श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ की स्थापना की।

इसके पश्चात् भगवान् महावीर ने सपरिवार राजगृह
प्रस्थान किया।

राजगृह में, जो उस समय सपन्न नगरों में से एक था,
राजा श्रेणिक राज्य करते थे। इनके अनेक रानियाँ और राजकु
सबसे छोटी रानी चेल्लना भगवान् महावीर के मामा वैशालीपति
की पुत्री और जैन श्रमणोपासिका (श्राविका) थी। राजकु
अभयकुमार आदि भी निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुयायी थे। ना
सुलसा आदि दूसरे भी अनेक राजगृह निवासी निर्ग्रंथ प्रवच
माननेवाले थे। इन सब बातों को ध्यान में रखकर भगवान्
मध्यमा से विहार करते हुए राजगृह के गुणशील चैत्य में जाकर

भगवान् के आगमन का समाचार राजगृह के कोने-कोने
गया। परिणामस्वरूप राजा श्रेणिक, राजपरिवार, राजकर्मचारी
साहूकार और साधारण प्रजागण गुणशील चैत्य की तरफ च
कुछ ही समय में हजारों मनुष्यों की भीड़ से उद्यान भर गया।
भगवान् को वन्दन कर उपदेश श्रवण करने के लिए यथास्थान बै

देवनिर्मित समवसरण में ऊँचे आसन पर बैठकर भगवान्
ने उस महती सभा में हृदयग्राही धर्मोपदेश दिया। भगवान्
लाया कि अनादि अनन्त संसार में भटकते हुए जीव को म
धर्मश्रवण, सत्यश्रद्धा तथा संयमवीर्य—ये चार पदार्थ

से प्राप्त होते हैं। ये चारों मोक्षप्राप्ति में सहायक बनते हैं, अत इनसे यथोचित लाभ उठाना हर एक व्यक्ति का कर्तव्य है।

मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक-गतिरूप यह ससार एक रग-भूमि है। इसमें ससारी जीव अपने कर्मों के अनुसार कभी मनुष्य कभी देव कभी तिर्यञ्च और कभी नारक के रूप मे प्रकट होते हैं और क्षणिक लीला दिखा कर चले जाते हैं। इस ससार-नाटक का कभी अन्त नहीं होता और इसके पात्रों को कभी विश्राम नहीं मिलता। इस अनन्त-कालीन नाटक मे जीवों का सब से अधिक समय तिर्यञ्चगति मे गया, उससे कम देव और नारकगति के रूपों में और सब से कम मनुष्यगति के रूप धारण करने मे व्यतीत हुआ है।

मनुष्यत्व

मानव भव दुर्लभ है। आत्मा की मुक्ति मनुष्य भव मे—केवल मनुष्य भव मे ही होती है। देव भव पुण्य फल भोग की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है पर आत्महित की दृष्टि से वह मनुष्य भवका मुकाबला नहीं कर सकता। तिर्यञ्च और नारक भव प्राय पाप फल भोगने के स्थान होने से इन गतियों के जीव आत्मिक उन्नति करने मे असमर्थ होते हैं।

धर्मश्रवण

अनन्तकाल तक भटकते-भटकते कभी जीव को मनुष्य भव तो नसीब हो जाता है। परन्तु जब तक उसे धर्मश्रवण आदि विशिष्ट सामग्री नहीं मिलती, तब तक केवल मनुष्य भव हितसाधक नहीं हो सकता। अनार्य मनुष्य ही होते हैं पर उनके जीवन का क्या उपयोग है? 'धर्म' के कुछ अक्षर भी जिनके कानों मे नहीं पडते वे मनुष्य होकर भी क्या आत्महित कर सकते हैं? अनार्यों को स्वभावत धर्मश्रवण दुर्लभ होता है, पर आर्य नामधारी सब मनुष्य भी श्रवण के अधिकारी नहीं होते। प्रमाद, लोभ, भय, अहकार, अज्ञान और मोह आदि अनेक कारणों के वश कुलीन आर्यों को भी धर्मश्रवण नसीब नहीं होता। जिनके अन्तराय कर्म विवर होते हैं, जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म क्षयोपशम को प्राप्त होते हैं वे ही जीव धर्मश्रवण कर सकते हैं।

धर्मश्रवण करने वाले सभी श्रद्धालु नहीं होते। धर्मतत्त्व को सुन कर भी सभी उस पर विश्वास नहीं लाते। कुछ व्यक्ति कुल-धर्म के राग से, कुछ सत्यधर्म के द्वेष से, कुछ तत्त्व को न समझने से और कुछ मतवादियों के बहकावे में आकर श्रवण किये तत्त्व पर श्रद्धा नहीं लाते। सत्य पर सत्यता की और असत्य पर असत्यता की बुद्धि नहीं करते। परिणामत उनका तत्त्वश्रवण निष्फल जाता है।

सत्य श्रद्धा

जिनके भवभ्रमण का अन्त निकट आ गया हो, अन्तरंग नेत्र खुल गये हों और आत्मिक सुख प्राप्ति का समय मर्यादित हो गया हो उन्हीं योग्य प्राणियों के हृदय में सत्यधर्म की छाप पड़ती है, उन्हीं के चित्त में ज्ञानी का उपदेश श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है।

ससार की अनन्त जीवराशि में मनुष्य बहुत कम हैं, मनुष्यों में धर्मश्रोता बहुत कम, श्रोताओं में श्रद्धालु बहुत कम और श्रद्धालुओं में भी संयममार्ग में प्रवृत्ति करने वाले सब से कम। वे सुनते तो हैं और श्रद्धा भी करते हैं पर उस मार्ग पर चलना खड्गधारा के ऊपर चलने से भी कठिन समझते हैं। वे कहते ही नहीं, हृदय से मानते भी हैं कि ससार असार है, कुटुम्ब मेला क्षणिक है, फिर भी वे ससार, कुटुम्ब और विषय का त्याग करने का पुरुषार्थ नहीं करते।

संयम-वीर्य

भगवान् ने कहा—देवानुप्रियो! जब तक तुम सयम मार्ग में अग्रसर न होगे तब तक कर्मक्षय कर मुक्ति के निकट न पहुँचोगे और शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टों से छुटकारा नहीं पा सकोगे।

सयमपथ के पथिक को सर्वप्रथम सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को पहचान कर उनमें दृढ श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये और फिर पच-महाव्रतात्मक धर्म का पालन कर विशुद्ध सयमी बनना चाहिये—

मुनिधर्म

१ प्राणातिपात विरमण—सूक्ष्म स्थूल सभी प्रकार के जीवों की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग।

२ मृषावाद विरमण—मनसा वाचा कर्मणा असत्य भाषण करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग ।

३ अदत्तादान विरमण—मन वचन काय से परकीय वस्तु लेने लिवाने और अनुमोदन करने का त्याग ।

४ मैथुन विरमण—मन वचन काय से मैथुन सेवन (विषय भोग) करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग।

५ परिग्रह विरमण—मन वचन काय से धन धान्यादि बाह्य और रागद्वेषादि आभ्यन्तरिक परिग्रह ग्रहण करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग ।

इन महाव्रतों का पालन करने वाले संयमी 'सर्वविरत' श्रमण संसार-भ्रमण का अन्त कर शीघ्र ही सात-आठ भवों के अंदर कर्ममुक्त होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं ।

जो मनुष्य उपर्युक्त पंच-महाव्रतात्मक धर्ममार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते, पुरुषार्थ की कमी के कारण अपनी आत्मा को सर्वविरति चारित्र के लायक नहीं पाते वे गृहस्थाश्रम में रह कर देश-विरति धर्म से भी अपनी आत्मशुद्धि कर सकते हैं। देश विरत संयमी 'श्राद्ध' अथवा 'श्रमणोपासक' कहलाते हैं। श्रमणोपासक को द्वादश-व्रतात्मक देशविरति धर्म का पालन करना चाहिये—

गृहस्थ धर्म

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण—त्रस (चलते फिरते) जीवों की निष्कारण हिंसा न करना ।

२ स्थूल मृषावाद विरमण—स्थूल झूठ न बोलना ।

३ स्थूल अदत्तादान विरमण—जिसके लेने से चोर कहलाएँ ऐसी दूसरे की चीज स्वामी की आज्ञा बिना न लेना ।

४ स्वस्त्री संतोष परस्त्री विरमण—परस्त्री गमन का त्याग स्वस्त्री गमन का नियमन ।

५ परिग्रह परिमाण—चल-अचल सचित्त-अचित्त सभी प्रकार की संपत्ति का नियमन ।

६ दिक्परिमाण—सभी दिशाओं में जाने आने का नियमन।

७ भोगोपभोग परिमाण—खान-पान, मौज-शौक और औद्योगिक प्रवृत्तियों का नियमन।

८ अनर्थ दण्ड विरमण—निरर्थक प्रवृत्तियों का त्याग।

९ सामायिक—प्रतिदिन कम से कम मुहूर्त पर्यन्त सासारिक प्रवृत्तियों को छोड़ कर समभाव निवृत्ति मार्ग मे स्थिर होना।

१० देशावकाशिक—स्वीकृत मर्यादाओं का कम करना।

११ पौषधोपवास—अष्टमी चतुर्दशी आदि के दिनों मे सासारिक प्रवृत्तियों को छोड़कर आठ पहर तक धार्मिक जीवन बिताना।

१२ पौषधोपवास को समाप्ति पर श्रमण आदि अतिथि को आहार आदि का दान देना।

उक्त १२ नियम गृहस्थों के द्वादश व्रत कहलाते हैं। इन नियमों को पालनेवाला 'श्रमणोपासक' क्रमश आत्मशुद्धि करता हुआ मुक्ति के निकट पहुँचता है और भवान्तर में श्रमणधर्म की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जिन मनुष्यों मे श्रमण तथा श्रमणोपासक धर्म के पालन करने का सामर्थ्य नहीं उन्हें भी अपनी चित्तभूमि मे सुदेव सुगुरु-सुधर्म रूप तत्त्वत्रयी मे श्रद्धा बनाये रखना चाहिये, जिस तरह मार्ग स्थित कमजोर आदमी भी कभी न कभी इष्ट स्थान को पा लेता है उसी तरह श्रद्धावान जीव अव्रती भी मार्गाभिमुख रह कर कभी न कभी इष्ट स्थान को जरूर पाता है।

भगवान् महावीर की तात्त्विक देशना से प्रभावित होकर सभाजनों में से राजकुमार मेघ, नन्दीषेण आदि अनेक पुरुषों ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली, राजकुमार अभय और सुलसा आदि अनेक स्त्री-पुरुषों ने गृहस्थधर्म स्वीकार किया और राजा श्रेणिक आदि अनेक मनुष्यों ने भगवान् के प्रवचन पर श्रद्धा प्रकट की।

उस साल का वर्षा-चातुर्मास्य भी भगवान् ने राजगृह में ही बिताया और अनेक मनुष्यों को धर्मपथ पर लाकर उनका उद्धार किया।

वर्षाकाल व्यतीत होने पर श्रमण भगवान् ने राजगृह से विदेह की

ओर विहार किया। अनेक गाँवो नगरों मे धर्म-प्रचार करते हुए भगवान् महावीर ब्राह्मण कुण्ड पहुँचे और नगर के बाहर बहुसाल उद्यान मे मुकाम किया।

१४–चौदहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९९–४९८)

बहुसाल चैत्य ब्राह्मण-कुण्ड के निकट तो था ही, पर वह उनके जन्म-स्थान क्षत्रिय कुण्डपुर से भी दूर नहीं था। भगवान् के बहुसाल मे पधारने के समाचार दोनों कुण्डपुरों मे पवन वेग से पहुँचे और हजारों दर्शनार्थियों से बहुसाल चैत्य का मैदान भर गया।

श्रमण भगवान् महावीर ने गभीर ध्वनि से जो धर्मदेशना की उसे सुनकर श्रोताओ के हृदयपट खुले गये। बहुतों ने श्रमणधर्म स्वीकार किया, बहुतों ने गृहस्थधर्म के नियम धारण किये और बहुत से लोग निर्ग्रन्थ प्रवचन के श्रद्धालु हुए।

श्रमण भगवान् की इस धर्मसभा मे श्रमणधर्म स्वीकार करनेवालों मे जमालि, ऋषभदत्त ब्राह्मण तथा उनकी सहधर्मिणी देवानन्दा के नाम उल्लेखनीय हैं।

जमालि क्षत्रियकुण्डपुर का क्षत्रियकुमार था। भगवान् महावीर के उपदेशामृत का पान कर वह इस असार ससार से विरक्त हो गया और पाँच सौ साथियों के साथ प्रव्रजित हो मोक्षमार्ग की साधना करने लगा।

ऋषभदत्त ब्राह्मणकुण्ड के एक प्रतिष्ठित कोडालगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी धर्मपत्नी जालधरगोत्रीय देवानन्दा ब्राह्मणी थीं। ऋषभदत्त और देवानन्दा ब्राह्मण होते हुए भी जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों के ज्ञाता श्रमणोपासक थे। बहुसाल मे भगवान महावीर का आगमन सुनकर ऋषभदत्त बहुत खुश हुए। यह खुशखबरी देवानन्दा को सुनाते हुए वे बोले—देवानुप्रिये! सर्वज्ञ भगवान् महावीर आज अपने नगर के परिसर में पधारे हैं। ऐसे ज्ञानी और तपस्वी अर्हन्तों का नामश्रवण भी फलदायक होता है तो सामने जाकर विनय, वन्दन-नमस्कार, सेवा और धार्मिक चर्चा करने का तो कहना ही क्या! प्रिये! चलें हम भी भग-

ऋषभदत्त तथा
देवानन्दा की दीक्षा

वान् महावीर का वन्दन नमस्कार और सेवाभक्ति करें। यही कार्य हमारे ऐहिक तथा पारलौकिक हित और कल्याण के लिए होगा।

स्वामी के मुख से उक्त प्रस्ताव सुनकर देवानन्दा को बड़ा संतोष हुआ और सहर्ष पति के वचनों का समर्थन किया।

ऋषभदत्त ने सेवकजनों को रथ तैय्यार करने को कहा। वे स्वामी की आज्ञा पाते ही अत्युत्तम रथ को तैय्यार करके तुरन्त उपस्थानशाला में ले आए।

ऋषभदत्त और देवानन्दा दोनों ने स्नान करके अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण पहने और दास दासियों के परिकर के साथ उपस्थानशाला में जाकर रथ में बैठे। रथ ब्राह्मणग्राम के मध्य भाग में होता हुआ बहुसाल में पहुँचा। भगवान् की धर्मसभा दृष्टिगोचर होते ही रथ ठहरा लिया गया और दोनों पति-पत्नी आगे पैदल चले। विधिपूर्वक सभा में जा कर वन्दन नमस्कार करके सभा में बैठ गये।

देवानन्दा निर्निमेष नेत्रों से महावीर को देख रही थीं। उसके नेत्र विकसित हो रहे थे, स्तनों से दूध का स्राव हो रहा था, रोमाञ्च से उसका सारा शरीर पुलकित हो उठा था। देवानन्दा के इन शारीरिक भावों को देखकर गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन्! आपके दर्शन से देवानन्दा का शरीर पुलकित क्यों हो गया? इनके नेत्रों में इस प्रकार की प्रफुल्लता कैसे आ गई और इनके स्तनों से दुग्धस्राव क्यों होने लगा?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! देवानन्दा मेरी माता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ। देवानन्दा के शरीर में जो भाव प्रकट हुए उनका कारण पुत्रस्नेह है।

इसके बाद भगवान् ने उस महती सभा के सामने धर्मोपदेश किया। सभा के विसर्जित होने के बाद ऋषभदत्त उठा और भगवान् को नमस्कार कर बोला—भगवन! आपका कथन यथार्थ है। मैं आपके धर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। प्रभो, स्वीकृति दीजिए।

स्वीकृति मिलने पर ऋषभदत्त वहाँ से ईशानदिशा विभाग की ओर कुछ दूर हटे। वहाँ वस्त्राभूषण पुष्पमाला आदि का त्याग कर तथा

पञ्चमुष्टिक लोच कर भगवान् के समीप आए और वन्दन कर बोले—भगवन्! यह ससार जल रहा है—जरामरण रोगशोकादि विपदाओं की आग से यह ससार चारों ओर से प्रज्वलित हो रहा है। निस्तारक प्रभो! इस आग से मुझे बचाइये।

भगवान् ने प्रव्रज्या देकर ऋषभदत्त को अपने श्रमणसघ में प्रविष्ट कर लिया। स्थविरों के पास ज्ञान और क्रिया का अभ्यास करते करते ऋषभदत्त अनगार एकादशागधारी तपस्वी स्थविर हुए और बहुत वर्षों तक तप सयम का आराधन करने के उपरान्त अनगार ऋषभदत्त ने मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

देवानन्दा ने भी उसी सभा मे प्रतिबोध पाकर दीक्षा ली और आर्या चन्दना की आज्ञा मे रहते हुए एकादशांगी का अध्ययन किया और नानाविध तप-जप से कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर की पुत्री ने भी—जो जमालि से व्याही थी—इसी वर्ष एक हजार स्त्रियों के साथ आर्या चन्दना के पास दीक्षा ले भगवान् के श्रमणीसघ मे प्रवेश किया।

लगभग वर्षभर भगवान् ने विदेह मे विहार किया और वर्षा चातुर्मास्य वैशाली में विताया।

१५ पदरहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९८–४९७)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् महावीर ने वैशाली से वत्सभूमि की ओर विहार किया। मार्ग मे अनेक स्थानों मे धर्म-प्रचार करते करते वे कौशाम्बी पहुँचे और नगर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में वास किया।

कौशाम्बी के तत्कालीन राजा का नाम उदयन था। उदयन वत्स-देश के प्रसिद्ध राजा सहस्रानीक का पौत्र तथा राजा शतानीक का पुत्र और वैशालीपति चेटक का दोहता होता था। वह अभी नाबालिग था। अत राज्य का प्रबन्ध उसकी माता मृगावती देवी प्रधानों की सलाह से करती थी।

---

१ भगवतीसूत्र श० ९। उ० ३३। प० ४५६–४५८।

उस समय कौशाम्बी मे जयन्ती नामक एक जैन-श्राविका की बड़ी प्रसिद्धि थी। जयन्ती कौशाम्बी के स्वर्गीय राजा सहस्रानीक की पुत्री, शतानीक की बहन और उदयन की फूफी लगती थी। वह आर्हतधर्म की अनन्य उपासिका और धर्म की जानकार थी। वैशाली की तरफ से कौशाम्बी आनेवाले आर्हतश्रावक बहुधा इसीके यहाँ ठहरा करते थे। इस कारण वह 'वैशाली के आर्हतश्रावकों की प्रथम स्थानदात्री' के नाम से अधिक प्रसिद्ध थी।

भगवान् महावीर के आगमन से राजा-प्रजा सब आनन्दित हुए। कौशाम्बीपति राजा उदयन ने राज-परिवार, नौकर-चाकर और फौज-फाटे के साथ बड़े भारी जुलूस के रूप में चन्द्रावतरण चैत्य की तरफ प्रयाण किया। राजमाता मृगावती देवी, जयन्ती आदि कुलीन स्त्रियाँ भी अपने-अपने परिकर के साथ रथों में बैठ भगवान् के वन्दनार्थ जुलूस के साथ चलीं। सब ने समवसरण के समीप पहुँचकर सवारियों का त्याग किया और सभा में पहुँचे, वन्दन करने के उपरान्त धर्मश्रवण की इच्छा से सब योग्य स्थानों पर बैठ गये। भगवान् महावीर ने उस बृहत्सभा में देर तक धर्मोपदेश किया जिसे सुनकर सभाजन परम सतुष्ट हुए और पुन भगवान् को वन्दन कर अपने-अपने घर लौटे।

जयन्ती के प्रश्नोत्तर

सभा विसर्जित हो जाने पर भी जयती अपने परिवार के साथ वहीं ठहरी रहीं। अवसर पाकर धार्मिक चर्चा शुरू करते हुए जयन्ती ने पूछा—भगवन्! जीव भारीपन को कैसे प्राप्त होते हैं?

महावीर—जयन्ती! जीवहिंसा, असत्य वचन, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि अठारह पापस्थानकों के सेवन से जीव भारीपन को प्राप्त होते हैं और चारों गतियों मे भटकते हैं।

जयन्ती—भगवन्! भवसिद्धिकता (मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता) जीवों को स्वभाव से ही प्राप्त होती है या अवस्था विशेष से?

महावीर—भवसिद्धिकता स्वभाव से ही होती है, अवस्था विशेष से नहीं। जो जीव भवसिद्धिक हैं वे अपने स्वभाव से ही वैसे

हैं तथा रहेंगे और जो भवसिद्धिक नहीं, वे किसी भी अवस्था में—किसी भी उपाय से, भवसिद्धिक नहीं हो सकते।

जयन्ती—भगवन्! क्या सब भवसिद्धिक मोक्षगामी हैं?

भगवान्—हाँ, जो भवसिद्धिक हैं वे सब मोक्षगामी हैं।

जयन्ती—भगवन्! यदि सब भवसिद्धिक जीवों की मुक्ति हो जायगी तब तो यह संसार कालान्तर में भवसिद्धिक जीवों से रहित ही हो जायगा।

महावीर—नहीं, जयन्ती! ऐसा नहीं हो सकता। जैसे सर्वाकाश प्रदेशों की श्रेणि में से कल्पना से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश कम करने पर भी आकाश प्रदेशों का कभी अन्त नहीं होता, इसी प्रकार भवसिद्धिक अनादिकाल से सिद्ध हो रहे हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे। फिर भी वे अनन्तानन्त होने से समाप्त नहीं होंगे और संसार कभी भी भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं होगा।

जयन्ती—भगवन्! ऊँघना अच्छा है या जागना?

महावीर—कुछ जीवों का ऊँघना अच्छा है और कुछ का जागना।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे? दोनों बातें अच्छी कैसे हो सकती हैं?

महावीर—अधर्म के मार्ग पर चलनेवाले, अधर्म का आचरण करनेवाले और अधर्म से अपनी जीविका चलानेवाले जीवों का ऊँघना ही अच्छा है, क्योंकि ऐसे जीव जब ऊँघते हैं तब बहुत से जीवों की हिंसा करने से बचते हैं तथा बहुतेरे प्राणियों को त्रास पहुँचाने में असमर्थ होते हैं। वे सोते हुए अपने को तथा अन्य जीवों को दुःख नहीं पहुँचा सकते अतः ऐसे जीवों का सोना ही अच्छा है। और जो जीव धार्मिक, धर्मानुगामी, धर्मशील, धर्माचारी और धर्मपूर्वक जीविका चलानेवाले हैं उन जीवों का जागना अच्छा है। कारण, जागते हुए वे किसी को दुःख न देते हुए अपने को तथा अन्य जीवों को धर्म में लगाकर सुखी और निर्भय बनाते हैं, अतः ऐसे जीवों का जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन्! जीवों की सबलता अच्छी या दुर्बलता?

महावीर—कुछ जीवों की सबलता अच्छी है और कुछ की दुर्बलता।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे?

महावीर—जयन्ती! जो जीव अधर्मी, अधर्मशील और अधर्म-

जीवी हैं उनकी दुर्बलता अच्छी है, क्योंकि ऐसे जीव दुर्बल होने से दूसरों को त्रास देने मे और अपनी आत्मा को पापों से मलिन बनाने में विशेष समर्थ नहीं होते। जो जीव धर्मिष्ठ, धर्मशील, धर्मानुगामी और धर्ममय जीवन बितानेवाले हैं उनकी सबलता अच्छी है। कारण, ऐसे जीव सबल होने पर भी किसी को दुःख न देते हुए अपना तथा औरों का उद्धार करने में अपने बल का उपयोग करते हैं।

जयन्ती—भगवन्! सावधानता अच्छी या आलस्य ?

महावीर—बहुत से जीवों की सावधानता अच्छी है और बहुतों का आलसीपन।

जयन्ती—भगवन्! दोनों बातें अच्छी कैसे ?

महावीर—जो जीव अधर्मी, अधर्मशील और अधर्म से जीनेवाले हैं उनका आलसीपन ही अच्छा है, क्योंकि ऐसा होने से वे अधर्म का अधिक प्रचार न करेंगे। इसके विपरीत जो जीव धर्मी, धर्मानुगामी और धर्मसे ही जीवन बितानेवाले हैं उनकी सावधानता अच्छी है, क्योंकि ऐसे धर्मपरायण जीव सावधान होने से आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध, तपस्वी, बीमार तथा बाल आदि का वैयावृत्त्य (सेवा-शुश्रूषा) करते हैं, कुल, गण, सघ तथा साधर्मिकों की सेवा मे अपने को लगाते हैं और ऐसा करते हुए वे अपना तथा औरों का भला करते हैं।

जयन्ती—श्रवणेन्द्रिय के वश मे पड़े हुए जीव क्या बाँधते हैं ? (किस प्रकार के कर्म बाधते हैं ?)

महावीर—जयन्ती! श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत जीव आयुष्य को छोड शेष सातों ही कर्म-प्रकृतियाँ बाँधते हैं। पूर्वबद्ध शिथिलबन्धन को दृढ़ बन्धन और लघु स्थितिकों को दीर्घस्थितिक कर देते हैं, इस प्रकार कर्मों की स्थिति को बढ़ाकर वे चतुर्गतिरूप ससार मे भटका करते हैं।

जयन्ती ने इसी प्रकार चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत जीवों के सबध मे प्रश्न भी पूछे और भगवान् ने उन सब के सम्बन्ध में यही उत्तर दिया।

प्रश्नोत्तरों से जयन्ती को पूर्ण सतोष हुआ। उसने हाथ जोड़कर

कहा—भगवन ! कृपया मुझे प्रव्रज्या देकर अपने भिक्षुणीसघ मे दाखिल कीजिये ।

श्रमण भगवान् ने जयन्ती की प्रार्थना को स्वीकृत किया और उसे सर्वविरति सामायिक की प्रतिज्ञा एव पच महाव्रत प्रदान कर भिक्षुणी सघ मे दाखिल कर लिया[1] ।

वत्सभूमि से भगवान् ने उत्तरकोसल की तरफ विहार किया और अनेक गॉव-नगरो मे निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश देते हुए श्रावस्ती पहुँचे । श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे आपका जो उपदेश हुआ, उसके फलस्वरूप अनेक गृहस्थ जैनसघ मे दाखिल हुए । अनगार सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ आदि की दीक्षायें भी इसी अवसर पर हुई थीं ।

कोसल प्रदेश से विहार करते हुए श्रमण भगवान् फिर विदेहभूमि मे पधारे । यहाँ वाणिज्यग्राम-निवासी गाथापति आनन्द और उनकी स्त्री शिवानन्दा ने आपके समीप द्वादशव्रतात्मक गृहस्थधर्म स्वीकार किया ।

इस साल का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने वाणिज्यग्राम मे व्यतीत किया ।

१६—सोलहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९७-४९६)

वाणिज्यग्राम से शीतकाल मे विहार कर भगवान् ने फिर मगधभूमि मे प्रवेश किया । अनेक नगरों मे ठहरते तथा उपदेश करते आप राजगृह के गुणशील चैत्य मे पधारे । राजगृह के राजा, रानी तथा राजकुमार आदि राजपरिवार और इतर नागरिक जन भगवान् के धर्मोपदेश का लाभ लेने के लिए वहा उपस्थित हुए ।

काल प्रमाण

इसी अवसर पर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् से काल विषयक एक प्रश्न पूछा—भगवन् ! एक मुहूर्त मे कितने उच्छ्वास होते हैं ?

महावीर—गौतम ! असख्यात 'समयो' का समुदाय एक 'आवलिका' कहलाती है । सख्यात आवलिकाओं का एक 'उच्छ्वास' और उतनी ही अवलिकाओं का एक 'नि श्वास' होता है । सशक्त तथा

१ (भगवती श० १२, उ० २, प ५५६-५५८)

नीरोग मनुष्य के एक श्वासोच्छ्वास को 'प्राण' कहते हैं और इस प्रकार के सात प्राणों का एक 'स्तोक', सात स्तोकों का एक 'लव' और ७७ लवों का एक 'मुहूर्त' कहा है। इस प्रकार एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

तीस मुहूर्तों का एक 'अहोरात्र' (रात-दिन) होता है।
पंद्रह अहोरात्र = एक 'पक्ष'।
दो पक्ष = एक 'मास'।
दो मास = एक 'ऋतु'।
तीन ऋतु = एक 'अयन'।
दो अयन = एक 'संवत्सर' (वर्ष)।
पाँच संवत्सर = एक 'युग'।
बीस युग = सौ वर्ष।
दस सौ वर्ष = एक 'हजार'।
सौ हजार वर्ष = एक 'लाख'।
चौरासी लाख वर्ष = एक 'पूर्वांग'।
चौरासी लाख पूर्वांग = एक 'पूर्व'।
चौरासी लाख पूर्व = एक 'त्रुटितांग'।
चौरासी लाख त्रुटितांग = एक 'त्रुटित'।
चौरासी लाख त्रुटित = एक 'अडडांग'।
चौरासी लाख अडडांग = एक 'अडड'।
चौरासी लाख अडड = एक 'अववांग'।
चौरासी लाख अववांग = एक 'अवव'।
चौरासी लाख अवव = एक 'हूहूकांग'।
चौरासी लाख हूहूकांग = एक 'हूहूक'।
चौरासी लाख हूहूक = एक 'उत्पलांग'।
चौरासी लाख उत्पलांग = एक 'उत्पल'।
चौरासी लाख उत्पल = एक 'नलिनांग'।
चौरासी लाख नलिनांग = एक 'नलिन'।
चौरासी लाख नलिन = एक अर्छनिकुरांग।

चौरासी लाख अछनिकुरांग = एक अछनिकुर।
चौरासी लाख अछनिकुर = एक 'अयुतांग'।
चौरासी लाख अयुतांग = एक 'अयुत'।
चौरासी लाख अयुत = एक 'प्रयुतांग'।
चौरासी लाख प्रयुतांग = एक 'प्रयुत'।
चौरासी लाख प्रयुत = एक नयुतांग।
चौरासी लाख नयुतांग = एक 'नयुत'।
चौरासी लाख नयुत = एक 'चूलिकांग'।
चौरासी लाख चूलिकांग = एक 'चूलिका'।
चौरासी लाख चूलिका = एक शीर्ष प्रहेलिकांग।
चौरासी लाख शीर्ष प्रहेलिकांग = एक शीर्ष प्रहेलिका।

हे गौतम ! इतना ही गणित का विषय है। इसके आगे का काल औपमिक है।

गौतम—भगवन् ! 'औपमिक' काल किसे कहते हैं ?

महावीर—'औपमिक' दो तरह का होता है ? 'पल्योपम' और 'सागरोपम'।

गौतम—भगवन् ! 'पल्योपम' और 'सागरोपम' का क्या स्वरूप है ?

महावीर—गौतम ! सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके ऐसे 'परमाणु' को सिद्धपुरुष सब प्रमाणों का 'आदि प्रमाण' कहते हैं।

अनन्त परमाणुओं का समुदाय = एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका = एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका = एक ऊर्ध्वरेणु।
आठ ऊर्ध्वरेणु = एक त्रसरेणु।
आठ त्रसरेणु = एक रथरेणु।
आठ रथरेणु = एक वालाग्र।
आठ वालाग्र = एक लिक्षा।
आठ लिक्षा = एक यूका।

आठ यवमध्य = एक अँगुल ।

छ अँगुल = एक पाद ।

बारह अँगुल = एक वितस्ति (बीत्ता) ।

चौबीस अँगुल = एक रत्नी (हाथ) ।

अड़तालीस अँगुल = एक कुक्षि ।

छियानवे अँगुल = एक दण्ड । धनु । यूप । नालिका । अक्ष । अथवा मूसल ।

दो हजार धनु = एक गव्यूत (कोस)

चार कोस = एक योजन ।

उक्त योजन प्रमाण लंबा-चौड़ा और गहरा गोल प्याले के आकार का एक पल्य (गड्ढा) इस प्रकार ठूँस ठूँस कर बालाग्रों से भरा जाय कि उसमे अग्नि, जल तथा वायु तक भी प्रवेश न कर सके। उस पल्य मे से एक सौ वर्ष मे एक बालाग्र निकाला जाय और इस प्रकार सौ सौ वर्ष में एक-एक बालाग्र को निकालने पर जितने काल में यह 'पल्य' खाली हो उतने काल को एक 'पल्योपम' काल कहते हैं।

ऐसे दस कोटाकोटि[1] पल्योपमों का एक सागरोपम होता है ।

चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमसुषमा नामक पहला 'अरक'।

तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा नामक दूसरा 'अरक' ।

दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषम दुःषमा नामक तीसरा 'अरक'।

बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःषम-सुषमा नामक चौथा 'अरक' ।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा नामक पाँचवाँ 'अरक' ।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा नामक छट्ठा 'अरक' । इन छः आरों के समुदाय को अवसर्पिणी कहते हैं ।

फिर इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा ।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा ।

---

[1] एक करोड़ को एक करोड़ से गुनने से एक कोटाकोटी-संख्या होती है और कोटाकोटि का दसगुना दस कोटाकोटि ।

बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुषम-सुषमा।

दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषमदुषमा।

तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमसुषमा।

इस क्रम से दस कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण छः आरों के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

दस कोटाकोटि प्रमाण अवसर्पिणी और दस कोटाकोटि प्रमाण उत्सर्पिणी मिलकर बीस कोटाकोटि सागरोपम काल होता है[1]।

भगवान् के आगमन से राजगृह निवासियों में निर्ग्रन्थ धर्म का काफी प्रचार हुआ। राजगृह के प्रसिद्ध धनपति शालिभद्र और धन्य आदि ने दीक्षायें ग्रहण कीं और अनेक व्यक्तियों ने गृहस्थ धर्म अंगीकार किया।

इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने राजगृह में ही बिताया। और वर्षाकाल व्यतीत होते ही चम्पा की ओर विहार कर दिया।

चम्पा में दत्त नाम के राजा थे और रक्तवती नाम की रानी। इनके महचन्द्रकुमार नामक एक पुत्र था जिसने भगवान् के उपदेश को सुनकर इस असार संसार से विरक्त हो श्रमणधर्म को ग्रहण किया।

१७–सत्रहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९६–४९५)

उस समय सिन्धु सौवीरादि अनेक देशों का स्वामी राजा उदायन सिन्धु की राजधानी वीतभयपत्तन में राज्यशासन कर रहा था।

उदायन जैन श्रमणोपासक था। वह पर्व दिन का पौषध ग्रहण कर अपनी पौषधशाला में धर्म जागरण कर रहा था। आत्मचिन्तन करते हुए उसने सोचा—'धन्य हैं वे ग्राम-नगर जहाँ श्रमण भगवान् विचरते हैं। भाग्यशाली हैं वे राजा और सेठ साहूकार जो इनका वन्दन पूजन करते हैं। यदि भगवान् मेरे पर अनुग्रह कर, वीतभय के मृगवन उद्यान में पधारें तो मैं भी उनका वन्दन पूजन और सेवा करके भाग्यशाली बनूँ।"

चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान भगवान् महावीर ने

---

[1] भ० श० ६ उ० ७ पृ० २७४।

उदायन के इस मनोभाव को जाना और उसे प्रतिबोध देने के लि चम्पा से वीतभय नगर की ओर विहार किया। चम्पा से वीतभय क दूरी हजार मील से कम न होगी। इतनी लम्बी यात्रा करके भगवा वीतभय नगर पहुँचे और राजा उदायन को श्रमण धर्म मे दीक्षित क वापस अपने चातुर्मास्य के केन्द्र की ओर विहार कर दिया।

मरुभूमि की लम्बी यात्रा, गर्मी का मौसम और निर्ग्रन्थों की कठि चर्या, इन सब कारणों से भगवान् के कई शिष्यों को इस विहार प्राणों पर खेलना पडा। सिनपल्ली की रेतीली मरुभूमि में कोसों तक वस्त का नाम तक न था। भगवान् उस बीहड़ मार्ग से चलते हुए पूर्व देश जा रहे थे। आपके बहुत से शिष्य जो अमीर और चलने के का अभ्यासी थे भूख और प्यास से कष्ट पा रहे थे। उस समय मार्ग आपको तिलों की गाड़ियाँ मिलीं। महावीर तथा उनके शिष्य-परिवा को देखकर तिलवालों ने कहा—भट्टारक ! लीजिये, इन तिलों से अपन क्षुधा शान्त कीजिये।

यद्यपि तिल अचित्त थे और उनके मालिक दे भी रहे थे, तो भ भगवान् ने अपने शिष्यों को तिल स्वीकार करने की आज्ञा नहीं दी। क्योंकि तिलों के अचित्त होने की बात वे स्वय तो जानते थे पर छद्मस्थ श्रमण उनको अचित्त कैसे समझते ? यदि आज अचित्त जानकर साधुओं को उनके लेने की आज्ञा दी जाय तो आगे जाकर इसी दृष्टान्त को सामने रखकर सचित्त तिल लेने की भी प्रवृत्ति न चल पड़े, इस कारण भगवान् ने उनके लेने की आज्ञा नहीं दी।

इसी विहार में जब साधु प्यास से आकुल हो रहे थे, मार्ग मे एक अचित्त पानी का ह्रद आया। भगवान् जानते थे कि यह जल अचित्त है, साधु इसे काम मे ले सकते हैं। परन्तु सभी ह्रदों का पानी अचित्त नहीं होता। अगर आज इस ह्रद के पानी का साधुओं को उपयोग करने दिया जाय तो भविष्य मे अन्य सचित्त जलह्रदों के पानी का उपयोग करने की प्रवृत्ति भी चल पडेगी, इस विचार से भगवान् महावीर ने ह्रद का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी[१]।

---

१ भगवती श० १३ उ० ६ प० ६१८–६२०। कल्पचूर्णि प० ६४–६५।

वीतभयपत्तन से विचरते हुए भगवान् विदेह देश स्थित वाणिज्य-ग्राम पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं बिताया। वणिज्य ग्राम का चातुर्मास्य पूरा कर भगवान् महावीर ने बनारस की तरफ विहार कर दिया और अनेक स्थानों में निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार करते हुए वे बनारस पहुँचे। बनारस के तत्कालीन राजा जितशत्रु ने भगवान् का बहुत सत्कार किया। यहाँ के ईशानदिशाभागस्थित कोष्ठक चैत्य में ठहर कर भगवान् ने लोगों को आर्हत प्रवचन का उपदेश दिया। फलस्वरूप यहाँ के अनेक गृहस्थों ने श्रावकधर्म अंगीकार किया, जिनमें चुलनीपिता और उसकी स्त्री श्यामा तथा सुरादेव और उसकी स्त्री धन्या के नाम अग्रगण्य हैं। ये दोनों ही करोड़पति गृहस्थ भगवान् के धर्मशासन के स्तम्भ समान थे।

१८-अठारहवाँ वर्ष (वि० पू० ४५५-४५४)

बनारस से राजगृह जाते हुए भगवान् बीच में आलभिया के शंख-वन-उद्यान में कुछ समय तक ठहरे। आलभिया काशी देश की एक बड़ी नगरी थी जो बनारस राजगृह के मार्ग में पड़ती थी।

पोग्गल परिव्राजक की प्रव्रज्या

शंखवन के पास पोग्गल नामक एक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेदादि वैदिक धर्मशास्त्रों का ज्ञाता और प्रसिद्ध तपस्वी था। निरन्तर षष्ठ-तप के साथ सूर्य के सन्मुख ऊर्ध्वबाहु खड़ा होकर आतापना किया करता था। इस कठिन तप, तीव्र आतापना और स्वभाव की भद्रता के कारण पोग्गल को विभंगज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वह ब्रह्मदेवलोक तक के देवों की गति स्थिति को प्रत्यक्ष देखने लगा।

इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति से पोग्गल सोचने लगा—मुझे विशिष्ट आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से मैं देख रहा हूँ कि देवों का कम से-कम दस हजार वर्ष का आयुष्य होता है और अधिक से-अधिक दस सागरोपम का। इसके आगे न देव हैं न देवलोक। पोग्गल तपोभूमि से आश्रम की ओर चला और त्रिदण्ड, कुण्डिका तथा धातुरक्त वस्त्र लेकर आलभिया के परिव्राजकाश्रम में पहुँचा। त्रिदण्ड, कुण्डिकादि वहाँ रखकर आलभिया के चौक बाजारों में

अपने ज्ञान का प्रचार करने लगा। बाजारों में पोग्गल के सिद्धान्त की चर्चा हो रही थी। कुछ लोग उसके ज्ञान की प्रशंसा करते थे और कुछ उसमें शंकाएँ उठाते थे।

इसी अवसर पर भगवान् महावीर आलभिया के शंखवन में पधारे। तपस्वी इन्द्रभूति भगवान् की आज्ञा ले भिक्षा के लिये नगर में गये और पोग्गल के सिद्धान्तविषयक जनप्रवाद को सुना। भिक्षाचर्य्या कर गौतम वापस आये और नगर में सुनी पोग्गल के सिद्धान्त की चर्चा भगवान् के आगे व्यक्त करते हुए बोले—भगवन्! आजकल आलभिया में पोग्गल परिव्राजक के ज्ञान और सिद्धान्त की चर्चा हो रही है। पोग्गल कहता है 'ब्रह्मलोक तक ही देव और देवलोक हैं, दस हजार से दस सागरोपम तक ही देवों का आयुष्य है।' भगवन्! पोग्गल की इस मान्यता के संबंध में आपका अभिप्राय क्या है?

गौतम को उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—पोग्गल का कथन ठीक नहीं है। देवों की आयुष्यस्थिति कम से कम दस हजार वर्ष की और अधिक-से-अधिक तेंतीस सागरोपम की है। उसके उपरान्त देव और देवलोकों का अभाव है।

महावीर का यह स्पष्टीकरण सभी उपस्थित जनों ने सुना। सभा विसर्जित हुई और भगवान् के वचनों की प्रशंसा करते हुए नागरिक अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान् महावीर का कथन पोग्गल के कानों तक पहुँचा। वह अपने ज्ञान के विषय में शंकित हो उठा। महावीर सर्वज्ञ हैं, तीर्थंकर हैं, महातपस्वी हैं, यह तो पोग्गल पहले ही सुन चुका था। अब उसे अपने ज्ञान पर विश्वास नहीं रहा, वह ज्यों-ज्यों ऊहापोह करता था त्यों-त्यों उसका विभङ्ग ज्ञान लुप्त होता जाता था। थोड़े ही समय में उसे ज्ञात हो गया कि उसका यह ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण था। अब उसने भगवान् महावीर की शरण में जाने के लिए शंखवन की ओर प्रस्थान किया। समवसरण में पहुँचकर विधिपूर्वक वन्दन नमस्कार कर वह उचित स्थान पर बैठ गया।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर पोग्गल निर्ग्रन्थ प्रवचन का

श्रद्धालु हो गया तथा भगवान् के पास श्रमणधर्म स्वीकार कर उनके संघ में मिल गया तथा श्रामण्य लेकर स्थविरों के पास निर्ग्रन्थ प्रवचन की एकादशाङ्गी का अभ्यास किया तथा विविध तपों द्वारा कर्ममुक्त हो निर्वाण प्राप्त किया[1]।

इसी समय आलभिया निवासी करोड़पति गृहस्थ चुल्लशतक तथा उसकी स्त्री बहुला और दूसरे अनेक नरनारियों ने भगवान् महावीर के पास श्राद्धधर्म स्वीकार किया। आलभिया से भगवान् राजगृह पधारे और मकाती, किक्रम, अर्जुन, और काश्यप आदि को दीक्षा दे उन्हें श्रमणसंघ में सम्मिलित किया।

भगवान् का यह चातुर्मास्य राजगृह में हुआ।

चातुर्मास्य के बाद भी भगवान् राजगृह में ही धर्मप्रचारार्थ ठहरे। इस सतत प्रचार का आशातीत फल हुआ। राजा श्रेणिक को, जो स्वयं

१९–उन्नीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९४–४९३)

वृद्ध थे, भगवान् के धर्मशासन पर इतनी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न हुई कि उन्होंने राजगृह में यह उद्घोषणा करवा दी कि 'जो कोई भगवान् महावीर से दीक्षा लेना चाहे वह खुशी से ऐसा कर सकता है। यदि उसके पीछे कोई पालन-पोषण करने योग्य कुटुम्ब परिवार होगा तो उसके पालन पोषण की चिन्ता स्वयं राजा करेगा'।

श्रेणिक की उपर्युक्त घोषणा का बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा। अन्यान्य नागरिकों के अतिरिक्त जालि कुमार, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहास, अभय, दीर्घसेन, महासेन, लष्टदत, गूढदन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन, पूर्णसेन इन श्रेणिक के तेईस पुत्रों और नन्दा, नन्दमती, नन्दोत्तरा, नन्दसेणिया, महया, सुमरुता, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता नामक श्रेणिक की तेरह रानियों ने प्रव्रजित होकर भगवान् महावीर के श्रमणसंघ में प्रवेश किया।

---

१ भ० श० ११ उ० १२ प० ५५१–५५२।

आर्द्र—मैं किसी की निन्दा नहीं करता किंतु अपने दर्शन (मत) का वर्णन करता हूँ। सब दर्शन वाले अपने मतों का प्रतिपादन करते हैं और प्रसग आने पर एक दूसरे की निन्दा भी करते हैं। मैं तो केवल अपने मतका प्रतिपादन और पाखण्ड का खंडन करता हूँ। जो सत्य धर्म है उसका खंडन कभी नहीं होता और जो पाखण्ड है उसका खण्डन करना बुरा नहीं। फिर भी मैं किसी को लक्ष्य करके नहीं कह रहा हूँ।

गोशालक—आर्द्रक ! तुम्हारे धर्माचार्य की भीरुताविषयक एक एक दूसरी बात कहता हूँ, इसे भी सुन। पहले ये मुसाफरखानों और उद्यानघरों मे ठहरते थे पर अब वैसा नहीं करते। ये जानते हैं कि उन स्थानों में अनेक बुद्धिमान् चतुर भिक्षु एकत्र होते हैं, कहीं ऐसा न हो कि कोई शिक्षित भिक्षु कुछ प्रश्न पूछ बैठे और उसका उत्तर न दिया जा सके। इस भयसे इन्होंने उक्त स्थानों मे आना आजकल छोड़ दिया है।

आर्द्र—मेरे धर्माचार्य के प्रभावसे तुम बिल्कुल अनभिज्ञ मालूम होते हो। महावीर सचमुच महावीर है। इनमे न बाल चापल्य है और न काम चापल्य। ये सम्पूर्ण और स्वतंत्र पुरुष हैं। जहाँ राजाज्ञा की भी परवा नहीं वहाँ भिक्षुओं से डरने की बात करना केवल हास्यजनक है। मखलि श्रमण ! महावीर आज मुसाफर खानों में रहनेवाला साधारण भिक्षु नहीं, वे जगदुद्धारक धर्म तीर्थंकर हैं। एकान्तवास मे रहकर इन्होंने पहले बहुत तपस्याएँ की हैं और घोर तपस्याओं द्वारा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके अब ये लोक-कल्याण की भावना से ऐसे स्थानों में विचरते हैं जहाँ परोपकार का होना सम्भव हो। इसमे किसीके भय अथवा आग्रह को कुछ स्थान नहीं। कहाँ जाना और कहाँ नहीं, किससे बोलना और किससे नहीं और किससे प्रश्नोत्तर करना और किससे नहीं ये सब बातें इनकी इच्छा पर ही निर्भर रहती हैं। मुसाफिरखानों मे ये नहीं जाते, इसका भी कारण है। वहाँ बहुधा अनार्य स्वभाव के मताग्रही लोग मिलते हैं, जिनमें तत्त्वजिज्ञासा का नितान्त अभाव और कदाग्रह तथा उद्दण्डता आदि की प्रचुरता होती है।

गोशालक—तब तो श्रमण ज्ञातपुत्र, अपने स्वार्थ के लिये ही प्रवृत्ति करनेवाले लाभार्थी वणिक् के समान हुए न ?

आर्द्र—भगवान् को सर्वांश मे लाभार्थी वणिक की उपमा नहीं दी जा सकती। लाभार्थी वणिक् प्राणियों की हिंसा करते हैं, परिग्रह पर ममता करते हैं, ज्ञातिसग को न छोडकर स्वार्थ के वश नये-नये प्रपच रचते हैं। धन के लोभी और विषय भोगों मे आसक्त वे आजीविकार्थ इधर-उधर मारे मारे फिरते हैं, ऐसे कामी और विषयगृद्ध वणिकों की उपमा भगवान् को नहीं दी जा सकती। आरभ और परिग्रहमग्न वणिकों की प्रवृत्ति को तुम लाभकारी प्रवृत्ति कहते हो, यह भूल है। वह प्रवृत्ति उनके लाभ के लिये नहीं, वरच दुःख के लिये है। जिस प्रवृत्ति का ससार भ्रमण ही फल है उसको लाभदायक कैसे कह सकते हैं ?

आर्द्रक के उत्तर से निरुत्तर होकर गोशालक ने अपना रास्ता पकड़ा और मुनि आगे चले। इतने में शाक्यपुत्रीय भिक्षुओं ने उन्हें रोका और कहा—आर्द्र! वणिक के दृष्टान्त द्वारा बाह्य प्रवृत्ति का खण्डन करके तुमने बहुत अच्छा किया। हमारा भी ऐसा ही सिद्धान्त है। बाह्य प्रवृत्ति बन्ध मोक्ष का प्रधान कारण नहीं प्रत्युत् अन्तरङ्ग व्यापार ही इसके प्रधान अङ्ग हैं। हमारा तो यहाँ तक मन्तव्य है कि यदि कोई व्यक्ति खलपिण्डी को पुरुष अथवा तूँबे को बालक समझता हुआ सूल से बींध कर पकाता है तो वह प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, और यदि कोई पुरुष को खलपिण्डी और बालक को तूँना समझ कर सूल से बींध कर पकाता है तो भी वह प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार खलपिण्डी समझ कर पुरुषको अथवा तूँना समझ कर बच्चे को सूल से बींध कर पकाया हो तो उस मास का बुद्ध भी भोजन कर सकते हैं। हमारे शास्त्रानुसार नित्य दो हजार बोधिसत्त्व भिक्षुओं को भोजन कराने वाले मनुष्य, महान् पुण्य स्कन्धों का उपार्जन कर महा सत्त्ववन्त 'आरोप्य देव' होते हैं।

आर्द्रक मुनि का शाक्यपुत्रीय भिक्षुओं के साथ सवाद

आर्द्र—सयतों के लिये यह अयोग्य है कि वे इस प्रकार हिंसाजन्य कार्य को निर्दोष कहें। जो ऐसे कामों का उपदेश देते हैं और जो

उसे सुनते हैं, वे दोनों अनुचित काम करते हैं। जिसे पुरुष और खल-पिण्डी के भेद का भी ज्ञान नहीं वह पुरुष अवश्य मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य होगा, अन्यथा यह सभव नहीं कि खलपिण्डी को पुरुष अथवा पुरुष को खलपिण्डी मान लिया जाय। भिक्षुओं को ऐसा स्थूल असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये, जिससे कर्मबन्ध हो। महाशय ! इस सिद्धान्त से तो आप तत्त्वज्ञान नहीं पा सकते, जीवों के शुभाशुभ कर्मविपाक को नहीं सोच सकते, लोक को करामलकवत् प्रत्यक्ष नहीं कर सकते और पूर्व पश्चिम समुद्र तक अपना यश भी नहीं फैला सकते। भिक्षुगण ! जो श्रमण जीवों के कर्म विपाक की चिन्ता करते हुए आहार विधि के दोषों को टालते हैं और निष्कपट वचन बोलते हैं वे ही सयत हैं और यही संयतों का धर्म है।

जिनके हाथ लहू से रगे हुए हैं, ऐसे असयत मनुष्य दो सहस्र बोधिसत्त्व भिक्षुओं को नित्य भोजन कराते हुए भी यहाँ निन्दापात्र बनते हैं और परलोक में दुर्गति के अधिकारी। जो यह कहते हैं कि बड़े बकरे को मार और मिर्च पीपर डालकर तैयार किये हुए मास के भोजन के लिये कोई निमन्त्रण दे तो हम उस मास को खा सकते हैं, उसमे हमें कोई पाप नहीं लगता, वे अनार्यधर्मी और रसलोलुप हैं। ऐसा भोजन करनेवाले पाप को न जानते हुए भी पाप का आचरण करते हैं। जो कुशल पुरुष हैं वे मन से भी ऐसे आहार की इच्छा नहीं करते और न ऐसे मिथ्या वचन बोलते हैं।

ज्ञातपुत्रीय ऋषि सब जीवों की दया की खातिर पाप दोष को वर्जते हुए दोष की शका से भी उद्दिष्ट भक्त को ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उन्होंने सब प्रकार की जीव हिंसा का त्याग किया है अत जिसमे प्राणि हिंसा की शका भी हो उस भोजन को वे ग्रहण नहीं करते। ससार मे सयतों का यही धर्म है। इस आहारशुद्धिरूप समाधि और शील गुण को प्राप्त कर जो वैराग्यभाव से निर्ग्रन्थ धर्म में विचरते हैं वही तत्त्वज्ञानी मुनि इस लोक में कीर्ति प्राप्त करते हैं।

शाक्य भिक्षुओं को निरुत्तर हुआ देख कर ब्राह्मण आगे बढ़े और अपनी जातीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए बोले—'जो दो हजार

स्नातक ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करके देवगति को प्राप्त होते हैं, ऐसा वेदशास्त्र का वचन है।'

आर्द्रक ने कहा—घर-गृहस्थी मे आसक्त दो हजार स्नातकों को भोजन करानेवालों के लिये नरक गति तैयार है। दया धर्म के निन्दक और हिंसा धर्म के प्रशसक तथा दु शील मनुष्य को जो भोजन कराता है, वह चाहे राजा भी क्यों न हो, अन्धकारपूर्ण गति को ही प्राप्त होगा।

आर्द्रक के कठोर और स्पष्ट उत्तर से ब्राह्मणों को उदासीन हुआ देख सांख्यमतानुयायी सन्यासी बोले—तुम और हम सभी धर्माराधक हैं। तुम्हारे और हमारे धर्म मे अधिक अन्तर भी नहीं। दोनों मतों मे आचार, शील और ज्ञान को ही मोक्ष का अग माना है। ससार विषयक मान्यता मे भी अपने शास्त्रों मे अधिक भेद नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार 'पुरुष' अव्यक्त, महान् और सनातन है। न उसका क्षय होता है और न ह्रास। तारागण मे चन्द्र की भान्ति सब भूतगण में वह आत्मा एक ही है।

अनगार आर्द्रक ने कहा—तुम्हारे सिद्धान्तानुसार न कोई मरेगा, न ससार प्रधान भ्रमण ही करेगा। एक ही आत्मा मान लेने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि का व्यवहार भी नहीं रहेगा और न कोई कीट पतग, पक्षी, साँप कहलायेगा, न नर देव और देवलोक ही। जो लोकस्थिति को न जानकर धर्म का उपदेश करते हैं वे स्वय नष्ट होकर दूसरों का नाश करते हैं और इस अनादि अनन्त ससार मे भ्रमण करते हैं। केवलज्ञान से लोक को जानते हुए जो समाधिपूर्वक धर्म और सम्यक्त्व का कथन करते हैं वे ही अपनी आत्मा को तथा अन्य जीवों को ससार-सागर से पार करते हैं।

आयुष्मानों! यह भी तुम्हारा बुद्धिविपर्यासमात्र है जो चारित्र-हीनों और चारित्रसपन्नों की समानता का प्रतिपादन करते हो।

इस प्रकार एकदण्डियों को परास्त करके आर्द्रक मुनि आगे जाने लगे, इतने में हस्तितापस आकर खड़े हुए और बोले—'हम वर्षभर में सिर्फ एक ही बड़े हाथी को बाण से मारते हैं तथा उसके मास से वर्षभर जीविका चलाते हैं। इससे अन्य अनेक जीवों की रक्षा हो जाती है'।

आर्द्रक ने कहा—वर्षभर मे एक प्राणी की हिंसा करनेवाले भी साधु अहिंसक नहीं हो सकते, क्योंकि प्राणिवध से सर्वथा नहीं हटे हैं। इस पर भी यदि उन्हें दयापालक माना जाय तब तो गृहस्थों को भी अहिंसक मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी अपने कार्यक्षेत्र के बाहर के जीवों की हिंसा नहीं करते। श्रमण कहलाते हुए जो वर्ष मे एक भी जीव की हिंसा करते हैं, या उसका समर्थन करते हैं वे अनार्य अपना हित नहीं कर सकते और न वे केवलज्ञान ही पा सकते हैं।

जो धर्मसमाधि में स्थिर रहते हैं और मन, वचन, काय से प्राणियों की प्राण रक्षा करते हैं वे ही ससार प्रवाह को तैर कर धर्म का उपदेश करे।

हस्तितापसों को निरुत्तर कर स्वप्रतिबोधित पॉच सौ चोर, वाद में जीते और प्रतिबोध पाये हुए हस्तितापसादि वादी और इतर परिवार के साथ आर्द्रक मुनि आगे बढ रहे थे कि एक वनहाथी, जो नया ही पकड़ा हुआ था, बन्धन तोड़ कर उनकी तरफ झपटा। उसे देख कर लोगों ने बडा हो-हल्ला मचाया कि हाथी मुनि को मारे डालता है। पर आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि विनीत शिष्य की तरह हाथी मुनि के चरणों मे सिर झुका कर प्रणाम कर रहा है, और क्षणभर के बाद वह वन की ओर भाग रहा है।

उक्त घटना सुनकर राजा श्रेणिक आर्द्रकुमार मुनि के पास आये और हाथी के बन्धन तोड़ने का कारण पूछा। उत्तर मे मुनि ने कहा—राजन्! मनुष्यकृत पाश तोड़ कर मत्त हाथी का वन में जाना ऐसा दुष्कर नहीं जैसा कच्चे सूत का धागा तोड़ना।

इसके बाद आर्द्र मुनि भगवान् महावीर के पास गये और भक्तिपूर्वक वन्दन किया। भगवान् ने उनसे प्रतिबोधित राजपुत्रों और तापसादिको प्रव्रज्या देकर उन्हीं के सपुर्द किया[1]।

इस वर्ष भी भगवान् ने वर्षावास राजगृह मे किया। वर्षाकाल पूरा होने पर भगवान् ने राज गृह से कौशांबी की तरफ विहार किया।

२०. बीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४९३–४९२)

---

१ सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध २, अध्याय ६, प० ३८७–४०५।

राजगृह और कौशाम्बी के बीच काशिराष्ट्र की प्रसिद्ध नगरी आलभिया पडती थी। भगवान् कुछ समय तक आलभिया मे ठहरे। यहाँ ऋषिभद्र प्रमुख बहुत से धनाढ्य श्रमणोपासक रहते थे। एक समय श्रमणोपासकों की उस मडली मे देवोंकी आयुष्यस्थिति के सबन्ध में प्रश्न उठा—देवलोकों मे देवों की आयुष्यस्थिति कितने काल की है ?

मडली के एक सभ्य ऋषिभद्र ने कहा—आर्यो ! देवलोकों मे देवों की आयुष्यस्थिति कम से कम १० हजार वर्ष की और ज्यादा-से-ज्यादा ३३ सागरोपम की कही है, इसके बाद न देव हैं न देवलोक।

ऋषिभद्र के उक्त उत्तर से श्रमणोपासकों के मनका समाधान नहीं हुआ, वे अपने अपने स्थान को चले गये।

उस समय कौशाबी जाते हुए भगवान् महावीर आलभिया के शखवन उद्यान मे पधारे। भगवदागमन के समाचार पवनवेग से नगर में पहुँचे और दर्शन वन्दन के इच्छुक नागरिकों का समूह शख-वन की तरफ उमड़ पड़ा। आलभिया-निवासी ऋषिभद्रपुत्र प्रमुख श्रमणोपासक भी बड़ी सजधज से भगवान् के समवसरण मे गए और वन्दन नमस्कार करने के उपरान्त धर्म श्रवण किया।

धर्मदेशना के अन्त मे श्रमणोपासक उठे और वन्दन करके बोले-भगवन्! ऋषिभद्र श्रमणोपासक देवों की आयुष्यस्थिति कम-से कम १० हजार वर्ष की और ज्यादा से-ज्यादा ३३ सागरोपम की बताते हैं, क्या यह ठीक है ?

श्रमण भगवान् ने कहा—आर्यो! ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक का यह कथन यथार्थ है।

भगवान् का स्पष्टीकरण सुनकर श्रमणोपासक उठे और ऋषिभद्रपुत्र श्रमणोपासक के समीप गये एव नमस्कार कर सविनय क्षमाप्रार्थना की। इसके बाद ऋषिभद्र प्रमुख आलभिया का श्रमणोपासक सघ देर तक भगवान् के पास धर्म-चर्चा करता रहा।

श्रमणोपासक ऋषिभद्रपुत्र ने बहुत वर्षों तक शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि तपोऽनुष्ठानों से आत्मशुद्धि करते हुए-

अन्त में मासिक अनशन पूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प देवलोक में देवपद प्राप्त किया[1]।

आलभिया से विहार कर भगवान् कौशाम्बी पधारे। कौशाम्बी का राजा उदयन शायद तब तक नाबालिग था। राज्यव्यवस्था उसकी माता मृगावती देवी, अपने बहनोई उज्जयनीपति चण्डप्रद्योत की सहानुभूति से चला रही थी। यद्यपि मृगावती चण्डप्रद्योत से खुश नहीं थी फिर भी उसकी सैनिक शक्ति और अपने पुत्र की बाल्यावस्था का विचार कर वह उससे मेल रखती थीं।

जब भगवान् कौशांबी पधारे तो राजा चण्डप्रद्योत भी वहीं ठहरा हुआ था। चण्डप्रद्योत, अगारवती आदि उसकी रानियाँ, उदयन तथा राजमाता मृगावती बडी सजधज से भगवान् के समवसरण मे वन्दनार्थ गईं, नागरिकजन भी बड़ी सख्या मे एकत्र हुए। भगवान् वर्धमान ने उस महती सभा मे वैराग्यजनक धर्मदेशना की, जिसे सुन कर अनेक धर्मशील मनुष्यों के हृदय भगवान् के धर्ममार्ग मे श्रद्धालु बने। उसी समय सभा में उपस्थित मृगावती ने कहा—'भगवान्! मैं प्रद्योत की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ। इसके बाद अपने पुत्र उदयन को प्रद्योत के सरक्षण मे छोडते हुए उससे दीक्षा की आज्ञा माँगी। यद्यपि प्रद्योत की इच्छा मृगावती को स्वीकृति देने की नहीं थी पर उस महती सभा में लज्जावश वह इनकार नहीं कर सका।

अगारवती आदि चण्डप्रद्योत की आठ रानियों ने भी दीक्षा लेने के लिए उसी समय राजा से आज्ञा माँगी। प्रद्योत ने उन्हें भी आज्ञा प्रदान की और भगवान् महावीर ने उन सब को निर्ग्रन्थ मार्ग में प्रव्रजित कर श्रमणी-सघ मे प्रविष्ट किया[2]।

कुछ समय तक श्रमण भगवान् कौशाम्बी तथा उसके समीपवर्ती ग्राम-नगरों में विचरे और फिर विदेह-भूमि की ओर विहार कर गये।

---

१ भग० शत ११, उद्दे० १२ प० ५५०–५५१।

२ आवश्यकटीका प० ६४–६७।

ग्रीष्मकाल पूरा होते होते भगवान् वैशाली पहुँचे और वर्षावास वैशाली मे किया।

वर्षावास पूरा होने पर भगवान् ने वैशाली से उत्तरविदेह की ओर प्रयाण किया और मिथिला होते हुए काकन्दी पधारे। काकन्दी मे धन्य, सुनक्षत्र आदि को दीक्षा दी।

२१ इक्कीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९२–४९१)

काकन्दी से भगवान् ने पश्चिम की ओर विहार किया और श्रावस्ती होते हुए काम्पिल्य नगर पधारे। काम्पिल्यनिवासी कुण्डकोलिक गृहपति को श्रमणोपासक बना कर अहिच्छत्रा होते हुए गजपुर पहुँचे। यहाँ पर निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश दे कर अनेक श्रद्धालुओं को निर्ग्रन्थमार्ग मे स्थिर किया और यहाँ से वापस लौट कर आप पोलासपुर पधारे।

पोलासपुर मे सद्दालपुत्र नामक एक कुम्हार रहता था। उसकी पोलासपुर के प्रतिष्ठित तथा धनवान गृहस्थों मे गणना होती थी। उसके पास तीन क्रोड की सपत्ति थी और दस हजार गायों का एक गोकुल। सद्दालपुत्र अपने धधे मे प्रवीण और प्रसिद्ध व्यापारी था। उसके आधिपत्य मे मिट्टी के वर्तन की पॉच सौ दूकानें चलती थीं जिनमे हजारों कुम्हार उसकी निगरानी मे काम करते थे। सद्दालपुत्र आजीविक धर्म का उपासक था। इतना ही नहीं, वह आजीविक धर्म का एक कुशल अभ्यासी था, उसके अस्थिमज्जा आजीविक धर्म के सस्कारों से रगे हुए थे, उसके विचार मे आजीविक-धर्म ही परम धर्म था और बाकी सब पाखड। इसकी स्त्री अग्निमित्रा भी आजीविकोपासिका थी।

एक दिन रात्रि के समय सद्दालपुत्र सुख की नींद सो रहा था तब किसी देव ने उससे कहा—'सद्दालपुत्र ! कल प्रात इधर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महाब्राह्मण पधारेंगे। उनके पास जाकर प्रातिहारिक शय्या पीठ-फलकादि के लिये उन्हें निमन्त्रित करना'। सद्दालपुत्र इस दिव्य वाणी से सावधान हो गया। उसने सोचा—'प्रात काल मेरे धर्माचार्य भगवान् मखलिपुत्र पधारेंगे, क्योंकि वर्तमान काल मे वे ही सर्वज्ञ और महाब्राह्मण हैं।

बड़े तड़के सद्दालपुत्र उठा और जरूरी कामों से निवृत्त होकर अपने

धर्माचार्य के पास जाने की तैयारी करने लगा। अभी वह ठीक तरह से तैयार भी नहीं हुआ था कि इतने में जनप्रवाद सुनाई देने लगा—'पोलासपुर के बाहर ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं।'

महावीर का आगमन सुनते ही सद्दालपुत्र हतोत्साह हो गया। उसकी दर्शनोत्कंठा शान्त हो गई। क्षणभर के लिए किंकर्तव्यविमूढ होने के उपरान्त उसे गतरात्रि का देवादेश याद आया। उसका हृदय जागरित हुआ। वह भगवान् के पास पहुँच और विनय पूर्वक बोला—'भगवन्! शय्या फलकादि प्रस्तुत हैं, स्वीकार करने का अनुग्रह कीजिये।' श्रमण भगवान् सद्दालपुत्र का निमंत्रण स्वीकार कर उसकी भाण्डशाला मे जा उपस्थित हुए।

भगवान् को अपनी भाण्डशाला में ठहराकर तथा पीठफलकादि प्रातिहारिक अर्पण कर सद्दालपुत्र अपने काम मे लगा। भाण्डशाला मे बर्तनों को इधर-उधर करता, गीलों को धूप मे और सूखों को छाया मे रखता हुआ वह अपने काम मे लीन था, उस समय भगवान् ने सद्दालपुत्र से पूछा—सद्दालपुत्र! यह बर्तन कैसे बना?

सद्दालपुत्र—भगवन्! यह बर्तन पहले केवल मिट्टी ही होता है। उसे जल में भिगो, लीद भूसा आदि मिलाकर पिण्ड बनाते हैं और पिण्ड को चाक पर चढा कर हाँड़ी, मटकी आदि अनेक प्रकार के बर्तन बनाए जाते हैं।

महावीर—ये बर्तन पुरुषार्थ और पराक्रम से बने हैं अथवा उनके बिना ही?

सद्दालपुत्र—ये बर्तन नियतिबल से बनते हैं, पुरुष पराक्रम से नहीं। सब पदार्थ नियतिवश हैं। जिसका जैसे होना नियत है वह वैसे ही होता है। उसमें पुरुषप्रयत्न कुछ भी परिवर्त्तन नहीं कर सकता।

महावीर—सद्दालपुत्र! तुम्हारे इन कच्चे तथा पक्के बर्तनों को यदि कोई पुरुष चुराले, बिखेर दे, फोड़ डाले या फेंक दे अथवा तेरी स्त्री अग्निमित्रा के पास जाए तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?

सद्दालपुत्र—भगवन्! उस पुरुष को में गालियाँ दूँ, पीटूँ, बाँधूँ, तर्जन ताडन करूँ और उसके प्राण तक ले लूँ।

महावीर—सद्दालपुत्र ! तुम्हारे मत से न कोई पुरुष तुम्हारे वर्तन तोड फोड वा चुरा सकता है, न ही तुम्हारी स्त्री के पास जा सकता है और न ही तुम उसे तर्जन, ताडनादि दण्ड ही दे सकते हो, क्योंकि सब भाव नियत ही होते हैं। किसी का किया कुछ नहीं होता। यदि तुम्हारे वर्तन किसी से तोड़े फोडे जा सकते हैं, अग्निमित्रा के पास कोई जा सकता है और इन कामों के लिए तुम किसी को दण्ड दे सकते हो तो फिर 'पुरुषार्थ नहीं, पराक्रम नहीं, सर्वभाव नियत हैं' यह तुम्हारा कथन असत्य सिद्ध होगा।

सद्दालपुत्र समझ गया। नियतिवाद का सिद्धान्त कैसा अव्यवहारिक है, इसका उसे पता लग गया। वह श्रमण भगवान् महावीर के चरणों मे नतमस्तक हो कर बोला—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने सद्दालपुत्र की इच्छा का अनुमोदन करते हुए निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुनकर सद्दालपुत्र को जिन-धर्म पर श्रद्धा और रुचि जाग्रत हुई। उसी समय उसने द्वादशव्रत सहित गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया।

घर जाकर सद्दालपुत्र ने अपने नये धर्म और नये धर्माचार्य के स्वीकार की बात अग्निमित्रा से कही और उसे भी एक बार भगवान् महावीर के मुख से निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने और उस पर श्रद्धा लाने की सलाह दी। अग्निमित्रा अपना रथ सजा कर भगवान् के पास गई और उनका दिव्य उपदेश सुनकर उसके हृदय में यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसी समय सम्यक्त्वमूल द्वादशव्रतात्मक गृहस्थ धर्म स्वीकार कर अपने स्थान गई।

सद्दालपुत्र के धर्मपरिवर्तन का समाचार आजीविक-सघ के नेता मखलिपुत्र गोशालक के कानों तक पहुँचा। आजीविक मतानुयायी गृहस्थों मे सद्दालपुत्र का विशेष स्थान था। उसके धर्मपरिवर्तन करने की मखलिपुत्र के हृदय मे कभी कल्पना भी नहीं हुई थी। जब उसने सद्दालपुत्र के आजीविक धर्म छोड़ने की बात सुनी तो मानों उस पर वज्रपात हो गया। क्रोध से उसका शरीर कॉपने लगा, ओंठ फड़-

कने लगे और चेहरा लाल हो उठा। क्षणभर अवाक् हो ओंठों को चबाता हुआ अपने भिक्षु-संघ से बोला—भिक्षुओ! सुनते हो, पोलासपुर का धर्म स्तंभ गिर गया। श्रमण महावीर के उपदेश से सद्दालपुत्र आजीविक सम्प्रदाय को छोड कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन का भक्त हो गया है। कैसा आश्चर्य है! कितने खेद की बात है!! भिक्षुओ चलिये, पोलासपुर की ओर शीघ्र चलिये। सद्दाल को फिर से आजीविक-धर्म में लाकर स्थिर करना, अपना सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपने भिक्षु-संघ के साथ मंखलि गोशालक ने पोलासपुर की ओर प्रयाण किया। उसे पूर्ण विश्वास था कि पोलासपुर जाते ही सद्दालपुत्र फिर आजीविक संघ का सभ्य बन जायगा। इसी आशा में उसने बड़ी जल्दी पोलासपुर का मार्ग तय किया।

पोलासपुर में आजीविक-संघ की एक सभा[1] थी, गोशालक ने उसी सभा में डेरा डाला। कुछ भिक्षुओं के साथ गोशालक सद्दालपुत्र के स्थान पर गया। वह सद्दालपुत्र जो गोशालक का नाममात्र सुन कर पुलकित हो उठता था, आज उसे अपने मकान पर आये हुए देख कर भी उसने कोई सभ्रम नहीं दिखाया। गोशालक को देख कर न वह उठा ही और न उसका गुरुभाव से सत्कार ही किया। मंखलि श्रमण को अपनी शक्ति की थाह मिल गयी। सद्दालपुत्र को पुन. आजीविक मतानुयायी बनाने की उसकी आशा विलीन-सी हो गई। उसने सोचा उपदेश द्वारा या प्रतिकूलता दिखाने से सद्दालपुत्र का अनुकूल होना कठिन है। शान्ति और कोमलता को धारण करते हुए गोशालक बोला—देवानुप्रिय! महाब्राह्मण यहाँ आ गये?

सद्दालपुत्र—महाब्राह्मण कौन?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर।

स०—भगवान् महावीर महाब्राह्मण कैसे? श्रमण भगवान् को किस कारण महाब्राह्मण कहते हो?

गो०—भगवान् महावीर ज्ञान दर्शन के धारक हैं, जगत्पूजित हैं और सच्चे कर्मयोगी हैं। इसलिये वे 'महाब्राह्मण' हैं। क्या महागोप यहाँ आ गये?

---

१ सभा करने का मकान—सभाभवन।

स०—महागोप कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर।

स०—देवानुप्रिय ! भगवान् महावीर को महागोप कैसे कहते हो ?

गो०—इस ससाररूपी घोर अटवी मे भटकते, टकराते और नष्ट होते ससारी-प्राणियों का धर्मदण्ड से गोपन करते हैं और मोक्षरूप बाड़े मे सकुशल पहुँचाते हैं, इसी कारण भगवान् महावीर 'महागोप' हैं। क्या 'महाधर्मकथी' यहाँ आ गये, सद्दालपुत्र ?

स०—महाधर्मकथी कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर।

स०—देवानुप्रिय ! भगवान् महावीर को महाधर्मकथी किस कारण कहते हो ?

गो०—सद्दालपुत्र ! इस असीम ससार मे भटकते, टकराते, वास्तविक मार्ग को छोड कर उन्मार्ग पर चलते हुए अज्ञानी जीवों को धर्मतत्त्व का उपदेश देकर धर्ममार्ग पर चलाते हैं, इस वास्ते श्रमण भगवान् महावीर 'महाधर्मकथी' हैं। क्या 'महानिर्यामक' यहाँ आ गये, सद्दालपुत्र ?

स०—महानिर्यामक कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर।

स०—देवानुप्रिय, श्रमण भगवान् महावीर को महानिर्यामक किस लिये कहते हो ?

गो०—इस ससाररूपी अथाह समुद्र मे डूबते हुए जीवों को धर्म स्वरूप नाव मे बिठला कर अपने हाथ से उन्हें पार लगाते हैं, अत श्रमण भगवान् महावीर 'महानिर्यामक' हैं।

स०—देवानुप्रिय ! तुम ऐसे चतुर, ऐसे नयवादी, ऐसे उपदेशक और ऐसे विज्ञान के ज्ञाता हो तो क्या मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद कर सकते हो ?

गो०—नहीं, मैं ऐसा करने मे समर्थ नहीं हूँ।

स०—क्यों ? मेरे धर्माचार्य के साथ विवाद करने मे तुम समर्थ क्यों नहीं ?

रोह—भगवन् ! पहले सप्तम अवकाशान्तर, पीछे सप्तम तनुवात या पहले सप्तम तनुवात और पीछे सप्तम अवकाशान्तर ?

भगवन्—दोनों शाश्वतभाव हैं, इनमे पहले-पीछे का क्रम नहीं।

इसी प्रकार रोह ने पूर्व पूर्व पद छोड़ कर उत्तर-उत्तर पद के साथ पहले-पीछे का क्रम पूछा और भगवान् ने उत्तर दिया।

भगवान् के उत्तरों से रोह अनगार परम सतुष्ट हुआ[1]।

लोकस्थिति के सबन्ध में गौतम के प्रश्न

गौतम ने पूछा—भगवन् ! लोकस्थिति कितने प्रकार की कही है ?

भगवान्—गौतम ! लोकस्थिति आठ प्रकार की कही है, जैसे–१ आकाश पर हवा प्रतिष्ठित है, २ हवा पर समुद्र, ३ समुद्र पर पृथ्वी, ४ पृथ्वी पर त्रसस्थावर प्राणी, ५ (त्रसस्थावर) जीवों पर अजीव (जीव शरीर) और ६ कर्मों पर जीव प्रतिष्ठित हैं, ७ अजीव जीव सगृहीत है और ८ जीव-कर्म सगृहीत हैं॥

गौतम—भगवन् ! यह कैसे ? आकाश पर हवा और हवा पर पृथ्वी आदि कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है।

भगवान्—गौतम ! जैसे कोई पुरुष मशक को हवासे पूर्ण भर कर उसका मुँह बंद कर दे, फिर उसको बीच मे से मजबूत बाँध कर मुँह पर की गाँठ खोल हवा निकाल कर उसमें पानी भर दे और फिर मुँह पर तान कर गाँठ दे दे और बाद मे बीच की गाँठ छोड दे तो वह पानी नीचे की हवा पर ठहरेगा ?

गौतम—हाँ भगवन् ! वह पानी हवा के ऊपर ठहरेगा।

भगवान्—इसी तरह आकाश के ऊपर हवा और हवा के ऊपर पृथ्वी आदि रहते हैं। गौतम ! कोई आदमी मशक को हवा से भर कर अपनी कमर मे बाँधे हुए अथाह जल को अवगाहन करे तो वह ऊपर ठहरेगा या नहीं ?

गौतम—हाँ भगवन्, वह मनुष्य ऊपर रहेगा।

---

[1] भ० श० १, उ० ६, प० ८०-८१।

भगवान्—इसी प्रकार आकाश पर हवा और हवा पर पृथ्वी आदि प्रतिष्ठित हैं[1]।

इस वर्ष भगवान् ने वर्षावास राजगृह में ही किया।

वर्षाकाल पूरा होते ही भगवान् ने राजगृह से पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर विहार किया और गाँवों में धर्म प्रचार करते हुए कचगला नगरी के छत्रपलास चैत्य में पधारे। कचगलानिवासी तथा आसपास के गाँवों के अनेक भाविक लोग भगवान् का आगमन सुन कर छत्रपलास में एकत्र हुए और वन्दन-नमस्कार पूर्वक धर्म श्रवण कर अपने-अपने स्थान पर गये।

२३-तेईसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९०-४८९)

उस समय श्रावस्ती के समीप एक मठ में गर्दभालिशिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। वह वेद, वेदाङ्ग, पुराण आदि वैदिक साहित्य का पारगत विद्वान् तथा तत्त्वान्वेषी और जिज्ञासु तपस्वी था। जिस समय भगवान् छत्रपलास में पधारे स्कन्दक कार्यवश श्रावस्ती आया हुआ था। वहाँ उसे 'पिंगलक' नामक कात्यायन गोत्रीय एक निर्ग्रन्थ श्रमण मिले। श्रमण पिंगलक ने स्कन्दक से पूछा 'मागध! इस लोक का अन्त है या नहीं? जीव का अन्त है या नहीं? सिद्धि का अन्त है या नहीं? सिद्धों का अन्त है या नहीं? और हे मागध! किस मरण से मरता हुआ जीव बढ़ता और घटता है?' पाँचों प्रश्न एक साथ पूछ कर निर्ग्रन्थ ने उत्तर की प्रतीक्षा की।

स्कन्दक प्रव्रज्या

स्कन्दक कात्यायन ने पाँचों प्रश्नों को अच्छी तरह सुना और उनपर खूब विचार भी किया परन्तु उनका उत्तर नहीं दे सका। उल्टा वह ज्यों ज्यों उनपर विचार करता जाता शंकाकुल हो विशेष उलझता जाता। पिंगलक ने दूसरी और तीसरी बार भी उन प्रश्नों की आवृत्ति की पर स्कन्दक की तरफ से कोई उत्तर नहीं मिला।

ठीक इसी समय भगवान् महावीर के छत्रपलास चैत्य में पधारने

---

1 भ० श० १, उ० ६, प० ८१

के समाचार श्रावस्ती मे पहुँचे। चौक, बाजार, मुहल्ले और गलियों मे उनकी चर्चा होने लगी और क्षणभर मे श्रावस्ती की आस्तिक प्रजा से छत्रपलास के मार्ग पट गये।

नगरवासियों की यह चर्चा और प्रवृत्ति कात्यायन स्कन्दक ने देखी और वे भी सावधान हो गये। ज्ञानी महावीर के पास जाकर वन्दन-नमस्कार और धर्मचर्चा करने के विचार से वे श्रावस्ती से जल्दी लौट कर अपने आश्रम मे आये और गेरुआ वस्त्र धारणकर त्रिदंड, कुण्डिका, काञ्चनिका, कटोरिका, विसिका, केसरिका, छन्नालक, अङ्कुशक, पवित्रिका तथा गणेत्रिका ले पादुकाएँ पहन आश्रम से निकले और श्रावस्ती के मध्य मे होते हुए छत्रपलास चैत्य की सीमा मे पहुँचे।

उधर भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—गौतम! आज तुम अपने एक पूर्वपरिचित को देखोगे।

गौतम—भगवन्! मैं किस पूर्वपरिचित को देखूँगा?

महावीर—आज तुम कात्यायन स्कन्दक परिव्राजक को देखोगे।

गौतम—भगवन् यह कैसे! स्कन्दक यहाँ कैसे मिलेगा?

महावीर—श्रावस्ती मे पिंगलक निर्ग्रन्थ ने स्कन्दक से कुछ प्रश्न पूछे थे जिनका उत्तर वह नहीं दे सका। फिर हमारा यहाँ आगमन सुनकर वह अपने आश्रम मे लौट गया और वहाँ से गेरुआ वस्त्र पहन त्रिदण्ड कुण्डिकादि उपकरण ले यहाँ आने के लिये प्रस्थान कर चुका है। तुम्हारा पूर्वपरिचित स्कन्दक अभी मार्ग में आ रहा है। वह अब बहुत दूर नहीं, थोड़े ही समय मे तुम्हारे दृष्टिगोचर होगा।

गौतम— भगवन्! क्या कात्यायन स्कन्दक मे आपका शिष्य होने की योग्यता है?

महावीर—स्कन्दक मे शिष्य होने की योग्यता है और वह हमारा शिष्य हो जायगा।

भगवान् महावीर और गौतम का वार्तालाप हो ही रहा था कि इतने में स्कन्दक समवसरण के निकट आ पहुँचे। उन्हें देखते ही गौतम उठे और सामने जाकर स्वागत करते हुए बोले—मागध! क्या यह सच है कि श्रावस्ती में पिंगल निर्ग्रन्थ ने आपसे कुछ प्रश्न पूछे थे और उनका

ठीक उत्तर न सूझने पर उसके समाधान के लिये आपका यहाँ आना हुआ है ?

स्कन्दक—बिलकुल ठीक है। पर गौतम ! ऐसा कौन ज्ञानी और तपस्वी है जिसने मेरे दिल की यह गुप्त बात तुम्हें कह दी ?

गौतम—महानुभाव स्कन्दक ! मेरे धर्माचार्य भगवान् महावीर ऐसे ज्ञानी और तपस्वी हैं जो भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के सब भावों को जानते और देखते हैं। इन्हीं महापुरुष के कहने से मैं तुम्हारे दिल की गुप्त बात जान सका हूँ।

स्कन्दक—अच्छा, तब चलिये गौतम, तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन कर लूँ।

गौतम—बहुत अच्छा, चलिये।

इन्द्रभूति, गौतम और स्कन्दक दोनों भगवान् महावीर के पास पहुँचे। स्कन्दक की दृष्टि उनके तेजस्वी शरीर पर पड़ते ही उनके अलौकिक रूप, रंग और तेज से वह आश्चर्य-चकित हो गया। महातपस्वी, महाज्ञानी और दिव्यतेजस्वी महावीर के दर्शनमात्र से स्कन्दक का हृदय हर्षावेग से भर गया। वे भगवान् के निकट आये, त्रिप्रदक्षिणा पूर्वक वन्दन किया और हाथ जोडकर सामने खडे हो गए।

स्कन्दक के मनोभाव को प्रकट करते हुए महावीर ने कहा—स्कन्दक ! पिंगलक के 'लोक सादि है या अनन्त ?' इत्यादि प्रश्नों से तुम्हारे मन में संशय उत्पन्न हुआ है ?

स्कन्दक—जी हाँ, इस विषय में मेरा मन शंकित है और इसी लिए आपके चरणों मे आया हूँ।

महावीर—स्कन्दक ! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भेद से लोक चार प्रकार का है। द्रव्य स्वरूप से लोक सान्त (अन्तवाला) है, क्योंकि वह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्‌गलास्तिकाय रूप केवल पञ्चद्रव्यामय है। क्षेत्रस्वरूप से लोक असंख्यात योजन कोटाकोटि लंबा, असंख्यात योजन कोटाकोटि चौड़ा और असंख्यात योजन कोटाकोटि विस्तृत है, फिर भी वह सान्त है। काल स्वरूप से लोक अनन्त, नित्य और शाश्वत है क्योंकि वह पहले था,

अब है और आगे रहेगा। त्रिकालवर्ती होने से कालात्मक लोक अनन्त है। और भावस्वरूप से भी लोक अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान, गुरु-लघु और अगुरु-लघु पर्यायात्मक है, अनन्त पर्यायात्मक होने से भावलोक 'अनन्त' है। जीव भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वरूप से विचारणीय है। द्रव्यस्वरूप से जीव—द्रव्य एक होने से सान्त है। क्षेत्रस्वरूप से जीव असख्यातप्रदेशिक और असख्य आकाशप्रदेश—व्यापी है, तथापि वह सान्त है। कालस्वरूप से जीव अनन्त है, क्योंकि यह पहले था, अब है, और भविष्य मे रहेगा, त्रिकालवर्ती होने से कालापेक्षया जीव नित्य (शाश्वत) है। भावस्वरूप से भी जीव अनन्त है। ज्ञान, दर्शन और चरित्र के अनन्तानन्त पर्यायों से भरपूर और अनन्त अगुरुलघु पर्याय स्वरूप होने से भाव से जीव अनन्त है।

स्कन्दक! इसी प्रकार सिद्धि भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार प्रकारों से विचारणीय है। द्रव्यस्वरूप से सिद्धि एक होने से सान्त है। क्षेत्रस्वरूप से सिद्धि पैंतालीस लाख योजन लबी-चौड़ी और एक करोड बयालीस लाख तीस हजार दो सौ योजन और कुछ कम दो कोस की परिधिवाली है। कालस्वरूप से सिद्धि अनन्त है, इसका पहले कभी अभाव नहीं था, वर्तमान में अभाव नहीं है और भविष्य में कभी अभाव नहीं होगा। यह शाश्वत है और रहेगी। भावस्वरूप से भी अनन्त पर्यायात्मक होने से सिद्धि अनन्त है।

सिद्ध भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से चार प्रकार के हैं। द्रव्यापेक्षया सिद्ध एक होने से सान्त है। क्षेत्रविचार से सिद्ध असख्य-प्रदेशात्मक तथा असख्याकाशप्रदेशव्यापी होने पर भी सान्त है। कालस्वरूप से सिद्ध की आदि होने पर भी उसका अन्त नहीं होता अत वह अनन्त है। भावस्वरूप से सिद्ध अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अगुरु-लघु पर्यायमय होता है।

स्कन्दक! मरण मैंने दो तरह के कहे हैं—एक बालमरण और दूसरा पडित-मरण। बालमरण के बारह भेद हैं—१ भूख की पीड़ा

से तड़प कर, २ विषय-भोग की अप्राप्ति से निराश होकर, ३ जीवन भर में किए हुए पापों को हृदय में गुप्त रखकर, ४ वर्तमान जीवन की विशेष सफलता न कर फिर इसी गति का आयुष्य बाँध कर, ५ पर्वत से गिर कर, ६ वृक्ष से गिर कर, ७ जल में डूब कर, ८ अग्नि में जल कर, ९ विष खाकर, १० शस्त्र प्रयोग से, ११ फाँसी लगा कर और १२ गीध पक्षी अथवा अन्य माँसभक्षी पक्षियों से नुचवा कर मरना।

स्कन्दक! इन बारह प्रकार के मरणों में से किसी भी मृत्यु से मरता हुआ जीव नरक और तिर्यंगति का अधिकारी और चतुर्गत्यात्मक संसार भ्रमण को बढ़ाता है। मरण से बढ़ना इसी को कहते हैं।

पण्डित—मरण के दो भेद हैं—१ पादपोपगमन और २ भक्त प्रत्याख्यान।

आयुष्य का अन्त निकट जान कर खड़े खड़े, बैठे बैठे अथवा सोते-सोते जिस आसन में अनशन स्वीकार किया जाय उसी आसन में अन्त तक रहकर शुभ ध्यान पूर्वक प्राण त्याग करना पादपोपगमन मरण है।

अनशन करके भी दूसरी चेष्टाओंका त्याग न कर अपनी आवश्यक क्रियाओं को करते हुए समाधिपूर्वक प्राणत्याग करना भक्तप्रत्याख्यान मरण है।

स्कन्दक! इन पंडित—मरणों से मरते हुए ज्ञानी मनुष्य नरक तिर्यंगति के भ्रमण कम कर देते हैं और इस अनादि-अनन्त दीर्घसंसार को कम करके मुक्ति के निकट जा पहुँचते हैं।

इस स्पष्टीकरण से प्रतिबुद्ध हो स्कन्दक ने भगवान् महावीर को वन्दन कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशेष उपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने उसी समय स्कन्दक तथा अन्य उपस्थित महानुभावों के समक्ष निर्ग्रन्थ धर्म का उपदेश किया जिसे सुन कर स्कन्दक आनन्दित होकर बोले—'भगवन् मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन को चाहता हूँ, मैं इस पर पूर्ण श्रद्धा करता हूँ, आपका कथन निस्सन्देह सत्य है मैं आपके प्रवचन को स्वीकार करता हूँ।' यह कहकर स्कन्दक ईशानकोण की तरफ कुछ दूर गये और त्रिदण्ड, कमण्डलु, पादुका आदि परिव्राजकोप-

करणों को एकान्त में छोड फिर भगवान् के पास आये और वन्दन कर बोले—'भगवन् ! यह ससार चारों ओर से आग मे जलते हुए घर के समान है। जलते घर में से जो भी सारभूत पदार्थ हाथ लगे उसे लेकर गृहस्वामी बाहर निकल जाता है। हे भगवन् ! इस जलते हुए ससार दावानल मे 'आत्मा' ही मेरा सर्वस्व है। इसको बचाने के लिये इस दावानल तुल्य ससार से दूर होना ही मेरे लिये हितकर है।' यह कहकर स्कन्दक ने महावीर के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ली।

श्रमण भगवान् ने उसे निर्ग्रन्थ मार्ग मे प्रविष्ट कर तत्सबन्धी शिक्षा और सामाचारी से परिचय कराया।

भगवान् की सेवा मे रहते, श्रमण-धर्म की आराधना करते और जिन प्रवचन का अभ्यास करते हुए अनगार स्कन्दक ने एकादशाङ्गो का अध्ययन किया।

कात्यायन स्कन्दक पहले ही से तपस्वी थे। भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने के बाद वे और भी विशिष्ट तपस्वी हो गये, भिक्षु-प्रतिमा, गुणरत्नसवत्सरतप आदि विविध तप और विशिष्ट साधनाओं से कर्मक्षय करने मे स्कन्दक ने शक्ति भर प्रयत्न किया। और पूरे १२ वर्ष तक श्रामण्य पालने के उपरान्त स्कन्दक अनगार ने अन्त मे विपु लाचल पर्वत पर जाकर अनशन कर दिया और समाधिपूर्वक देह छोड 'अच्युत कल्प' नामक स्वर्ग मे देवपद प्राप्त किया। वहाँ से महाविदेह मे मनुष्य जन्म पाकर पुन धर्म की अराधना से निर्वाणपद प्राप्त करेंगे[1]।

छत्रपलास चैत्य से विहार कर भगवान् श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे पधारे। भगवान् के आगमन पर श्रावस्ती की प्रजा आपके दर्शन वन्दन के लिये उमड पड़ी। श्रमण भगवान् की धर्मदेशना से अनेक भाविक मनुष्यों को धर्म प्राप्ति हुई, अनेक गृहस्थों ने गृहस्थधर्म के व्रत लिये, जिनमे गाथापति नन्दिनी पिता, उसकी स्त्री अश्विनी, गाथापति सालिही-पिता और उसकी स्त्री फाल्गुनी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रावस्ती से भगवान् विदेह भूमि की तरफ पधारे और वाणिज्य-ग्राम में जाकर वर्षावास किया।

---

१ भग० श० २, उ० १, प० ११२-१२८।

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् वाणिज्यग्राम से ब्राह्मणकुण्ड के बहुसाल चैत्य में पधारे। यहाँ पर जमालि अनगार को अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ पृथक विहार करने की इच्छा हुई, वे उठे और भगवान् को वन्दन कर बोले—'भगवन्! आपकी आज्ञा से मैं अपने परिवार के साथ पृथक विहार करना चाहता हूँ।' जमालि की इस प्रार्थना का भगवान् ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

२४—चौबीसवां वर्ष
(वि॰ पू॰ ४८९–४८८)

जमालि ने दूसरी तीसरी बार भी इसी तरह वन्दनपूर्वक पृथक विहार की आज्ञा माँगी परन्तु श्रमण भगवान् की तरफ से उसे कोई उत्तर नहीं मिला, तब जमालि बिना आज्ञा ही अपने अनुयायी पाँच सौ साधुओं के साथ बहुसाल चैत्य से निकल गया। ब्राह्मणकुण्ड से श्रमण भगवान् ने वत्सभूमि में प्रवेश किया और निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार करते हुए कौशांबी पधारे। यहाँ पर आपको सूर्य और चन्द्र वन्दन करने के लिए पृथ्वी पर आये।

कौशांबी से काशी राष्ट्र में से होकर भगवान् राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे। उन दिनों कुछ पार्श्वापत्य स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ विचरते हुए राजगृह के निकटवर्ती तुंगीया नगरी के पुष्पवतीक चैत्य में आये हुए थे। स्थविरों का आगमन सुनकर तुंगीया के अनेक श्रमणोपासक वन्दन तथा धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए उद्यान में गये। श्रमणोपासक तथा सभा के सामने स्थविरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश किया। जिसे सुनकर श्रमणोपासकगण सतुष्ट हुआ और फिर वन्दन कर विशेष जिज्ञासा से ज्ञानगोष्ठी करने लगा, उन्होंने पूछा—भगवन्! सयम का फल क्या है, और तप का फल क्या है?

पार्श्वापत्यों की देशना का श्रमण भगवान् द्वारा समर्थन

स्थविर—आर्यो! सयम का फल है 'अनाश्रव' और तप का फल है 'निर्जरा'।

श्रमणो॰—भगवन्! यदि सयम का फल अनाश्रव और तप का फल 'निर्जरा' है तो देवलोक में देव किस कारण से उत्पन्न होते हैं?

कालियपुत्र स्थविर—आर्यो ! प्राथमिक तप से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।

मेहिल स्थविर—आर्यो ! प्राथमिक संयम से देवलोक मे देव उत्पन्न होते हैं।

आनन्दरक्षित स्थविर—आर्यो ! कार्मिकता से देवलोक मे देव उत्पन्न होते हैं।

काश्यप स्थविर—आर्यो ! संगिकता (आसक्ति) से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं। पूर्वतप, पूर्वसयम, कार्मिकता और सगिकता से देवलोक मे देव उत्पन्न होते हैं।

स्थविरों के उत्तर सुनकर श्रमणोपासक बहुत प्रसन्न हुए और स्थविरों को वन्दन कर अपने-अपने स्थान पर गये। बाद मे स्थविर भी वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

उसी समय इन्द्रभूति गौतम भगवान् की आज्ञा ले राजगृह में भिक्षाचर्या के लिए निकले, ऊँच, नीच, मध्यम-कुलों मे भिक्षाटन करते हुए उन्होंने पूर्वोक्त पार्श्वापत्य स्थविरों से तुगीया के श्रमणोपासकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों और स्थविरों की तरफ से दिये गये उनके उत्तरों के विषय में लोकचर्चा सुनी। इस पर गौतम को कुछ सदेह हुआ और स्थविरों के उत्तर ठीक हैं या नहीं इसका निर्णय करने का विचार कर वे भगवान् के पास गये। भिक्षाचर्या की आलोचना करने के बाद उन्होंने पूछा—भगवन् ! मैंने राजगृह मे स्थविरों के प्रश्नोत्तर सबन्धी जो चर्चा सुनी है क्या वह ठीक है ? स्थविरों ने जो उत्तर दिये क्या वे ठीक हैं ? ऐसे उत्तर देने में वे समर्थ हो सकते हैं ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! तुगीयानिवासी श्रमणोपासकों के प्रश्नों के पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो उत्तर दिये हैं वे यथार्थ हैं। उन्होंने जो कुछ कहा सत्य है। हे गौतम ! इस विषय में मेरा भी यही सिद्धान्त है कि पूर्वतप तथा पूर्वसयम से देव देवलोक मे उत्पन्न होते हैं[1]।

---

1 (भ० श० २, उ० ५, प० १३८–१४०)

इसी वर्ष में भगवान् के शिष्य वेहास, अभय आदि अनगारों ने राजगृह के पार्श्ववर्ती विपुल पर्वत पर अनशन कर देवपद प्राप्त किया। वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने राजगृह में किया। चातुर्मास्य समाप्त होते ही भगवान् ने चम्पा नगरी की ओर विहार कर दिया। मगधपति श्रेणिक के देहावसान के बाद कोणिक ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था, इस कारण मगध का राजकुटुम्ब चम्पा में ही रहता था। भगवान् भी उसी चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे।

२५-पचीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८८-४८७)

राजा कोणिक ने बड़ी सजधज के साथ भगवान् का स्वागत किया। सम्पूर्ण नगर राजा का अनुगामी बनकर भगवान् को वन्दन नमस्कार करने के लिए गया। भगवान् ने कोणिक तथा नागरिकगण के सामने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश किया, जिससे अनेक भव्यात्माओं को जिन धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न हुई और अनेक गृहस्थों ने मुनि धर्म अंगीकार किया। मुनिधर्म अंगीकार करनेवालों में पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी मगधपति श्रेणिक के पौत्र थे। इनके पिता क्रमशः काल, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण और महासेनकृष्ण नाम के श्रेणिक के पुत्र थे जो कोणिक के षड्यन्त्र में शामिल होकर श्रेणिक को पदच्युत करने में सहायक बने थे। इसके अतिरिक्त जिनपालित आदि अनेक समृद्ध नागरिकों ने भी भगवान के पास निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म अंगीकार किया और पालितादि अनेक गृहस्थों ने श्राद्धधर्म को ग्रहण किया।

चम्पा से श्रमण भगवान् विदेह भूमि में विचरे। बीच में काकन्दी में गाथापति क्षेमक, धृतिधर आदि को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। इस साल का वर्षावास भगवान् ने मिथिला में किया। चातुर्मास्य के अन्त में भगवान् ने अंगदेश की तरफ विहार किया। इन दिनों विदेह की राजधानी वैशाली रणभूमि बनी हुई थी। एक ओर मगधपति कोणिक और उसके काल आदि दस सौतेले भाई अपने-अपने दलबल के

२६-छब्बीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८७-४८६)

साथ वैशाली पर चढ गये थे दूसरी ओर वैशालीपति चेटकराज और काशि-कोशल के अठारह गणराज अपनी-अपनी सेनाएँ सजाकर बचाव के लिये तैयार खडे थे। बड़े जोरों से सग्राम छिड़ा और प्रतिदिन सैनिक और प्रधान पुरुषों का क्षय होने लगा।

कोणिक ने अपने विमातृक भाई कालकुमार को अपना सेनापति नियुक्त किया। पहले ही दिन राजा चेटक के बाण से वह मारा गया।

दूसरे धावे में कोणिक ने सुकाल नामक अपने भाई को सेनानायक बनाया और वह भी युद्ध मे काम आया।

क्रमश कोणिक के दसों सौतेले भाई मुख्य सेनापति बन बनकर रण मे काम आ चुके थे। फिर भी लड़ाई बडे जोरों से चल रही थी।

इसी समय भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य मे पधारे। नागरिकजन भगवान् के दर्शन-वन्दनार्थ गये जिनमें राजकुलीन स्त्रियों का समुदाय भी शामिल था।

राजकुलीन स्त्रियों में राजा श्रेणिक की काली आदि विधवा रानियाँ भी शामिल थीं, जिनके पुत्र वैशाली की लड़ाई मे गये हुए थे।

भगवान् ने सभाजनों के समक्ष धर्मदेशना की जिसे सुनकर सभा विसर्जित हुई।

तब अवसर पाकर काली आदि राजमाताओं ने भगवान् से पूछा—भगवन्! कालकुमार आदि लड़ाई मे गये हुए हैं। क्या वे सकुशल वापस लौटेंगे?

भगवान् ने उन्हें वस्तुस्थिति से परिचित कराया और उन्हें संसार की असारता और सयोगों की वियोगान्तता का दिग्दर्शन कराया, जिससे प्रतिबोध पाकर काली आदि दस राजमाताओं ने भगवान् के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ले श्रमणी-सघ मे प्रवेश किया।

कुछ समय तक चम्पा में ठहरकर भगवान् वापस मिथिला की तरफ विहार कर गये। वर्षावास मिथिला मे व्यतीत किया।

२७–सत्ताईसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८६–४८५)

मिथिला में चातुर्मास्य समाप्त कर भगवान् ने वैशाली के निकट होकर श्रावस्ती की तरफ विहार किया। कोणिक के भाई वेहास (हल्ल),

वेहल्ल जिनके निमित्त वैशाली में युद्ध हो रहा था किसी तरह
के पास पहुँचे और निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर उनके शिष्

भगवान् विचरते हुए श्रावस्ती पहुँचे और श्रावस्ती
कोणस्थित कोष्ठक चैत्य में ठहरे ।

उन दिनों मंखलिपुत्र गोशालक भी श्रावस्ती में था । म
जुदा होने के बाद वह अधिकांश श्रावस्ती की तरफ ही घू
तेजोलेश्या और निमित्तशास्त्र का अभ्यास
ने श्रावस्ती में ही किया था और अपने को
नाम से प्रकट करने की भावना भी उसे श्रावस्ती में जागृत हुई

गोशालक प्रकरण

श्रावस्ती में दो मनुष्य गोशालक के परम भक्त थे । एक 'ह
कुम्हारिन और दूसरा 'अयपुल' नामक गाथापति । गोशालक
श्रावस्ती में आता इसी हालाहला की भाण्डशाला में ठहरता ।

जब भगवान् महावीर को दीक्षा लिए करीब दो वर्ष होने
तब गोशालक उनका स्वयभू शिष्य बना था, और लगभग छ वर्ष
रहने के बाद वह उनसे पृथक् हो गया था, जिस बात को
अठारह वर्ष पूरे हो चुके थे । गोशालक को श्रमण बने करीब
वर्ष हो चुके थे । २४ वाँ वर्षा चातुर्मास्य उसने श्रावस्ती में
की भाण्डशाला में ही किया था । चातुर्मास्य समाप्त हो चुका
भी गोशालक अभी श्रावस्ती में ही ठहरा हुआ था ।

जब तक गोशालक भगवान् महावीर के साथ रहा उसमें
और कुतूहलवृत्ति अधिक रही और सब से अधिक रहा महावीर
भक्ति-भाव । कहीं कुछ भी प्रसग आता और गोशालक अपने
भगवान् महावीर के तपस्तेज की स्तुति करने लगता । यही नह
मुकाबले में अन्य श्रमण-निर्ग्रन्थों का तिरस्कार तक कर देता, प
समय की हम बात कर रहे हैं उस समय में ये सब बातें इतिह
चुकी थीं । पग पग पर महावीर के तपस्तेज की दुहाई दे
गोशालक अब आजीवक मत का धर्माचार्य था। वह अपने को
के नाम से प्रख्यात करता हुआ आजीवक मत का प्रचार कर रह

इसी अवसर में श्रमण भगवान् महावीर भी विचरते हुए

के ईशान कोणस्थित कोष्ठक चैत्य में पधारे। आपके मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम आपकी आज्ञा ले भिक्षाचर्यार्थ श्रावस्ती मे गये। बस्ती मे फिरते हुए गौतम ने अनेक स्थानों पर जनप्रवाद सुना—'आजकल श्रावस्ती मे दो तीर्थंकर विचर रहे हैं—एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मखलि श्रमण गोशालक।' गौतम को इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ कि श्रावस्ती में अनेक लोग गोशालक को तीर्थंकर और सर्वज्ञ पुकार रहे हैं। वे भिक्षाभ्रमण से निवृत्त होकर कोष्ठकोद्यान मे आये और सभाके समक्ष इस विषय को छेड़ते हुए बोले—भगवन्! आजकल श्रावस्ती मे दो तीर्थंकर होने की चर्चा हो रही है, यह कैसे? क्या गोशालक सर्वज्ञ और तीर्थंकर है?

इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! गोशालक के विषय मे जो बातें हो रही हैं वे सब मिथ्या हैं। गोशालक जिन, तीर्थंकर कहलाने के योग्य नहीं है। वह जिन शब्द का दुरुपयोग कर रहा है। गौतम! गोशालक जिन या सर्वज्ञ कुछ भी नहीं है। यह शरवनग्राम के बहुल ब्राह्मण को गोशाला मे जन्म लेने से गोशालक और मखलि नामक मख का पुत्र होने से मखलिपुत्र कहलाता है। यह आज से चौवीस वर्ष पहले हमारा धर्मशिष्य होकर हमारे साथ रहता था परन्तु कुछ वर्षों के बाद यह हम से जुदा हो गया और तब से वह स्वच्छन्द विचरता है, स्वच्छन्द ही बोलता है।

गौतम को उत्तर देते हुए महावीर ने गोशालक सम्बन्धी सब हाल सभा के सामने प्रकट कर दिया। सुननेवाले अपने अपने स्थानों की ओर चल दिए। गोशालक उस समय कोष्ठकोद्यान और श्रावस्ती के मध्य-प्रदेश मे नगर के बाहर आतापना कर रहा था। उसके पास से जाते हुए नगरवासियों मे गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तरों की चर्चा हो रही थी—'महावीर के कथनानुसार गोशालक मखलिपुत्र है। यह तीर्थंकर जिन नहीं, छद्मस्थ मनुष्य है।' ये शब्द वहाँ खड़े गोशालक के कानों तक पहुँचे। वह कुपित होकर वहाँ से जल्दी जल्दी श्रावस्ती की तरफ चला और अपने निवास-स्थान हालाहला की भाण्डशाला मे जाकर अपने शिष्य समुदाय के साथ मन्त्रणा करने बैठा।

उस समय महावीरके शिष्य आनन्द नामक अनगार भिक्षाचर्याके लिए घूमते हुए गोशालक के निवास स्थान के आगे होकर जा रहे थे। गोशालक देखते ही उन्हें रोक कर बोला—देवानुप्रिय आनन्द! जरा ठहर और एक बात कहता हूँ, उसे सुन।

पूर्व समय की बात है। एक नगर मे रहनेवाले कुछ व्यापारी किराने की गाड़ियाँ भर व्यापार के लिए परदेश चले। चलते हुए वे एक भयकर जगल मे पहुँचे। व्यापारी उसे लाँघते हुए आगे बढ़ते चले पर कहीं भी उस जगल का अन्त आता दिखायी नहीं दिया। उनके पास का पानी समाप्त हो चुका था और वे उस भीषण जगल मे पानी की खोज मे इधर-उधर घूमने लगे। घूमते फिरते वे एक हरियालीवाले निम्नप्रदेश में पहुँचे। वहाँ जल तो नहीं पर जलार्द्र चार बाँबी मिलीं। व्यापारियों ने एक बाँबी को खोदा तो उसके नीचे से स्वच्छ जल निकला। सब ने जल पिया और अपने अपने बरतनों मे भी भर लिया। तब उनमें से एक सुबुद्धि वणिक ने कहा—अब चलिये, अपना काम हो गया। पर लोभी वणिक बोले—पहले वल्मीक मे से जल निकला है तो दूसरे मे से सुवर्ण आदि कुछ बहुमूल्य पदार्थ निकलेगा यह कहते हुए उन्होंने दूसरा वल्मीक तोड़ा और उसमे से सोना ही निकला। लोभियों का लोभ बढ़ा। वे बोले—पहले में से जल और दूसरे मे से सोना निकला है तो तीसरे मे से अवश्य ही मणिरत्न निकलेंगे। सुबुद्धि ने कहा—अतिलोभ को छोड़िये। सोना हाथ लगा है इसे लेकर चलें, पर लोभियों ने उसकी एक न सुनी और तीसरा वल्मीक भी तोड़ डाला और सचमुच ही उसमें से मणिरत्नों का खजाना निकला। लोभी वणिक बोले—आइये, अब इस आखिरी वल्मीक मे से हीरे निकाल लें। सुबुद्धि ने कहा—अतिलोभ को छोडोगे भी? यह आखिरी वल्मीक है, न मालूम हीरों के स्थान कहीं विषधर साँप ही निकल पडे। जो मिला है वही बहुत है। अब अति लोभ करना अच्छा नहीं। पर लोभी वणिक उसकी कब सुननेवाले थे। उन्होंने चौथा वल्मीक भी तोड़ ही दिया और उसमे से जो दृष्टिविष सर्प निकला उसके दृष्टिपात मात्र से वे सब जल कर खाक हो गये। केवल

वह सतोषी सुबुद्धि वणिक, जो उनका हित-शिक्षक था, उस उत्पात से बचने पाया ।

आनन्द ! उक्त उपमा तेरे धर्माचार्य को बराबर लागू होती है । तेरे धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्र को आज सपूर्ण लाभ मिल चुके हैं, फिर भी उन्हें सतोष नहीं । मानों ससार मे वे आप ही अद्वितीय जिन हैं, दूसरा कोई भी उनके मुकाबले मे हो ही नहीं सकता । जहाँ तहाँ वे मेरे सबध में कहते फिरते हैं—'यह गोशालक है, मखलिपुत्र है, मेरा शिष्य है, छद्मस्थ है।' ठीक है, आनन्द ! अब तू जा और अपने गुरु को सावधान कर दे । मैं आता हूँ और विपरीत भाषी तेरे धर्माचार्य की उन दुर्बुद्धि वणिकों की सी दशा करता हूँ ।

गोशालक का क्रोधपूर्ण भाषण सुनकर अनगार आनन्द भयभीत हो गया । वह जल्दी जल्दी महावीर के पास गया और गोशालक की सब बातें कहकर बोला—भगवन् ! गोशालक अपने तपस्तेज से किसीको जलाकर भस्म करने से क्या समर्थ है ? किसीको एकदम जलाकर खाक कर देना क्या गोशालक की शक्ति का विषय है ?,

भगवान् ने कहा—हाँ, आनन्द ! अपने तपस्तेज से एकदम जलाकर भस्म कर देने मे गोशालक समर्थ है । वैसा करना गोशालक की शक्ति का विषय है । फिर भी यह तेज शक्ति तीर्थंकर को जला नहीं सकती । आनन्द ! जितना तपोबल गोशालक मे है उससे अनन्तगुना तपोबल निर्ग्रन्थ अनगारों में है पर अनगार क्षमाशील होते हैं, वे अपनी तप शक्ति का उपयोग नहीं करते । जो तप-सामर्थ्य अनगारों मे है उससे अनन्तगुना सामर्थ्य भगवान् स्थविरों में है पर स्थविर क्षमावान् होते हैं, वे अपने सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करते। और जितनी तपोलब्धि स्थविरों में है उससे अनन्तगुनी अधिक तपोलब्धि भगवान् अर्हन्तों मे होती है पर भगवान् अर्हन्त क्षमावान् होते हैं, वे अपनी तपोलब्धि का उपयोग नहीं करते ।

आनन्द ! इस बात की सूचना गौतमादि स्थविरों को कर दे और उन्हें कह दे कि गोशालक इधर आ रहा है । इस समय वह द्वेष और म्लेच्छभाव से परिपूर्ण है । इसलिये आकर वह कुछ भी कहे, कुछ भी

करे पर तुम्हें उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिये, यहाँ तक कि तुममे से कोई भी उसके साथ धार्मिक चर्चा तक न करे।

अनगार आनन्द ने भगवान् का सदेश गौतम प्रमुख मुनिमण्डल को सुना दिया और सब अनगार अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त हो गये।

अनगार आनन्द को आये अभी अधिक समय नहीं हुआ था कि गोशालक भी अपने आजीवक भिक्षुसघ के साथ महावीर के पास पहुँचा और उनसे थोड़ी दूरी पर ठहर गया।

क्षण भर मौन रखने के बाद गोशालक महावीर को लक्ष्य कर बोला—तुमने खूब कहा काश्यप ! मैं गोशालक मखलिपुत्र हूँ ? मैं तुम्हारा धर्मशिष्य हूँ ? कितना अन्धेर है ? आयुष्मन् ! तुम्हें पता भी है कि तुम्हारा शिष्य वह मखलिपुत्र गोशालक कभी का परलोक सिधार चुका है। आर्य काश्यप ! मैं तुम्हारा शिष्य मखलि गोशालक नहीं पर एक भिन्न ही आत्मा हूँ। यद्यपि मैंने परीषहक्षम गोशालक का शरीर धारण किया है फिर भी मैं गोशालक नहीं, किन्तु गोशालक शरीर प्रविष्ट उदायी कुण्डियायन नामक धर्मप्रवर्तक हूँ। यह मेरा सातवाँ शरीरान्तर प्रवेश है। इस प्रकार मैंने अन्यान्य शरीरों मे प्रवेश क्यों किया ? यह प्रश्न हो सकता है और इसका कारण अपने धर्मसिद्धान्त के अनुसार समझाऊँगा।

आर्य ! हमारे धर्म मे जो मोक्ष गये हैं, जाते हैं और भविष्य मे जायेंगे वे सब चौरासी लाख महाकल्पों के उपरान्त सात दिव्य सायूथिक और सात सनिगर्भक भव करने के बाद सात शरीरान्तर प्रवेश करके पँसठ लाख साठ हजार छ सौ तीन (६५६०६०३) कर्मांशों का क्षय करके गये हैं, जाते हैं और जायेंगे।

आयुष्मन् ! हमारे महाकल्प और मानस आदि क्या हैं, सो सुनिये।

हमारी शास्त्रीय परिभाषा मे साढे चार सौ योजन लम्बी, आधा योजन चौड़ी और पाँच सौ धनुष्य गहरी नदी का नाम गगा है।

७ गगा = १ महागगा।

७ महागगा = १ सादीन गगा।

७ सादीन गगा = १ मृत्यु गगा।

७ मृत्यु गंगा = १ लोहित गंगा ।

७ लोहित गंगा = १ आवती गंगा और

७ आवती गंगा = १ परमावती गंगा ।

इस प्रकार एक से दूसरी का सात-सात गुना प्रमाण मानने से अन्तिम परमावती गंगा का प्रमाण एक लाख सत्रह हजार छ सौ उनचास (११७६४९) गंगाओं के बराबर हुआ ।

इन सब गंगाओं के वालुकापिण्ड में से प्रतिशत वर्ष में एक वालुका कण के निकालने पर जितने समय मे संपूर्ण वालुकापिण्ड निकल चुके उतने काल का नाम हमारे शास्त्र मे सर प्रमाण अथवा मानससर कहलाता है ।

ऐसे तीन लाख 'सरों' अथवा 'मानसों' का एक 'महाकल्प' और चौरासी लाख 'महाकल्पों' का एक 'महामानस' होता है ।

जब जीव मोक्षाभिमुख होता है तब अनन्त संयूथ (अनन्त जीव राशि) मे से निकलकर पहले वह मानस प्रमाण आयुष्यवाले ऊपर के संयूथ मे (देवलोक मे) उत्पन्न होता है और वहाँ दिव्य सुख भोगने के बाद पहला मनुष्य जन्म प्राप्त करता है ।

फिर वह मानसप्रमाण आयुष्यवाले मध्यम देव संयूथ मे जाता है और वहाँ दिव्य सुख भोगकर दूसरा मनुष्य भव करता है ।

इसके बाद वह मानस प्रमाण आयुष्यवाले नीचे के देवसंयूथ में देवगति को प्राप्त होता है और वहाँ से निकलकर तीसरा मनुष्य जन्म ग्रहण करता है ।

बाद मे वह ऊपर के मानसोत्तर देव संयूथ मे मानसोत्तर अर्थात् महामानस प्रमाण आयुष्यवाला देव होकर फिर चौथा मनुष्य भव प्राप्त करता है ।

वहाँ से मध्य मानसोत्तर संयूथ मे देव होता है और फिर पाँचवाँ मनुष्य जन्म पाता है ।

फिर वह उससे नीचे मानसोत्तर संयूथ मे देवपद प्राप्त करता है और वहाँ के दिव्य सुख भोगकर छठीबार मनुष्य जन्म धारण करता है।

छठा मनुष्यभव पूरा करके वह दस सागरोपम प्रमाण आयुष्य

स्थितिवाले ब्रह्मदेवलोक मे सुकुमारदेव होता है और वहाँ दस सागर समय पर्यन्त दिव्य सुखों का उपभोग करके वह सातवाँ मनुष्य भव ग्रहण करता है।

सातवें मनुष्य भव मे वह बाल्यावस्था मे ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है और धर्माराधन कर अन्त मे एक के बाद दूसरा ऐसे सात शरीरान्तर-प्रवेश करता है और उन शरीरों मे क्रमश बाईस, इक्कीस, बीस, उन्नीस, अठारह, सत्रह और सोलह वर्ष तक रहता है।

इस प्रकार सात शरीरान्तर प्रवेश करके एक सौ तेंतीस वर्ष तक उनमें रहने के बाद वह पवित्र आत्मा सर्व कर्मों का नाश करके दु खों से मुक्त हो जाता है।

काश्यप ! उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार मैंने सात दिव्य सायूथिक और सात मनुष्य भव कर लिये हैं ओर सातवें मनुष्य भव मे सात शरीरान्तर-प्रवेश भी कर चुका हूँ, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१—सातवें मनुष्य भव मे मैं उदायी कुडियायन था। राजगृह नगर के बाहर मडितकुक्षि चैत्य मे उदायी कुडियायन का शरीर छोड कर मैंने ऐणेयक के शरीर मे प्रवेश किया और बाईस वर्ष तक उसमे रहा।

२—उद्दडपुर नगर के चन्द्रावतरण चैत्य मे ऐणेयक का शरीर छोड़ा और मल्लराम के शरीर मे प्रवेश कर इक्कीस वर्ष उसमें रहा।

३—चम्पानगरी के अगमदिर चैत्य मे मल्लराम का शरीर छोड कर माल्यमडित के शरीर मे प्रवेश किया और बीस वर्ष उसमे रहा।

४—वाराणसी नगरी के काम महावन मे माल्यमडित का शरीर छोड कर रोह के शरीर मे प्रवेश किया और उन्नीस वर्ष उसमे रहा।

५—आलभिका नगरी के पत्तकालय चैत्य में रोह के शरीर से निकल कर भारद्वाज के शरीर मे प्रवेश किया और अठारह वर्ष वहाँ रहा।

६—वैशाली नगरी के कोण्डियायन चैत्य मे गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर मे प्रवेश कर सत्रह वर्ष उसमे रहा।

७—श्रावस्ती मे हालाहला की भाण्डशाला मे अर्जुन के शरीर से निकल स्थिर, दृढ तथा कष्टक्षम इस गोशालक के शरीर मे प्रवेश किया

है। इस शरीर मे सोलह वर्ष तक रहने के उपरान्त सर्व दु खों का अन्त करके मुक्त हो जाऊँगा।

आर्य काश्यप ! अब तुम जान गये होगे कि मैं कौन हूँ। तुम मुझे गोशालक के नाम से पुकारते हो पर मैं वास्तव में गोशालक नहीं, गोशालक शरीरधारी उदायी कुण्डियायन हूँ।

गोशालक का वक्त आत्मगोपक भाषण सुनने के बाद महावीर ने कहा—गोशालक। जैसे कोई चोर एक आध ऊन के रेशे से, सन के रेशे से अथवा रुई के पहले से अपने को ढक कर मान ले कि मैं ढक गया वैसे ही तू दूसरा न होते हुए भी 'दूसरा हूँ' कह कर अपने को छिपाना चाहता है। महानुभाव, इस प्रकार अपनी आत्मा को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न न कर। तू वही मखलिपुत्र गोशालक है जो मेरा शिष्य होकर रहा था। महानुभाव ! तुझे इस प्रकार आत्मगोपन करना उचित नहीं है।

महावीर के इन सत्य वचनों से अतिक्रुद्ध होकर तुच्छ और कठोर वचनों की बौछार करता हुआ बोला—धृष्ट काश्यप ! अब तेरा विनाशकाल आ पहुँचा है। अब तू भ्रष्ट होने की तैयारी मे है। अब समझ ले कि तू इस दुनिया मे था ही नहीं। मेरी तरफ से तुझे सुख नहीं है, काश्यप।

गोशालक के ये अपमानजनक वचन महावीर के विनीत और भद्र शिष्य सर्वानुभूति अनगार से न सहे गये। वे उठ कर गोशालक के पास जाकर बोले—महानुभाव गोशालक ! यदि कोई व्यक्ति किसी पवित्र साधु महात्मा से एक भी धार्मिक वचन सुनता है तो वह उन्हें वन्दन नमस्कार करता है और तुमको तो इन भगवान् ने ही दीक्षा दी और भगवान् ने ही योग्य शिक्षा तथा श्रुतज्ञान दिया है फिर इनके ऊपर तुम ऐसा म्लेच्छभाव रखते हो ! महानुभाव ! ऐसा न करो, ऐसा करना तुम्हें उचित नहीं है।

सर्वानुभूति की इस हितशिक्षा ने गोशालक को क्रोधाग्नि मे घृताहुति का काम किया। शान्त होने के बदले उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने अपनी तेजोलेश्या को एकत्र करके सर्वानुभूति अनगार पर छोड दिया। तेजोलेश्या की प्रचण्ड ज्वालाओं से मुनि का शरीर जल

कर भस्म हो गया और उनकी आत्मा सहस्रार देवलोक में देवपद को प्राप्त हुई।

गोशालक फिर महावीर को धिक्कारने लगा। यह देख कौशलिक सुनक्षत्र अनगार की सहिष्णुता टूट गई। अपने परमगुरु के अपमान से उत्तेजित होकर वे उठे और सर्वानुभूति की ही तरह गोशालक को हितवचन कहने लगे। गोशालक ने इनके ऊपर भी तेजोलेश्या छोड़ी और सुनक्षत्र उससे घायल होकर गिर पड़े। वे अपने धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने सतीर्थ्य साधु साध्वियों के साथ क्षमापन करते हुए प्राणमुक्त होकर अच्युत देवलोक मे देवपद को प्राप्त हुए।

निरपराध दो मुनियों के बलिदान से भी गोशालक की क्रोधज्वाला शान्त नहीं हुई। वह क्रोधावेश मे अनर्गल बक रहा था। यह देखकर भगवान् महावीर ने कहा—गोशालक! एक अक्षर देनेवाला भी विद्या-गुरु कहलाता है, एक भी आर्यधर्म का वचन सुनानेवाला धर्मगुरु माना जाता है। मैंने तो तुझे दीक्षित और शिक्षित किया है, मैंने ही तुझे पढाया और मेरे ही साथ तेरा यह बरताव! गोशालक, तू अनु चित कर रहा है। महानुभाव! तुझे ऐसा करना उचित नहीं।

महावीर के हितवचनों का भी विपरीत परिणाम हुआ। शान्त होने के स्थान पर गोशालक अधिक उत्तेजित हो गया। वह अपने स्थान से सात आठ कदम पीछे हटा और तेज समुद्घात करने लगा। उसने क्षण भर मे अपनी तेज शक्ति को भगवान् महावीर के ऊपर छोड़ दिया। उसका अटल विश्वास था कि इस प्रयोग से वह अपने प्रतिपक्ष का अन्त कर देगा, पर उसकी धारणा निष्फल सिद्ध हुई। पहाड़ से टकराती हुई हवा की तरह गोशालक निसृष्ट तेजोलेश्या महावीर से टकराकर चक्कर काटती हुई ऊँची चढकर वापस गोशालक के शरीर मे घुस गई। तेजोज्वाला के शरीर में घुसते ही जलता और आकुल होता हुआ गोशालक बोला—आयुष्मन् काश्यप! मेरे तपस्तेज से तेरा शरीर व्याप्त हो गया है। अब तू पित्त और दाह ज्वर से पीड़ित होकर छः महीनों के भीतर छद्मस्थ दशा मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा।

श्रमण भगवान् ने कहा—गोशालक तेरे तपस्तेज से मेरा नहीं, तेरा खुद का ही शरीर दग्ध हो गया है। मैं तो अभी सोलह वर्ष तक इस भूमडल पर सुखपूर्वक विचरूँगा और तू स्वय ही पित्तज्वर की पीडा से सात दिन के भीतर छद्मस्थावस्था मे मृत्यु को प्राप्त होगा। गोशालक तू ने बुरा किया। देवानुप्रिय! इस कार्य का तुझे पश्चात्ताप करना पडेगा।

महावीर ओर गोशालक के इस विवाद के समाचार उद्यान से नगर तक पहुँच गये। लोग कहने लगे—आज कोष्ठकोद्यान मे दो जिनों के बीच वाद हो रहा है। एक कहता है तू पहले मरेगा और दूसरा कहता है तू। भला इनमे सत्यवादी कौन होगा और मिथ्यावादी कौन ? इस पर समझदार मनुष्य कहते कि इसमें सशय की बात क्या हैं ? भगवान् महावीर ही तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं और वे ही सत्यवादी हैं। गोशालक जिन नहीं पाखण्डी है और वही मिथ्यावादी है। श्रावस्ती के प्रत्येक चौक और मुहल्ले मे ये बातें हो रही थीं।

अब गोशालक की तेजोलेश्या क्षीण हो चुकी थी। वह निर्विष नाग की तरह निस्तेज हालत मे महावीर के सामने खडा था। इस समय अपने अनगार शिष्यों को सबोधन करते हुए भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो! अग्नि से जली हुई घास जिस तरह निस्तेज हो जाती है उसी तरह गोशालक अब तेजोलेश्या से हीन हो गया है। अब इसके साथ तुम कुछ भी प्रश्नोत्तर करके इसे पराजित कर सकते हो। अब इसके साथ धार्मिक विवाद करने मे तुम्हें कोई भय नहीं।

भगवान् महावीर की आज्ञा पाते ही निर्ग्रन्थ श्रमण गोशालक के पास जाकर उससे धार्मिक प्रश्नोत्तर करने लगे पर गोशालक इस चर्चा मे अपना पक्ष-समर्थन नहीं कर सका। अपने धर्माचार्य की इस कम-जोरी को देखकर उसके कितने ही शिष्यों ने आजीवक सम्प्रदाय का त्याग कर भगवान् महावीर के पास निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार किया। इस घटना से गोशालक के धैर्य का अन्त हो गया। उसने अपनी भय कातर दृष्टि चारों ओर फेंकी और 'हाय मरा' इस प्रकार की करुण चीख के बाद वहाँ से लौट कर वह अपने स्थान गया।

गोशालक की अवस्था बड़ी दयनीय हो रही थी। अपनी तेजोलेश्या

के प्रवेश से उसके शरीर में असह्य पीड़ा हो रही थी जिसे शान्त करने के लिये गोशालक विविध उपाय कर रहा था। एक आम की गुठली अपने हाथ में लेकर उसे बार बार चूसता, आन्तर वेदना को दबाने के लिये बार बार मदिरा पान करता, शारीरिक ताप शान्त करने के लिये अपने शरीर पर मिट्टी मिला जल सींचता, क्षण-क्षणमें उन्मादवश हो नाचता गाता और हालाहला को नमस्कार करता हुआ वह बड़े कष्ट से समय व्यतीत करने लगा।

उस समय श्रावस्ती निवासी आजीवकोपासक अयपुल गाथापति को 'हल्ला' वनस्पति के संस्थान के विषय में शंका उत्पन्न हुई कि 'हल्ला' का आकार कैसा होता होगा। यह तर्क उसके हृदय में पिछली रात को उठा और प्रभात समय अपने धर्माचार्य से इसका खुलासा पूछने के विचार से वह हालाहला की भाण्डशाला में गया, पर गोशालक की तत्कालीन उन्मत्त दशा को देखते ही लज्जित होकर वह पीछे हटा। आजीवक भिक्षु अयपुल का मनोभाव ताड़ गये। उन्होंने तुरत उसे अपने पास बुलाया और बातचीत में आगमन का कारण जान लिया।

गोशालक के तत्कालीन आचरणों का बचाव करते हुए भिक्षुओं ने उसे कहा—अयपुल। अपने धर्माचार्य को तुमने जिस स्थिति में देखा है उसके संबंध में उनका यह कहना है कि ये आठ बातें अन्तिम तीर्थंकर के समय में अवश्यभावी होती हैं, जैसे—१ चरम पान, २ चरम गान, ३ चरम नृत्य, ४ चरम अञ्जलि-कर्म (नमस्कार) ५ चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, ६ चरम सेचनक गन्धहस्ती, ७ चरम महाशिला कटक संग्राम और ८ चरम 'मैं तीर्थंकर'। ये आठों ही वस्तु चरम (अन्तिम) हैं, इस अवसर्पिणी काल में ये फिर होनेवाली नहीं।

आर्य अयपुल, जल के विषय में भगवान् का कथन यह है कि भिक्षु के काम में आने योग्य चार तो पेय जल होते हैं और चार अपेय।

पेय जल ये हैं—१ गोपृष्ठज, २ हस्तमर्दित, ३ आतपतप्त और ४ शिलाप्रभ्रष्ट।

१—गौ के पीठ का स्पर्श करके गिरा हुआ जल 'गोपृष्ठज।'

बाद मेरे इस शरीर को सुगधित जल से नहलाना, सुगन्धित काषायवस्त्र से पोंछना और गोशीर्ष चन्दन के रस से विलेपन करना। फिर इसे श्वेत वस्त्र से ढककर हजार पुरुषों से उठाने योग्य पालकी मे रखकर श्रावस्ती के मुख्य मुख्य सब चौक बाजारों मे फिराना और ऊँचे स्वर से उद्घोषित करना कि 'इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम जिन कर्म खपाकर मुक्त हो गये।'

गोशालक की उक्त आज्ञा को आजीवक स्थविरों ने विनय के साथ सिर पर चढ़ाया।

गोशालक की बीमारी का सातवॉ दिन था। उसका शरीर काफी कमजोर हो गया था पर विचारशक्ति तबतक लुप्त नहीं हुई थी। वह सोता था पर उसके हृदय में जीवन के भले बुरे प्रसगों की स्मृति चक्कर काट रही थी। अपना मखजीवन, महावीर के पीछे पड़ कर उनका शिष्य होना, कई बार उसके प्रति बताया हुआ दयाभाव इत्यादि बातें उसके हृदय मे ताजी हो रही थीं। साथ ही अपने मुख से की गई महावीर की बुराइयॉ, क्रोधवश हो की हुई सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि की हत्या और महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ना इत्यादि कृतघ्नतासूचक प्रवृत्तियॉ भी स्मृतिपट पर ताजी होकर उसके चित्त को आकुल कर रही थीं। पहले केवल शरीर मे ही जलन थी पर अब तो उसका मन भी पश्चाताप की आग मे जलने लगा। क्षण भर उसने नीरव और निश्चेष्ट होकर हृदयमन्थन किया, फिर अपने शिष्यों को पास बुलाकर कहा—भिक्षुओ! मै तुम्हें एक कार्य की सूचना करना चाहता हूँ, क्या तुम उस पर अमल करोगे?

स्थविर—अवश्य, आपकी बातों पर अमल करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है।

गोशालक—तुम आज्ञाकारी हो। मेरी आज्ञा मानने में तुमने कभी आनाकानी नहीं की, फिर भी मेरे विश्वास के लिए शपथपूर्वक कहो कि मेरा कहना सफल होगा।

स्थविर—हम शपथ-बद्ध होकर कहते हैं कि आपकी आज्ञा का अक्षरश पालन करेंगे।

गोशालक—भिक्षुओ ! मैं बड़ा पापी हूँ । मैंने तुम्हें ठगा है । मैंने संसार को भी ठगा है । मैं जिन न होते हुए भी जिन और सर्वज्ञ के नाम से पूजाता रहा हूँ, यह मेरा दम्भ था । मैं श्रमणघातक तथा अपने धर्माचार्य की अपकीर्ति करनेवाला हूँ । अब मैं मृत्यु के समीप हूँ और क्षणों मे मर जाऊँगा । अब मेरे मरने के बाद तुम्हारा जो कर्तव्य है उसे सुनो—जब मैं मर जाऊँ तो मेरे शव के बाँएँ पाँव मे मुज की रस्सी बाँधकर मुख में तीन बार थूकना, फिर उसे खींचते हुए श्रावस्ती के सब चौक बाजारों मे फिराना और साथ-साथ उच्च स्वर से उद्घोषित करना—'यह मखलि गोशालक मर गया ! जिन न होने पर भी जिन होने का ढोंग करनेवाला, श्रमणघातक, गुरुद्रोही गोशालक मर गया ।'

भिक्षुओ ! यही मेरा अन्तिम आदेश है जिसके पालन के लिये तुम शपथबद्ध हुए हो । इसका पालन करना । मेरी आत्मशान्ति के लिये इस पर अमल करना ।

पश्चात्ताप की आग मे अशुभ कर्मों को जलाकर गोशालक शुद्ध हो गया। सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ देह छोड़कर वह अच्युत देवलोक मे देवपद को प्राप्त हुआ ।

आजीवक स्थविरों के लिये गोशालक के मरण से भी उसके अन्तिम आदेश का पालन करना अधिक दुःखदायक था । इसके पालन मे गोशालक के साथ उनका अपना अपमान था पर शपथबद्ध होने के कारण वे इस बात का अनादर भी नहीं कर सकते थे । खूब सोच विचार के बाद उन्होंने शपथ मोक्ष का उपाय खोज निकाला । तुरत हालाहला की भाण्डशाला का द्वार बन्द किया और चौक के मध्य मे श्रावस्ती की एक विस्तृत नकशे के रूप में रचना की । बाद मे गोशालक के आदेशानुसार उसके शव को उस कल्पित श्रावस्ती में सर्वत्र फिराया और अतिमन्द स्वर से उस प्रकार की उद्घोषणा भी कर दी ।

इस प्रकार आजीवक स्थविरों ने अपने धर्माचार्य के आदेश के पालन का नाटक खेला । फिर शव को नहलाकर चन्दन-विलेपनपूर्वक

उज्ज्वल वस्त्र से ढककर पालकी मे रखा और सारी श्रावस्ती मे फिराकर उसका उचित सत्कार किया[1]।

गोशालक के देहान्त के बाद भगवान् महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य से विहार कर फिरते हुए मेंढिक गाँव के बाहर सालकोष्ठक चैत्य मे पधारे।

भगवान् का आगमन सुनकर श्रद्धालु जन वन्दन और धर्मश्रवण के लिये सम्मिलित हुए। भगवान् ने धर्मदेशना दी जिसे सुनकर सभा विसर्जित हुई।

श्रमण भगवान् की बीमारी

मखलि गोशालक ने श्रावस्ती के उद्यान मे भगवान् पर जो तेजोलेश्या छोड़ी थी उससे यद्यपि तात्कालिक हानि नहीं हुई थी, पर उसकी प्रचण्ड ज्वालाएँ अपना थोड़ा सा प्रभाव उन पर कर ही गईं। उसके ताप से आपके शरीर मे पित्तज्वर हो गया था। जिस समय आप मेंढिक मे बिराजते थे, गोशालक घटना को छ महीने होने आये थे। तबतक पित्तज्वर और खून के दस्तों से महावीर का शरीर काफी शिथिल और कृश हो गया था। भगवान् की यह दशा देखकर वहाँ से वापस जाते हुए नगरवासी आपस में बातें कर रहे थे—'भगवान् का शरीर क्षीण हो रहा है, कहीं गोशालक की भविष्यवाणी सत्य न हो जाय ?'

सालकोष्ठक चैत्य के पास मालुकाकच्छ मे ध्यान करते हुए भगवान् के शिष्य 'सिंह' अनगार ने उक्त लोक-चर्चा सुनी। छट्ठ-छट्ठ तप और धूप में आतापना करनेवाले महातपस्वी सिंह अनगार का ध्यान टूट गया। वे सोचने लगे—भगवान् को करीब छ महीने हुए पित्तज्वर हुआ है। साथ मे खून के दस्त भी हो रहे हैं। शरीर बिलकुल कृश गया है। क्या सचमुच ही गोशालक का भविष्य कथन सत्य होगा ? यदि ऐसा ही हुआ तो मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर के सबध मे ससार क्या कहेगा ? इत्यादि विचार करते करते उनका दिल हिल गया। उन्होंने तपोभूमि से प्रस्थान किया और कच्छ के मध्य भाग में आते-आते रो पडे, वहीं खडे-खड़े वे फूट-फूटकर रोने लगे।

१ भगवतीसूत्र, शतक १५ वा पत्र ६५९ से ६९५ ।

भगवान् ने अनगार सिंह का रोना और उसका कारण जान लिया। अपने शिष्यों को सम्बोधन करते हुए महावीर ने कहा—आर्यो! सुनते हो। मेरा शिष्य सिंह मेरे रोग की चिन्ता से मालुकाकच्छ मे रो रहा है! श्रमणो! तुम जाओ और अनगार सिंह को मेरे पास बुला लाओ।

भगवान् का आदेश पाते ही श्रमण निर्ग्रन्थों ने सिंह के पास जाकर कहा—चलो सिंह! तुम्हें धर्माचार्य बुलाते हैं।

श्रमणों के साथ सिंह सालकोष्ठक चैत्य की तरफ चले और आकर भगवान् को त्रिप्रदक्षिणापूर्वक वन्दन नमस्कार कर हाथ जोड़कर उनके सामने खडे हुए।

सिंह के मानसिक दुःख का कारण प्रकट करते हुए भगवान् बोले—वत्स सिंह! मेरे अनिष्ट भावी की चिन्ता से तू रो पड़ा।

सिंह—भगवन्! बहुत समय से आपकी तबीयत अच्छी नहीं रहती इससे और गोशालक की बात के स्मरण से मेरा चित्त उचट गया।

महावीर—वत्स! इस विषय मे तुम्हें कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं अभी साढे पन्द्रह वर्ष तक सुखपूर्वक इस भूमण्डल पर विचरूँगा।

सिंह—भगवन्! आपका वचन सत्य हो। हम यही चाहते हैं, परन्तु भगवन्! आपका शरीर प्रतिदिन क्षीण होता जाता है यह बडे दुःख की बात है। क्या इस बीमारी को हटाने का कोई उपाय नहीं?

महावीर—आर्य! तेरी यही इच्छा है तो तू मेढिय गाँव मे रेवती गाथापतिनी के यहाँ जा। उसके घर कुम्हडे और बीजोरे से बनी हुई दो ओषधियाँ तैयार हैं। इनमे पहली जो हमारे लिये बनाई गई है, उसकी जरूरत नहीं। दूसरी जो रेवती ने अन्य प्रयोजनवश बनाई है वह इस रोग निवृत्ति के लिये उपयुक्त है, उसे ले आ।

भगवान् की आज्ञा पाकर सिंह बहुत प्रसन्न हुए। भगवान् को वन्दन कर वे मेढिक ग्राम मे रेवती के घर पहुँचे। मुनि को आते देख कर रेवती सात आठ कदम आगे गई और सविनय वन्दन कर बोली—पूज्य! किस निमित्त आना हुआ? कहिये, क्या आज्ञा है?

सिंह ने कहा—गाथापतिनी! तुम्हारे यहाँ जो दो ओषधियाँ हैं,

जिनमे एक भगवान् महावीर के लिये बनाई है उसकी आवश्यकता नहीं। जो तुमने अन्य उद्देश से बीजोरे से ओषधि तैयार की है उसकी आवश्यकता है। उसके लिये में आया हूँ।

आश्चर्यचकित होकर रेवती बोली—मुनि! तुम्हें किस ज्ञानी या तपस्वी ने मेरे इस गुप्त कार्य का भेद कहा? मेरे यहाँ अमुक ओषधियाँ हैं और वे अमुक अमुक उद्देश से बनाई गई हैं यह रहस्य तुमने किसके कहने से जाना?

सिंह ने उत्तर दिया—श्राविके! यह रहस्य मैं भगवान् महावीर के कहने से जानता हूँ। भगवान् ने ही इसके लिये मुझे यहाँ भेजा है।

अनगार सिंह की बात से रेवती को बडी प्रसन्नता हुई। वह अपने रसोईघर मे गई और बीजोरा-पाक लाकर मुनि के पात्र मे रख दिया। इस शुभ दान और शुभ भाव से रेवती का मनुष्य-जन्म सफल हो गया। उसने शुभाध्यवसाय से देवगति का आयुष्य बाँधा।

रेवती के घर से लाये हुए औषधमिश्र आहार के सेवन से भगवान् के पित्तज्वर और रक्तातीसार की पीड़ा बन्द हो गई। धीरे धीरे उनका शरीर पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा।

भगवान् की रोग-निवृत्ति से सबको आनन्द हुआ। साधु साध्वियाँ और श्रावक श्राविकाएँ ही नहीं, स्वर्ग के देव तक भगवान् की नीरोगता से परम सतुष्ट हुए[१]।

भगवान् की आज्ञा के बिना स्वतत्र होकर विचरता हुआ जमालि एक समय श्रावस्ती गया और तिन्दुकोद्यान में ठहरा।

जमालि का मतभेद

उस समय जमालि पित्तज्वर से पीड़ित था। साधु उसके लिये पथारी बिछा रहे थे। जमालि ने पूछा—सथारा हो गया? साधुओं ने कहा—हो गया। इस पर जमालि सोने के लिये उठा, पर सथारा अभी तक पूरा नहीं हुआ था। निर्बलता के कारण जमालि को खड़ा रहना कठिन हो गया था। उसने झुँझला कर कहा—'करेमाणे कडे' (किया जाने लगा सो किया) ऐसा सिद्धान्त

१ भ० श० १५, प० ६८५—८७।

है, पर मैं देख रहा हूँ कि 'करेमाणे कडे' का कोई मतलब नहीं। कोई भी कार्य जब पूरा हो जाता है, तभी कार्य साधक हो सकता है अतः उसी अवस्था मे 'कडे' (किया) कहना चाहिये।

जमालि का यह तर्क कई साधुओं ने ठीक समझा। तब कई स्थविरों ने इसका विरोध भी किया। उन्होंने कहा—भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से सत्य है। निश्चयनय क्रियाकाल और निष्ठाकाल को अभिन्न मानता है। इसके मत से कोई भी क्रिया अपने समय में कुछ भी कार्य करके ही निवृत्त होती है। तात्पर्य इसका यह है कि यदि क्रियाकाल मे कार्य न होगा तो उसकी निवृत्ति के बाद वह किस कारण से होगा? इसलिए निश्चयनय का यह सिद्धान्त तर्कसगत है और इसी निश्चयात्मक नय को लक्ष्य में रखकर भगवान् का 'करेमाणे कडे' यह कथन हुआ है जो तार्किक दृष्टि से बिलकुल ठीक है। दूसरी भी अनेक युक्तियों से स्थविरों ने जमालि को समझाया पर वह अपने हठ पर अड़ा रहा। परिणामस्वरूप बहुतेरे समझदार स्थविर श्रमण उसको छोड़कर भगवान् महावीर के पास चले आए।

स्वस्थ होने पर जमालि ने श्रावस्ती से विहार कर दिया, पर उसने जो नया तर्क स्थापित किया था उसकी चर्चा हर जगह करता रहता।

एक समय भगवान् महावीर चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे हुए थे। जमालि भगवान् के निवास स्थान पर आया और उनसे कुछ दूर खड़ा होकर बोला—देवानुप्रिय! आपके बहुतेरे शिष्य जिस प्रकार छद्मस्थ विहार से विचरे हैं वैसा आप मेरे संबंध में न समझें। मैं केवली विहार से विचरा हूँ।

जमालि का उक्त आत्मश्लाघात्मक भाषण सुनकर महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति उसे संबोधन कर बोले—जमालि! केवलज्ञान, केवल दर्शन को तूने क्या समझ रक्खा है? केवलज्ञान और केवलदर्शन वह ज्योति है जो लोक और अलोक तक अपना प्रकाश फैलाती है, जिसका सर्वव्यापक प्रकाश नदी, समुद्र और गगनभेदी पर्वतमालाओं से भी स्खलित नहीं होता, जिस प्रकाश के आगे अन्धेरी गुफायें और

तमस् क्षेत्र भी करामलकवत् प्रकाशित होते हैं। महानुभाव जमालि! जिसमे इस दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव होता है वह आत्मा छिपी नहीं रहती। तू केवली है या नहीं इस सबध में अधिक चर्चा करना निरर्थक समझता हूँ। सिर्फ दो प्रश्न पूछता हूँ इनका उत्तर दे—(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? और (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

इन्द्रभूति गौतम के उक्त प्रश्नों का जमालि ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर भगवान् महावीर ने कहा—जमालि! मेरे बहुतेरे ऐसे शिष्य हैं जो छद्मस्थ होते हुए भी इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर देने मे समर्थ हैं, तथापि वे केवली होने का दावा नहीं करते। देवानुप्रिय! केवलज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका अस्तित्व बताने के लिये केवली को अपने मुख से घोषणा करनी पडे।

जमालि! लोक 'शाश्वत है, क्योंकि यह अनन्तकाल पहले भी था, अब है और भविष्य में सदाकाल रहेगा।

अन्य अपेक्षा से लोक 'अशाश्वत' भी है। कालस्वरूप से वह उत्सर्पिणी मिटकर अवसर्पिणी बनता है और अवसर्पिणी मिटकर उत्सर्पिणी। इसी प्रकार अन्य जो लोकात्मक द्रव्य हैं उनमे अथवा उनके अवयवों में पर्याय परिवर्तन (आकार परावर्तन) होता ही रहता है। इस वास्ते लोक को 'अशाश्वत' भी कह सकते हैं।

इसी तरह जीव भी शाश्वत है और अशाश्वत भी। शाश्वत इसलिये कि उसका अस्तित्व त्रिकालवर्ती है और अशाश्वत इसलिये कि पर्यायरूप से वह सदाकाल एकसा नहीं रहता। कभी वह नारकरूप धारण करता है तो कभी तिर्यग् बनता है, कभी वह मनुष्य बनता है और कभी देव। इस प्रकार अनेक पर्यायों के उत्पाद और व्यय की अपेक्षा से जीव 'अशाश्वत' है।

जमालि को पूछे गये गौतम के प्रश्नों का स्पष्टीकरण करके भगवान् ने बहुत समझाया पर उसने अपना कदाग्रह नहीं छोड़ा। वह चला गया और दुराग्रहवश अनेक मिथ्या बातों से लोगों को बहकाता और अपने मतवाद मे मिलाता हुआ विचरता रहा।

जमालि के ५०० साधुओं मे से कतिपय साधु और प्रियदर्शना प्रमुख १००० साध्वियाँ भी जमालि के पथ मे मिल गई थीं।

एक समय प्रियदर्शना अपने साध्वी-परिवार के साथ विहार करती हुई श्रावस्ती पहुँची और ढक कुम्हार की भाण्डशाला मे ठहरीं।

ढक भगवान् महावीर का भक्त श्रावक था। जमालि के मतभेद से वह पहले ही परिचित था। प्रियदर्शना जमालि का मत माननेवाली है यह भी उसे मालूम था। जमालि तथा उसके अनुयायी किसी तरह समझें और भगवान् के साथ जो विरोध खड़ा किया है उसे मिटा दें यह ढक की उत्कट इच्छा थी। इसी विषय को लक्ष्य मे रखकर उसने प्रियदर्शना की सघाटी (चादर) पर अग्निकण फेंका। सघाटी जलने लगी जिसे देखकर प्रियदर्शना बोल उठी, 'आर्य ! यह क्या किया, मेरी सघाटी जला दी ?' ढक ने कहा—सघाटी जली नहीं, अभी जल रही है। जलते हुए को 'जला' कहना यह भगवान् महावीर का मत है। तुम्हारा मत जले हुए को 'जला' कहने का है, फिर तुमने जलती सघाटी को 'जली' कैसे कहा ?

ढक की इस युक्ति से प्रियदर्शना समझ गई, बोली—'आर्य ! तूने अच्छा बोध दिया।' प्रियदर्शना ने उसी समय जमालि का मत छोड कर अपने परिवार के साथ भगवान् महावीर के सघ मे प्रवेश किया।

जमालि के साथ जो साधु रहे थे वे भी धीरे-धीरे उसे छोड़कर महावीर के श्रमण सघ मे मिल गये फिर भी जमालि अपने हठाग्रह से पीछे नहीं हटा। जहाँ जाता वहीं अपने मतवाद का प्रचार करता और भगवान् महावीर के विरुद्ध लोगों को बहकाता।

बहुत वर्षों तक श्रमणधर्म पालने के उपरान्त जमालि ने अनशन किया और पद्रह दिन तक निराहार रह देह छोडा और लान्तक देव-लोक मे किल्बिष जाति का देव हुआ।

मेढिय ग्राम से विहार करते हुए भगवान् मिथिला पहुँचे और वर्षा-वास मिथिला मे ही किया। चातुर्मास्य पूरा होते ही भगवान् ने मिथिला से पश्चिम के जनपदों की तरफ विहार कर दिया।

भगवान् कोशलभूमि मे विचरते हुए पश्चिम की ओर धीरे धीरे आगे बढ रहे थे। इसी बीच मे इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्यगण के साथ आगे निकल कर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जा ठहरे।

२८–अट्ठाईसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८५–४८४)

उन दिनों पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रवण भी अपने शिष्यगण सहित श्रावस्ती के तिन्दुकोद्यान मे आए हुए थे।

केशी-गौतम सवाद

दोनों स्थविरों के शिष्य एक दूसरे समुदाय में आचार-भिन्नता देखकर सोचने लगे—'यह धर्म कैसा और वह कैसा ? यह आचार व्यवस्था कैसी और वह कैसी ? महामुनि पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम और वर्धमान का पचशिक्षिक, एक धर्म सचेलक और दूसरा अचेलक ? मोक्षप्राप्तिरूप एक ही कार्य की साधना में प्रवृत्त होनेवालों के धर्म तथा आचार मार्ग में इस प्रकार विभेद होने का क्या कारण होगा ? अपने शिष्यगणों मे चर्चास्पद बनी हुई बातें केशी और गौतम ने सुनी और परस्पर मिल कर इनका समाधान करने का उन्होंने निश्चय किया।

गौतम उचितवेदी थे। वे यह समझ कर कि कुमार-श्रमण केशी वृद्ध कुल के पुरुष हैं, अपने शिष्य समुदाय के साथ केशी के स्थान पर तिन्दुकोद्यान मे गये।

केशी ने गौतम का उचित आदर किया। कुशासन देकर बैठने का इशारा किया। गौतम बैठे। दोनों स्थविर सूर्य और चन्द्र की तरह शोभायमान होने लगे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और वर्धमान के श्रमणों का यह सम्मेलन एक अभूतपूर्व घटना थी। इसे देखने और संवाद सुनने के लिये अनेक अन्यतीर्थिक साधु और हजारों गृहस्थ लोग वहाँ एकत्र हुए।

केशी ने कहा—महाभाग गौतम ! आपसे कुछ पूछूँ ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! आपको जो कुछ पूछना हो, हर्ष से पूछें।

केशी—महानुभाव गौतम ! महामुनि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश किया और भगवान् वर्धमान ने पञ्चशिक्षिक धर्म का। इस

मत-भेद का क्या कारण है ? समान मुक्ति मार्ग के साधकों के धर्म-मार्ग में इस प्रकार की विभिन्नता क्यों ? गौतम ! इस मतभेद को देख कर आपको शका और अश्रद्धा नहीं उत्पन्न होती ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! सर्वत्र धर्म तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय मे जैसी बुद्धिवाले मनुष्य हों उस समय में उसी प्रकार की बुद्धि के अनुकूल धर्म का उपदेश करना योग्य है।

प्रथम तीर्थंकर के समय मे मनुष्य सरल परन्तु जड़ बुद्धिवाले थे। उनके लिये आचार मार्ग का शुद्ध रखना कठिन था। अन्तिम तीर्थंकर के समय मे प्राय कुटिल और जड़ बुद्धिवाले जीवों की अधिकता रहती है। उनके लिये आचार-पालन कठिन है। इस कारण प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने पाञ्चमहाव्रतिक धर्म का उपदेश किया, परन्तु मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के समय में जीव सरल और चतुर होते थे। वे थोडे में बहुत समझ लेते और आचार को शुद्ध पाल सकते थे। इसी कारण बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश किया।

केशी—गौतम ! तुम्हारी बुद्धि को धन्यवाद ! मेरा यह सशय दूर हो गया। अब मेरी दूसरी शकाओं को सुनो—

भगवान् वर्धमान ने अचेलक धर्म कहा और महायशस्वी पार्श्वनाथ ने सवस्त्र धर्मका उपदेश दिया। एक ही कार्यमे प्रवृत्त दो पुरुषों के उपदेश मे यह भेद कैसा ? क्यों गौतम ! इस प्रकार साधु वेप में भिन्नता देख कर तुम्हारे हृदय मे सशय उत्पन्न नहीं होता ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! धर्म की साधना ज्ञान के साथ सबन्ध रखती है, बाह्य वेप के साथ नहीं। बाह्य वेप पहचान और सयम-निर्वाह का कारणमात्र है। मोक्ष प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वीकार से ही होती है।

केशी—गौतम ! तुम हजारों शत्रुओं के बीच मे रहते हो और शत्रु तुम पर हमला भी करते हैं फिर भी तुम उन्हें कैसे जीत लेते हो ?

गौतम—कुमारश्रमण ! पहले मैं अपने एक शत्रु को जीतता हूँ और तब पाँच शत्रुओं को सहज जीत लेता हूँ। पाँच को जीत कर दस को और दस को जीतने के बाद हजारों को आसानी से जीत लेता हूँ।

केशी—गौतम ! वे शत्रु कौन ?

गौतम—हे मुनि ! 'वेजस' आत्मा ही अपना शत्रु है जिसके जीतने से क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषाय शत्रु जीत लिए जाते हैं और इस तरह इन पाँच के जीत लेने से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शात्मक पाँच इन्द्रियरूप शत्रु जीते जाते हैं। इन दस शत्रुओं को यथान्याय जीत कर मैं सुख से विचरता हूँ।

केशी—गौतम ! इस लोक मे बहुसख्यक लोग पाशों से बँधे हुए हैं, तो तुम इस प्रकार स्वतन्त्र होकर कैसे फिरते हो ?

गौतम—हे मुनि ! मैंने उपाय से उन पाशों को काट दिया है और उनका सर्वथा नाश कर पाशमुक्त होकर फिरता हूँ।

केशी—वे पाश कौन ?

गौतम—राग, द्वेष और स्नेह-बन्धन ये तीव्र और भयकर पाश हैं। इन सबका यथान्याय उच्छेद करके आचारके अनुसार विचरता हूँ।

केशी—जीव के हृदय मे एक वेल उगती है, बढती है और विषैले फलों से फलती है। गौतम ! उस वेल को तुमने कैसे उखाड़ दिया ?

गौतम—उस सपूर्ण वेल को पहले काटा, फिर उसका मूल उखाड़ा और ऐसा करके मैं विषैले फलों के भोग से बच गया हूँ।

केशी—गौतम ! वह वेल कौन ?

गौतम—हे महामुनि ! वह वेल है 'भवतृष्णा'। यह स्वय भयकर है और भयकर फल देती है। इसे मूल से उखाड़ कर मैं यथान्याय विचरता हूँ।

केशी—शरीर में जाज्वल्य घोर अग्नि रहती है जो शरीर को जलाती रहती है। गौतम ! उस देहस्थ अग्नि को तुमने किस प्रकार शान्त किया ?

गौतम—महामेघ से बरसे हुए उत्तम जल को लेकर उस अग्नि मे छिडका करता हूँ जिससे मुझे वह नहीं जलाती।

केशी—गौतम ! वह अग्नि कौन ?

गौतम—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) विविध प्रकार की 'अग्नि' है और श्रुतज्ञान, शील और तप 'जल'। इस श्रुत शीलादि की

जलधारा से छिड़की हुई कषाय-अग्नि शान्त हो जाती है। वह मुझे जला नहीं सकती।

केशी—गौतम ! जिस पर तुम चढे हो वह घोडा बड़ा साहसिक, भयकर और दुष्ट है। वह बड़ा तेज दौड़ता है। वह घोडा तुम्हें उन्मार्ग पर नहीं ले जाता ?

गौतम—दौड़ते हुए उस घोड़े को मैं श्रुतज्ञान की लगाम से पकड़े रखता हूँ जिससे वह मार्ग को नहीं छोड़ता।

केशी—गौतम ! वह घोड़ा कौन ?

गौतम—'मन' यह साहसिक, भयकर और अत्यन्त तेज दौड़ने वाला दुष्ट घोडा है जिसे मैं धर्मशिक्षा से वश में किये रहता हूँ।

केशी—गौतम ! इस जगत् मे अनेक कुमार्ग हैं जिन पर चढ कर जीव भटकते हुए मर जाते हैं, परन्तु गौतम ! तुम मार्ग मे कैसे भूले नहीं पड़ते ?

गौतम—कुमारश्रमण ! जो मार्ग पर चलते हैं और जो उन्मार्ग-गामी हैं उन सब को मैं जानता हूँ। यही कारण है कि मैं मार्ग नहीं भूलता।

केशी—वह मार्ग कौन ?

गौतम—जिनोपदिष्ट 'प्रवचन' सन्मार्ग है और इसके विपरीत 'कुप्रवचन' उन्मार्ग। जो जिन प्रवचन के अनुसार चलते हैं वे मार्ग-गामी हैं और कुप्रवचन पर चलनेवाले उन्मार्गगामी।

केशी—मुनि गौतम ! जलप्रवाह के वेग मे बहते हुए प्राणियों की शरण और आधार क्या है ?

गौतम—जल के बीच एक महाद्वीप है जिसका विस्तार अतिमहान् है और जहाँ जल के महावेग की गति नहीं होती, वही शरण है।

केशी—गौतम ! वह द्वीप कौन ?

गौतम—जरा मरण के महावेग मे बहते हुए प्राणियों के लिये शरण, आधार और अवलम्बनदायक 'धर्म' ही द्वीप है।

केशी—जिसमे तुम बैठे हो वह नाव समुद्र मे चारो ओर घसीटी

जा रही है। गौतम! इस तरह तुम इस अगाध समुद्र को
सकोगे ?

गौतम—सच्छिद्र नाव समुद्र पार नहीं कर सकती
निश्छिद्र होती है वह समुद्र पार कर सकती है। मैं निश्छि
बैठा हूँ अत समुद्र को पार करूँगा।

केशी—गौतम वह नाव कौन ?

गौतम—शरीर नाव है, जीव नाविक और यह स
जिसे महर्षि लोग पार करते हैं।

केशी—गौतम बहुत से प्राणधारी जो घोर अधकार मे
उनके लिये लोक मे प्रकाश कौन करेगा ?

गौतम—सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सू
लोक मे जीवों को प्रकाश देगा।

केशी—गौतम! वह सूर्य कौन ?

गौतम—जिनके जन्म मरण टल गये हैं ऐसे सर्वज्ञ 'जिन'
हैं। वे उदय पाकर सम्पूर्णलोक मे जीवों को प्रकाश देते हैं।

केशी—हे गौतम! शारीरिक और मानसिक दुखों से
प्राणधारियों के लिए निर्बाध और निरुपद्रव कौनसा स्थान है ?

गौतम—लोक के अग्रभाग मे ऐसा स्थान है जो निश्चल औ
रोह है। वहाँ जरा मरण और व्याधि-वेदना कुछ भी नहीं है।

केशी—गौतम! वह स्थान कौन ?

गौतम—निर्वाण, अनाबाध, सिद्धि और लोकाग्र इत्यादि ना
वह पहचाना जाता है। वह कल्याणकारक, निरुपद्रव और निर्बा
इसकी स्थिति शाश्वती और चढ़ाव दुरारोह है। संसार-प्रवाह त
कर जो महर्षि इस स्थान को प्राप्त होते हैं वे सब शोकों से प
जाते हैं।

केशी—गौतम! तुम्हारी बुद्धि को साधुवाद! मेरे सभी स
दूर हो गये। सर्वसूत्रों के महासागर गौतम! तुम्हें नमस्कार हो।

इस प्रकार अपने सदेह दूर होते ही केशी कुमारश्रमण ने गौ

को सिर झुका कर अभिवादन किया और वहीं भगवान् महावीर के मार्गानुगत पाञ्चमहाव्रतिक धर्म का स्वीकार किया।

केशी और गौतम के इस समेलन से वहाँ श्रुतज्ञान और सयम धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ और अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का निर्णय हुआ। वहाँ एकत्रित सभा भी सतुष्ट होकर सन्मार्ग के स्वीकार मे तत्पर हुई।[1]

भगवान् महावीर श्रावस्ती पधारे और कुछ समय वहाँ ठहरने के उपरान्त पाञ्चाल को तरफ विहार करके अहिच्छत्रा पधारे। वहाँ प्रचार करने के बाद कुरु जनपद की ओर उन्होंने विहार किया और हस्तिनापुर पहुँच कर नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान मे ठहरे।

शिवराजर्षि

हस्तिनापुर के राजा शिव सुखी, सतोषी, और धर्मप्रेमी रईस थे। एक दिन मध्यरात्रि मे शिव की नींद टूट गई। वे राजकाज की चिन्ता करते करते अपनी वर्तमान स्थिति और उसके कारणों की मीमासा मे उतर पड़े। सोचने लगे—अहा! मैं इस समय सब प्रकार से सुखी हूँ। पुत्र, पशु, राज्य, राष्ट्र, सेना, वाहन, कोष, स्त्री और धन-सपदा आदि सब बातों से मैं बढ रहा हूँ। यह सब मेरे पूर्वभव के शुभ कर्मों का फल है। धर्म का यह फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिये भी कुछ करना चाहिए। अच्छा, तो अब मैं कल ही लोहमय कडाह, कडुच्छुय और ताम्रीय भाजन बनवाऊँगा और कुमार शिवभद्र को राज्याभिषिक्त कर लोही, लोहकडाह, कडुच्छुय और ताम्र भाजन लेकर गगातटवासी दिशाप्रोक्षक वानप्रस्थ तापसों के समीप जाकर परिव्रज्या स्वीकार कर लूँगा। उसी समय नियम धारण करूँगा कि 'आज से जीवन पर्यन्त मैं दिशा-चक्रवाल तप करूँगा।'

प्रातःकाल होते ही शिव ने अपने सेवकों को बुलाया और सब तैयारियाँ करवाईं। युवराज शिवभद्र का राज्याभिषेक करके उसने एक बड़ी जातीय सभा बुलाई जिसमें ज्ञातिजनों के उपरान्त मित्र और स्नेही

---

१ उत्तराध्ययन अध्ययन २३, पृ० ३९९–४१४

सबन्धियो को भी आमन्त्रित किया। आगन्तुक मेहमानों का भोजनादि से योग्य सत्कार करने के उपरान्त शिव ने उनके सामने अपना अभिप्राय प्रकट किया और शिवभद्र तथा उन सबकी सम्मति प्राप्त कर लोही, लोहकडाह, कडुच्छुय, ताम्रभाजनादि लेकर शिव दिशा प्रोक्षक तापसों के निकट पहुँचे और उनके मत की परिव्रज्या ले दिशा-प्रोक्षक तापस हो गए।

शिवराजर्षि अपने निश्चयानुसार प्रतिज्ञा कर छट्ठ छट्ठ से दिशाचक्रवाल तप करने लगे।

पहला छट्ठ पूरा होने पर वल्कल पहने हुए शिवराजर्षि तपोभूमि से अपनी कुटिया मे आये और किठिन-साकायिका को लेकर पूर्व दिशा का प्रोक्षण करते हुए बोले—'पूर्व दिशा मे सोम महाराजा प्रस्थान-प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो और वहाँ के कद, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल, बीज, हरियाली और तृणों के ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान करो।'

उक्त प्रार्थना कर वे पूर्व दिशा मे चले और वहाँ से कद, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फलादि से किठिन-साकायिका को भर कर तथा दर्भ, कुश, समिध्, पत्रामोट आदि लेकर अपने झोंपडे में लौटे। किठिन-साकायिका को एक तरफ रख कर वेदिका को झाड़ा तथा लीपा। फिर दर्भगर्भित कलश लिए गगा मे गये। वहाँ स्नान मज्जन किया और दैवत पितरों को जलादि अर्पण करके कलश भर कर कुटिया को लौटे। दर्भ कुश और वालुका की रचना की। अरणि को शर से रगड़ कर आग उत्पन्न की और समिध् काष्ठों से उसे जलाया। अग्नि कुड की दाहिनी तरफ सकथा, वल्कल, स्थान, शय्या-भाण्ड, कमण्डलु, काष्ठदण्ड और आत्मा को एकत्र कर शहद, घृत और तदुलों से अग्नि मे आहुतियाँ दे चरु तैयार किया। उसमे वैश्वदेव-बलि करने के उपरान्त अतिथि-पूजन किया और फिर स्वय भोजन किया।

इसके बाद शिवराजर्षि दूसरा पष्ठक्षपण कर तपोभूमि मे गये और पूर्ववत् ध्यान किया। पारणा के दिन वे अपने झोंपड़े मे आए और दक्षिण दिशा का प्रोक्षण कर बोले—'दक्षिण दिशा में यम महाराजा प्रस्थान-

प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' फिर वही क्रिया की जो पहले पारणा के दिन की थी।

इसी तरह तीसरा छट्ठ कर पारणा के दिन पश्चिम दिशा का प्रोक्षण कर शिव ने कहा—'पश्चिम दिशा मे वरुण महाराजा प्रस्थान प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' शेष सब विधान पूर्ववत् किया।

चौथे छट्ठ के अन्त मे उत्तर दिशा का प्रोक्षण कर शिव बोले—'उत्तर दिशा मे वैश्रमण महाराजा प्रस्थान प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' शेष सभी क्रियाएँ पूर्ववत् कीं।

शिवराजर्षि ने लम्बे समय तक तप किया—आतापना की, जिसके फलस्वरूप उन्हें विभग ज्ञान हुआ और सात समुद्रों तक स्थूल सूक्ष्म रूपी पदार्थों को जानने देखने लगे।

इस ज्ञानदृष्टि से शिवराजर्षि के मन मे यह सकल्प उत्पन्न हुआ कि मुझे विशिष्ट ज्ञान दर्शन उत्पन्न हुए हैं। इन ज्ञान दर्शन से मैं जानता और देखता हूँ कि इस लोक मे सात द्वीप ओर सात ही समुद्र हैं। इन के उपरान्त न द्वीप हैं, न समुद्र।

ज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त शिव तपोभूमि से अपने झोंपडे में गये और वल्कल पहन लोही, लोहकडुच्छुय, दण्ड, कमण्डल, ताम्र-भाजन और किठिन साकायिका लिये हस्तिनापुर के तापसाश्रम मे गये और भाजनादि सामग्री वहाँ रख कर हस्तिनापुर मे गये। वहाँ पर उन्होंने अपने ज्ञान से जाने हुए सात द्वीप समुद्रो की बात कही और बोले—ससार भर मे सात ही द्वीप और समुद्र हैं, अधिक नहीं।

जिस समय भगवान् महावीर हस्तिनापुर पधारे थे उस समय शिव भी वहीं थे और अपने सात द्वीप समुद्र विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे। लोगों मे इस नये सिद्धान्त पर टीका टिप्पणियाँ हो रही थीं।

इन्द्रभूति गौतम भगवान् की आज्ञा ले हस्तिनापुर मे भिक्षाचर्य्या को गये तो उन्होंने भी सात द्वीप समुद्रों की बात सुनी। गौतम ने सहस्राम्रवन मे लौट कर उक्त जनप्रवाद के सबन्ध मे भगवान् से पूछा कि 'सात ही द्वीप समुद्र हैं' यह शिवर्षि का कथन ठीक है क्या? और इस विषय मे आपका क्या सिद्धान्त है?

भगवान् ने कहा—सात द्वीप-समुद्र सबन्धी शिवर्षिका सिद्धान्त मिथ्या है। इस विषय मे मेरा कथन यह है कि जम्बूद्वीप प्रभृति असंख्य द्वीप और लवण आदि असख्य ही समुद्र हैं। इन सब का आकार विधान तो एक सा है पर विस्तार भिन्न-भिन्न है।

भगवान् के पास उस समय सभा जमी हुई थी। दर्शन, वन्दन और धर्मश्रवण के निमित्त आए हुए नगर-निवासी अभी वहीं बैठे हुए थे। धर्मश्रवण कर नगर निवासीजन अपने अपने स्थान पर गये। सब के मुँह मे सुने हुए उपदेश की—विशेषतः शिवर्षि के सिद्धान्त विषयक गौतम के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी। वे कहते थे—'शिवर्षि का सात द्वीप-समुद्र सबन्धी सिद्धान्त ठीक नहीं है। श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप समुद्र सात ही नहीं, असख्य है।'

शिवर्षि महावीर की योग्यता से अपरिचित नहीं थे। उनके ज्ञान और महत्त्व की बातें उन्होंने कई बार सुन रक्खी थीं। जब उन्होंने अपने सिद्धान्त के विषय में महावीर का अभिप्राय सुना तो वे विचार मे पड़ गये। मन ही मन बोले—'यह कैसी बात है ? द्वीप समुद्र असख्य हैं ? मैं तो सात ही देख रहा हूँ और महावीर असख्य बताते हैं ? क्या मेरा ज्ञान अपूर्ण है ?' इस प्रकार सकल्प-विकल्प करते हुए वे शकाशील होते गये। परिणामस्वरूप उनको जो कुछ आत्मिक साक्षात्कार हुआ था वह तिरोहित हो गया। तब उन्होंने सोचा कि अवश्य ही इस विषय मे महावीर का कथन सत्य होगा। वे ज्ञानी तीर्थंकर हैं। उन्हें अनेक योग विभूतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। ऐसे अर्हन्तों का दर्शन तो क्या नाम-श्रवण भी दुर्लभ होता है। अच्छा, तो अब मैं भी इन महापुरुष के पास जाऊँ और उपदेश सुनूँ।

शिवराजर्षि वहाँ से तापसाश्रम मे गये और लोही, लोहकडाह तथा किठिन-साकायिका को लेकर हस्तिनापुर के मध्य मे से होते हुए सहस्राम्रवन मे पहुँचे और महावीर के पास जा कर त्रिप्रदक्षिणापूर्वक उनको वन्दन कर के योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण भगवान् ने शिवराजर्षि तथा उस महती सभा के समक्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुन कर शिवर्षि परम सतुष्ट

हुए। वे उठे और हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करते हुए बोले—'भगवन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन्! मुझे भी हस्तावलम्बन दीजिये। निर्ग्रन्थ मार्ग की दीक्षा देकर आप मुझे भी मोक्षमार्ग का पथिक बनाइये।

भगवान् ने शिवराजर्षि की प्रार्थना को स्वीकार किया। राजर्षि लोही, लोहकडाह और किठिन-सांकायिका को लेकर ईशान दिशा की तरफ चले। थोड़ी दूर जाकर अपने उपकरणों को छोड़ दिया और पंचमुष्टिक लोच कर महावीर के पास लौटे। भगवान् ने उन्हें पंच महाव्रत दिए और श्रमण धर्म की विशेष शिक्षा दीक्षा के लिये उन्होंने स्थविरों के सुपुर्द कर दिया।

निर्ग्रन्थ मार्ग में प्रवेश करने के बाद भी शिवर्षि ने अनेकविध कठिन तप किये और एकादशाङ्ग निर्ग्रन्थ प्रवचन का अध्ययन किया।

अन्त में शिवराजर्षि सर्व कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त हुए[1]।

भगवान् महावीर के इस समवसरण में अन्य कई धर्मार्थियों ने निर्ग्रन्थ प्रवचन की दीक्षा ली जिनमें अनगार पुट्टिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

हस्तिनापुर से भगवान् मोका नगरी की तरफ पधारे और मोका के नन्दन चैत्य में ठहरे जहाँ पर उन्होंने अग्निभूति और वायुभूति के प्रश्नों के उत्तर में देवों की विकुर्वणाशक्ति का वर्णन करने उपरान्त ईशानेन्द्र और चमरेन्द्र के पूर्वभवों का निरूपण किया।

मोका से भगवान् वापस लौटे और वाणिज्य ग्राम में जाकर वर्षा चातुर्मास्य व्यतीत किया।

वर्षा काल की समाप्ति होते ही भगवान् ने विदेह भूमि से मगध की तरफ प्रयाण किया और विहार करते हुए आप राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे।

२९ उनतीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४८४–४८३)

उस समय राजगृह में निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुयायियों की संख्या विशाल थी फिर भी अन्य दार्शनिकों का वहाँ अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक

१ भगवती श० ११, उ० ९, पृ० ५१४–५१९।

और अन्यान्य संप्रदाय के श्रमण और गृहस्थ भी यहाँ अच्छी सख्या मे ,वसते थे और समय समय पर एक दूसरे की मान्यताओं का खण्डन और उपहास किया करते थे।

एक समय आजीवक भिक्षुओं के सनन्ध में इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् से पूछा—आजीविक लोग स्थविरों से पूछते हैं कि निर्ग्रन्थो ! तुम्हारे श्रमणोपासक का, जब वह सामायिकव्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूरा क्रर वह उसकी तलाश करता है या नहीं ? यदि करता है तो वह अपने भाण्ड की तलाश करता है या पराये की ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम ! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नहीं।

गौतम—भगवन् ! शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से उसका भाण्ड 'अभाण्ड' नहीं हो जाता ?

महावीर— हाँ, सामायिक, पौषधादि व्रत में स्थित श्रमणोपासक का भाण्ड 'अभाण्ड' हो जाता है।

गौतम—भगवन् ! जब व्रतिदशा मे उसका वह भाण्ड 'अभाण्ड' हो गया तो उस दशा में चोरी हुए उस भाण्ड की व्रत पूरा करने के बाद श्रमणोपासक के तलाश करने पर 'वह अपने भाण्ड की तलाश करता है' यह कैसे कहा जायगा ? जब उसका वह भाण्ड ही नहीं रहा तो उसकी तलाश करने का उसे क्या अधिकार है ?

महावीर—गौतम ! व्रतिदशा मे उसकी भावना यह होती है कि यह सोना, रूपा, कास्य, दूष्य या मणि रत्नादि कोई पदार्थ मेरा नहीं है। इस प्रकार उस समय उन पदार्थों से वह अपना सबन्ध छोड देता है—उनका उपयोग नहीं करता। पर उन पदार्थों पर से उसका ममत्व-भाव नहीं छूटता और ममत्वभाव के न छूटने से वह पदार्थ पराया नहीं होता, उसी का रहता है।

गौतम—भगवन ! सामायिकव्रत मे स्थित श्रमणोपासक की भार्या से कोई सगम करे तो क्या कहा जायगा—भार्या से सगम ? या अभार्या से ?

महावीर—श्रमणोपासक को भार्या से सगम करता है यही कहना चाहिये।

गौतम—भगवन्! शीलव्रत, गुणव्रत और पौषधोपवास से भार्या 'अभार्या' हो सकती है?

महावीर—हाँ, गौतम! व्रतिदशा मे श्रमणोपासक की यह भावना होती है कि माता, पिता, भाई, बहन, भार्या, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू कोई मेरा नहीं है। यह भावना होते हुए भी उनसे उसके प्रेमबन्धनो का विच्छेद नहीं होता। इसलिये भार्या सगम ही कहा जायगा 'अभार्या सगम' नहीं[1]।

श्रमणोपासक और आजीवकोपासक

श्रमणोपासक गतकाल मे किए हुए प्राणातिपात का ४९ प्रकार से प्रतिक्रमण करता है, वर्तमानकालीन प्राणातिपात का ४९ प्रकार से नियमन करता है और अनागत काल के प्राणातिपात का ४९ प्रकार से निषेध करता है। इस प्रकार श्रमणोपासक के स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के कुल १४७ भेद होते हैं।

इसी प्रकार स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्तादान विरमण, स्थूल मैथुन विरमण और स्थूल परिग्रह-विरमण के भी प्रत्येक के १४७–१४७ भेद होते हैं जिनमे से अमुक व्रत का अमुक भेद पालन करनेवाला भी श्रमणोपासक होता है। इस प्रकार विविध भग से व्रत पालनेवाले श्रमणोपासक होते हैं, आजीवकोपासक नहीं होते।

आजीवक मत के शास्त्रों का अर्थ ही यह है कि सचित्त पदार्थों का भोजन करना—सर्व प्राणियों का छेदन-भेदन और विनाश कर उनका भोजन करना।

आजीवक मत मे ये बारह प्रसिद्ध आजीवकोपासक कहे गये हैं—ताल, तालपलम्ब, उव्विह, सविह, अवविह, उदय, नामुदय, नमोदय, अणुवालय, सखवालय, अयपुल और कायरय। ये सभी आजीवकोपासक अरिहत को देव माननेवाले और माता पिता की सेवा करने-

---

१ भगवती श० ८, उ० ५, पृ० ३६७।

दशार्णभद्र आपका भक्त था। आपके आगमन पर उसने बड़ा उत्सव किया और बड़े ही ठाटबाट के साथ वह वन्दन करने गया।

दशार्णभद्र को अपनी ऋद्धि समृद्धि का बड़ा अभिमान था पर भगवान् के वन्दनार्थ आये हुए देवेन्द्र की ऋद्धि देख कर उसका अभिमान उतर गया। भगवान् के पास श्रमण धर्म को स्वीकार कर वह श्रमण संघ मे दाखिल हुआ।

दशार्णपुर से भगवान् विदेह भूमि की तरफ प्रयाण कर वाणिज्यग्राम पधारे।

पण्डित सोमिल की ज्ञानगोष्ठी

वाणिज्यग्राम मे सोमिल नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था जो धनी, मानी, अपने कुटुम्ब का मुखिया और पाँच सौ विद्यार्थियों का अध्यापक था। उसने जब सुना कि तीर्थंकर भगवान् महावीर नगर के दूतिपलास चैत्य मे पधारे हैं तो उसने भी वहाँ जाने का विचार किया—यह सोच कर कि वहाँ जाकर उन्हें कई प्रश्न पूछूँ।

सोमिल एक सो छात्रों के साथ अपने घर से निकला और वाणिज्यग्राम के मध्य मे से होता हुआ दूतिपलास पहुँचा। वहाँ भगवान् से कुछ दूर खड़े रह कर बोला—भगवन्! तुम्हारे सिद्धान्त मे यात्रा है? यापनीय है? अव्याबाध है? प्रासुक विहार है?

महावीर—हाँ, सोमिल! मेरे यहाँ यात्रा भी है, यापनीय भी अव्याबाध भी है और प्रासुक विहार भी है।

सोमिल—भगवन्! आपकी यात्रा क्या है?

महावीर—तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यकादि योगों में जो यतना—उद्यम है वह मेरी यात्रा है।

सोमिल—भगवन्! आपका यापनीय क्या है?

महावीर—सोमिल! यापनीय दो प्रकार का कहा है—एक इन्द्रिय-यापनीय और दूसरा नोइन्द्रिय-यापनीय। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय इन पाँच इन्द्रियों को वश में रखता हूँ—यह मेरा 'इन्द्रिय यापनीय' है और मेरे क्रोध, मान, माया,

लोभ विच्छिन्न हो गये हैं। इन कषायों का कभी प्रादुर्भाव नहीं होता। यह मेरा 'नोइन्द्रिययापनीय' है।

सोमिल—भगवन्! आपका अव्याबाध क्या है?

महावीर—सोमिल! मेरे शरीरगत वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सांनिपातिक आदि विविध रोगातङ्क दोष उपशान्त हो गये हैं। कभी वे प्रकट नहीं होते। यही मेरा अव्याबाध है।

सोमिल—भगवन्! आपका प्रासुक विहार क्या है?

महावीर—सोमिल! आरामों, उद्यानों, देवकुलों, सभाओं, प्रपाओं और स्त्री पशु पण्डक वर्जित वस्तिओं में प्रासुक तथा कल्पनीय पीठ फलक, शय्या, सस्तारक स्वीकार करके विचरता हूँ। यही मेरा प्रासुक विहार है।

सोमिल—भगवन्! सरिसवय आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—सरिसवय भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी।

सोमिल—दोनों प्रकार कैसे?

महावीर—ब्राह्मण्यनयों मे (ब्राह्मणों के ग्रन्थों मे) सरिसवय शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक मित्र सरिसवय (सदृशवया) और दूसरा धान्य सरिस (सर्षप)। इनमें मित्र सरिसवय तीन प्रकार के कहे हैं—१ सहजात, २ सहवर्धित और ३ सहपांशुक्रीडित। ये सरिस वय श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

धान्य सरिसवय दो प्रकार के होते हैं—१ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र परिणत। इनमे जो अशस्त्र परिणत होते हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

शस्त्रपरिणत सरिसवय भी दो प्रकार के होते हैं—१ एषणीय और २ अनेषणीय। इनमें अनेषणीय श्रमण निर्ग्रन्थों के अभक्ष्य हैं।

एषणीय भी दो प्रकार के होते हैं—याचित और अयाचित। इनमे अयाचित श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

याचित भी दो प्रकार के होते हैं—लब्ध और अलब्ध। इनमे अलब्ध श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

केवल शस्त्रपरिणत एषणीय याचित और लब्ध धान्य सरिसवय ही

श्रमण निर्ग्रन्थों को भक्ष्य हैं। इस कारण सरिसवय भक्ष्य भी कहे जा सकते हैं और अभक्ष्य भी।

सोमिल—भगवन्! 'मास' आपको भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—ब्राह्मण्यनयों मे 'मास' दो प्रकार के कहे गये हैं—द्रव्यमास (माप) और कालमास। इनमे कालमास श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, जो अभक्ष्य हैं।

द्रव्यमास (प) दो प्रकार के कहे हैं—अर्थमास (माप) और धान्य-मास (माप)। इनमे से अर्थमाप दो प्रकार के होते हैं—सुवर्णमाष और रूप्यमाप। ये दोनों श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। रहे धान्यमाष, सो उनके भी शस्त्रपरिणत, अशस्त्रपरिणत, एपणीय, अनेपणीय, याचित, अयाचित, लब्ध, अलब्ध आदि अनेक प्रकार हैं। इनमें शस्त्रपरिणत, एपणीय याचित और लब्ध धान्यमाप श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं, शेप अभक्ष्य।

सोमिल—भगवन्? 'कुलत्था' आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—कुलत्था भक्ष्य भी हैं, अभक्ष्य भी।

सोमिल—यह कैसे?।

महावीर—ब्राह्मण्य ग्रन्थों में 'कुलत्था' शब्द के दो अर्थ होते हैं—कुलथी धान्य और कुलीन स्त्री।

कुलीन स्त्री तीन प्रकार की होती है—कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये कुलत्था श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

'कुलत्था' धान्य भी सरिसवय की तरह अनेक तरह का होता है, उसमे शस्त्रपरिणत एपणीय याचित और लब्ध 'कुलत्था' श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं, शेप अभक्ष्य।

सोमिल—भगवन्! आप एक हैं या दो? तथा आप अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं या भूत-वर्तमान-भविष्यत् के अनेक रूप धारी?

महावीर—मैं एक भी हूँ और दो भी। मैं अक्षय अव्यय-अवस्थित हूँ और भूत वर्तमान-भविष्यद्रूपधारी भी।

सोमिल—भगवन्, यह कैसे?।

महावीर—सोमिल! मैं आत्मद्रव्य रूप से एक हूँ और ज्ञान-दर्शन

रूप से दो भी। मैं आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से अक्षय अव्यय अवस्थित हूँ पर उपयोग—पर्याय की अपेक्षा से भूत, वर्तमान और भविष्यत् के नाना रूपधारी भी हूँ।

धर्म-चर्चा सुन कर सोमिल ब्राह्मण तत्त्वमार्ग को समझ गया। वह वन्दन करके बोला—भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। मैं आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। मैं अन्य राजा महाराजाओं और सेठ साहुकारों की तरह आपके पास निर्ग्रन्थ श्रमणमार्ग की प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो समर्थ नहीं हूँ, परन्तु मैं आपके पास श्रावकधर्म को स्वीकार कर सकता हूँ। भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर सोमिल ने श्रावकधर्म के द्वादश व्रत ग्रहण किए और भगवान् को वन्दन कर अपने घर गया।

श्रमणोपासक होने के बाद सोमिल ने निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशेष तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुआ[1]।

भगवान् महावीर ने तीसवाँ वर्षा चातुर्मास्य वाणिज्यग्राम में व्यतीत किया।

३१ इकत्तीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४८२-४८१)

वर्षा चातुर्मास्य समाप्त होते ही भगवान् महावीर कोशलराष्ट्र के साकेत, श्रावस्ती आदि नगरों में ठहरते हुए पाञ्चाल की ओर पधारे और काम्पिल्य के बाहर सहस्राम्रवन में वास किया।

श्रमणोपासक अम्मड परिव्राजक

काम्पिल्यपुर में 'अम्मड' नामक ब्राह्मण परिव्राजक, जो कि सात सौ परिव्राजक शिष्यों के गुरु थे, रहते थे। अम्मड और इनके शिष्य भगवान् महावीर के उपदेश से जैनधर्म के उपासक बने थे। परिव्राजक का बाह्य वेष और आचार रखते हुए भी वे जैन श्रावकों के पालने योग्य व्रत नियम पालते थे।

काम्पिल्यपुर में इन्द्रभूति गौतम ने अम्मड के विषय में जो बातें

---

१ भ० सू० श० १८, उ० १०, प० ७५८-७६०।

सुनीं, उनसे इन्द्रभूति गौतम का दिल सशक हो गया। उन्होंने भगवान् से पूछा—भगवन्! बहुत से लोग यह कहते और प्रतिपादन करते हैं कि अम्मड परिव्राजक काम्पिल्यपुर में एक ही समय सौ घरों मे भोजन करता और सौ घरों में रहता है, सो यह कैसे?

महावीर—गौतम! अम्मड के विषय मे लोगों का यह कहना यथार्थ है।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

महावीर—गौतम! अम्मड परिव्राजक विनीत और भद्र प्रकृति का पुरुष है। वह निरन्तर छट्ठ छट्ठ का तप करता है। सूर्य के सामने मुख कर दोनों भुजायें ऊँची करके धूप मे खड़ा होकर आतापना करता है। इस दुष्कर तप, शुभ परिणाम और प्रशस्त लेश्याओं की शुद्धि से विशेष कर्मों का क्षयोपशम होकर अम्मड को वीर्य-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि और अवधिज्ञान-लब्धि प्राप्त हुई है। इन लब्धियों के बल से अम्मड अपने सौ रूप बना कर सौ घरों मे रहता और भोजन करता हुआ लोगों को आश्चर्य दिखाता है।

गौतम—भगवन्! क्या अम्मड परिव्राजक निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा लेकर आपका शिष्य होने की योग्यता रखता है?

महावीर—नहीं, गौतम! अम्मड हमारा श्रमण शिष्य नहीं होगा। अम्मड जीवाजीवादि-तत्त्वज्ञ श्रमणोपासक है और श्रमणोपासक ही रहेगा। वह स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य तथा स्थूल अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और सतोषी है। वह मुसाफिरी मे मार्ग के बीच आनेवाले जल के अतिरिक्त कूप, नदी आदि किसी प्रकार के जलाशय मे नहीं उतरता। वह गाड़ी, रथ, पालकी आदि यान अथवा घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसा, गदहा आदि वाहन पर बैठकर यात्रा नहीं करता।

अम्मड नाटक और खेल तमाशे नहीं देखता। वह स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा, राज कथा, चौर कथा तथा अन्य अनर्थकारी विकथाओं से दूर रहता है।

अम्मड हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श तक नहीं करता।

वह तुम्बा, काष्ठपात्र या मृत्तिकाभाजन के अतिरिक्त लोह, त्रपु, ताम्र, जिस्त, सीसा, चाँदी, सोना आदि किसी प्रकार की धातु के पात्र नहीं रखता। वह लोह, त्रपु, ताम्र, आदि किसी भी धातु का बन्धन नहीं रखता। वह एक गेरुआ चादर के अतिरिक्त कोई भी रंगीन वस्त्र नहीं रखता। वह एक ताम्रमय पवित्रक के सिवा हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुरवि, कण्ठमुरवि, प्रालम्बक, त्रिसर, कटिसूत्र, मुद्रिका, कटक, त्रुटित, अगद, केयूर, कुण्डल, मुकुट, चूडामणि आदि कुछ भी आभूषण नहीं पहनता। वह एक एक कर्णपूर के अतिरिक्त किसी प्रकार का पुष्पमाल्य नहीं धारण करता। वह गगा नदी की मिट्टी के अतिरिक्त अगर, चन्दन, कुकुम आदि से गात्र विलेपन नहीं करता। वह अपने लिए बनाया, लाया, खरीदा तथा अन्य दूषित आहार ग्रहण नहीं करता। वह अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान, और पापकर्मोपदेशरूप चतुर्विध अनर्थदण्ड से दूर रहता है। वह दिन मे मागध आढक प्रमाण बहता हुआ स्वच्छ जल स्नान के लिए ग्रहण करता है और अर्ध आढक पीने तथा हाथ-पाँव धोने के लिए, परन्तु यह जल भी वह अन्य का दिया हुआ लेता है, स्वय जलाशय से नहीं लेता।

वह अर्हन्तों और उनके चैत्यों (मूर्तियों) को छोड अन्यतीर्थिकों, उनके देवों और अन्यतीर्थिक परिगृहीत अर्हच्चैत्यों को वन्दन नमस्कारादि नहीं करता।

गौतम—भगवन्! अम्मड परिव्राजक आयुष्य पूर्ण कर यहाँ से किस गति मे जायगा ?

महावीर—गौतम! अम्मड छोटे बडे शीलव्रत, गुणव्रत, पौषधोपवासादि से आत्म चिन्तन करता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक वृत्ति मे रह कर अन्त मे एक मास का अनशन करके देह का त्याग कर ब्रह्मदेवलोक मे देवपद को प्राप्त करेगा और अन्त में अम्मड का जीव महाविदेह में मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण प्राप्त करेगा[1]।

---

१ औपपातिकसूत्र।

काम्पिल्य से भगवान् ने वापस विदेहभूमि की तरफ प्रस्थान किया और वर्षावास वैशाली में किया।

वर्षा ऋतु के अनन्तर भगवान् ने काशीकोशल के प्रदेशों में विहार किया और ग्रीष्मकाल में आप फिर विदेहभूमि को लौटे।

२२–बत्तीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४८१–४८०)

भगवान् वाणिज्यग्राम के बाहर दूतिपलाश चैत्य में ठहरे हुए थे। प्रतिदिन धार्मिक व्याख्यान होते थे। एक दिन व्याख्यान समाप्त हो चुका था। सभाजन अपने अपने स्थानों को प्रयाण कर चुके थे। उस समय गांगेय नामक एक पार्श्वापत्य मुनि वहाँ आये और भगवान् से कुछ दूर खड़े रहकर बोले—भगवन्! नरकावास में नारक सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

गांगेय की प्रश्न परम्परा

महावीर—गांगेय! नारक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय—भगवन्! असुरकुमारादि भुवनपति देव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! भुवनपति सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय—भगवन्! पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव अपने अपने स्थानों में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

गांगेय—भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! द्वीन्द्रिय जीव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

इसी तरह त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव भी सान्तर और निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

गांगेय—भगवन्! नारक जीव नरकस्थान से सान्तर निकलते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय ! नारक सान्तर भी निकलते हैं और निरन्तर भी।

इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य तथा देव भी कभी सान्तर कभी निरन्तर अपने अपने स्थानों से निकल कर दूसरे स्थानों मे प्रवेश करते हैं। परन्तु पृथ्वीकायिकादि निरन्तर उत्पन्न होनेवाले एकेन्द्रिय जीव निरन्तर ही निकलते हैं।

गांगेय—भगवन् ! 'प्रवेशन' कितने प्रकार के कहे हैं ?

महावीर—गांगेय ! प्रवेशन चार प्रकार के कहे हैं—१ नैरयिक प्रवेशन, २ तिर्यग्योनिकप्रवेशन, ३ मनुष्यप्रवेशन और ४ देवप्रवेशन[1]।

गांगेय—भगवन् ! 'सत्' नारक उत्पन्न होते हैं या 'असत्' ? इसी तरह 'सत्' तिर्यञ्च, मनुष्य और देव उपन्न होते हैं या 'असत्' ?

महावीर—गांगेय ! सभी सत् उपन्न होते हैं, असत् कोई भी नहीं उत्पन्न होता।

गांगेय—भगवन् ! नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य सत् निकलते (मरते) हैं या असत् ? इसी तरह देव भी सत् च्युत होते (मरते) हैं या असत् ?

महावीर—गांगेय ! सभी सत् निकलते और च्यवते हैं, असत् कोई नहीं मरता च्यवता।

गांगेय—भगवन् ! यह कैसे ? सत् की उत्पत्ति कैसी ? और मरे हुए की सत्ता कैसी ?

महावीर—गांगेय ! पुरुषादानीय पार्श्व अर्हन्त ने लोक को 'शाश्वत' कहा है, इसमे 'सर्वथा असत्' की उत्पत्ति नहीं होती, और 'सत्' का सर्वथा नाश भी नहीं होता।

गांगेय—भगवन् ! यह वस्तुतत्त्व आप स्वय आत्मप्रत्यक्ष से जानते हैं या किसी हेतुप्रयुक्त अनुमान से अथवा किसी आगम के आधार से ?

महावीर—गांगेय ! यह सब मैं स्वय जानता हूँ। किसी भी अनुमान अथवा आगम के आधार पर मैं नहीं कहता, आत्मप्रत्यक्ष से जानी हुई बात ही कहता हूँ।

---

१ प्रवेशन के सबध मे अन्य भी बहुत से प्रश्नोत्तर हैं जो यहाँ नहीं दिये गये।

गागेय—भगवन् ! यह कैसे ? अनुमान और आगम के आधार के बिना यह विषय कैसे जाना जा सकता है ?

महावीर—गागेय ! केवली पूर्व से जानता है और पश्चिम से भी जानता है। वह दक्षिण से जानता है और उत्तर से भी जानता है। केवली परिमित जानता है और अपरिमित भी जानता है। केवली का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से उसमें सर्ववस्तुतत्त्व प्रतिभासित होते हैं।

गागेय—भगवन् ! नरक मे नारक, तिर्यंगति में तिर्यञ्च, मनुष्यगति मे मनुष्य और देवगतिमें देव स्वय उत्पन्न होते हैं या किसी की प्रेरणा से ? और वे अपनी गतियों मे से स्वय निकलते हैं या उन्हें कोई निकालता है ?

महावीर—आर्य गागेय ! सब जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ गतियों में उत्पन्न होते हैं और वहा से निकलते हैं। इसमे दूसरा कोई भी प्रेरक नहीं है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के उपरान्त अनगार गागेय ने भगवान् महावीर को यथार्थरूप से पहचाना। अब उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव मे भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं।

इसके बाद गागेय ने महावीर को त्रिप्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और पार्श्वनाथ की चातुर्यामिक धर्मपरम्परा से निकल कर वे महावीर की पाञ्चमहाव्रतिक परम्परा मे प्रविष्ट हुए।

अनगार गागेय ने दीर्घकाल पर्यन्त श्रमण धर्म का आराधन कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।[1]

इसके अनन्तर भगवान् महावीर वैशाली पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं व्यतीत किया।

शीत काल मे भगवान् ने मगध भूमि की ओर विहार किया और अनेक स्थानों में धर्मदेशना करते हुए राजगृह के गुणशील वन में पधारे।

३३-तेतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८०-४७९)

---

[1] भ० श० ९, उ० ३२, पृ० ४३९-४५५।

उन दिनों गुणशील उद्यान में अनेक अन्यतीर्थिक रहते थे और अपने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए दूसरे के मतों का खण्डन करते थे। अन्यतीर्थिकों की मान्यता के विषय में भगवान् का अभिप्राय जानने के लिये गौतम ने जो प्रश्न किये और महावीर ने उनके जो उत्तर दिये, वे नीचे दिये जाते हैं।

अन्यतीर्थिकों की मान्यता के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न—

श्रुत और शील के विषय में

गौतम ने पूछा—भगवन्! कुछ अन्यतीर्थिक कहते हैं शील (सदाचार) श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं श्रुत (ज्ञान) श्रेष्ठ है, तीसरे कहते हैं शील और श्रुत प्रत्येक श्रेष्ठ है। भगवन्! यह कैसे?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों का यह कथन ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा कथन इस प्रकार है—

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ शील-सपन्न ही होते हैं, श्रुत-सपन्न नहीं होते। कुछ श्रुत-सपन्न होते हैं, शील-सपन्न नहीं। कुछ शील-सपन्न भी होते हैं और श्रुत-सपन्न भी। कुछ शील सपन्न नहीं होते और श्रुत-सपन्न भी नहीं होते।

इनमें जो शीलवान् है पर श्रुतवान् नहीं अर्थात् पापप्रवृत्ति से दूर रहनेवाला है पर धर्म का ज्ञाता नहीं, उसको मैं देशाराधक (धर्म के अंश का आराधक) कहता हूँ। जो शीलवान् नहीं पर श्रुतवान् है अर्थात् पापप्रवृत्ति से दूर नहीं हुआ पर श्रुत ज्ञानी है, उसको मैं देश विराधक (अंश से धर्म का बाधक) कहता हूँ और जो शीलवान् और श्रुतवान् (पाप मार्ग से निवृत्त और धर्म का ज्ञाता है) उसे मैं सर्वाराधक (संपूर्ण धर्म का साधक) कहता हूं। जो न शीलवान् है न श्रुतवान् उसे मैं सर्वविराधक कहता हूँ[1]।

जीव और जीवात्मा के विषय में

गौतम ने कहा—भगवन्! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं कि प्राणिहिंसा, मृषावाद, चौर्य, मैथुन, समहेच्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, हर्ष, शोक, परनिन्दा, माया, मृषा और मिथ्यात्व आदि

१ भ० श० ८, उ० १०, पृ० ४१७।

दुष्ट भावों मे प्रवृत्ति करनेवाले प्राणी का 'जीव' जुदा है और उसका 'जीवात्मा' जुदा।

इसी प्रकार इन दुष्ट भावों का त्याग करके धर्म मार्ग मे चलनेवाले प्राणी का भी 'जीव' अन्य है और 'जीवात्मा' अन्य। जो औत्पत्तिकी, पारिणामिकी आदि बुद्धियोंवाला है उसका जीव जुदा है और जीवात्मा जुदा। पदार्थ-ज्ञान, तर्क, निश्चय और अवधारण करने वाले का जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। जो उत्थान और पराक्रम करनेवाला है उसका भी जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। यही नहीं नारक, देव और तिर्यग्जातीय पशु पक्षी आदि देहधारियों का भी जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। ज्ञानावरणीयादि कर्मवान्, कृष्णलेश्यादि लेश्यावान्, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दर्शनवान् और ज्ञानवान् इन सबका जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य।

भगवन्! अन्यतीर्थिकों की इस मान्यता के विषय मे क्या समझना चाहिये?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता मिथ्या है। इस विषय मे मेरा मत यह है कि पूर्वोक्त हिंसा, मृषावादादि में प्रवृत्ति और निवृत्ति करनेवाले प्राणी का 'जीव' और 'जीवात्मा' एक ही पदार्थ है। जो 'जीव' है वही 'जीवात्मा' है[1]।

केवली की भाषा के संबध में

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक लोग कहते हैं कि यक्षावेश से परवश होकर कभी केवली भी मृषा अथवा सत्य-मृषा भाषा बोलते हैं, यह कैसे? क्या केवली उक्त दो प्रकार की भाषा बोलते हैं?

महावीर—अन्यतीर्थिकों का उक्त कथन मिथ्या है। इस संबध मे मेरा कहना यह है कि न कभी केवली को यक्षावेश होता है और न वे मृषा अथवा सत्यमृषा भाषा बोलते हैं। केवली असावद्य और अपीडक सत्य अथवा असत्यामृषा भाषा बोलते हैं[2]।

---

१ भ० श० १७, उ० २, पृ० ७२३–७२४।

२ भ० श० १८, उ० ७, पृ० ७४९।

राजगृह से भगवान् चम्पा की तरफ विचरे और पृष्ठचम्पा में पिठर, गागलि आदि की दीक्षायें हुईं। वहाँ से भगवान् वापस गुणशील चैत्य में पधारे। उन दिनों गुणशील चैत्य के निकट कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदक, नामोदक, अन्नपाल, शैवाल, शखपाल, सुहस्ती और गाथापति आदि अनेक अन्यतीर्थिक रहते थे।

एक समय वे श्रमण भगवान् महावीरप्ररूपित पञ्चास्तिकाय विषयक चर्चा करते हुए बोले—श्रमण ज्ञातपुत्र धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय इन पाँच 'अस्तिकायों' की प्ररूपणा करते हैं और इन पाँच में से 'जीवास्तिकाय' को वे 'जीवकाय' कहते हैं और शेष चारों को 'अजीवकाय', फिर वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन चार अस्तिकायों को 'अरूपिकाय' बताते हैं और एक पुद्गलास्तिकाय को 'रूपिकाय।' आर्यो। श्रमण ज्ञातपुत्र का यह निरूपण क्या सत्य है ? इस कथन में वास्तविकता क्या होनी चाहिये ?

श्रमणोपासक मद्दुक और कालोदायी की तत्त्वचर्चा

जिस समय अन्यतीर्थिक उक्त चर्चा कर रहे थे, उसके पहले ही भगवान् के आगमन के समाचार राजगृह में पहुँच चुके थे और भाविक नागरिकगण वन्दन नमस्कार और धर्मश्रवण के लिए गुणशील चैत्य की तरफ जा रहे थे। उन नागरिकगणों में एक मद्दुक नामक श्रमणोपासक भी था।

मद्दुक महावीर का भक्त और जिन प्रवचन का ज्ञाता गृहस्थ था। वह पैदल महावीर के समवसरण में जा रहा था। कालोदायी आदि अन्यतीर्थिक बैठे हुए महावीर के पञ्चास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे कि मद्दुक वहाँ से होकर गुजरा। उसे देखते ही वे एक दूसरे को सम्बोधन करते हुए बोले—देवानुप्रियो। देखिये यह श्रमणोपासक जा रहा है, चलिए हम इस विषय में इसे पूछें। यह ज्ञातपुत्र के तत्त्वों का खासा अभ्यासी है। यह कहते हुए वे मद्दुक के पास गये और उसे रोककर बोले—हे मद्दुक। तेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं और उनमें से किसीको

जीव कहते हैं किसीको अजीव, किसीको रूपी बतलाते हैं और किसीको अरूपी, सो मद्दुक ! तेरा इस विषय में क्या अभिप्राय है ? क्या तू इन धर्मास्तिकायादि को जानता और देखता है ?

मद्दुक—इनके कार्यों से इनका अनुमान किया जा सकता है, बाकी धर्मास्तिकायादि पदार्थ अरूपी होने से जाने और देखे नहीं जा सकते।

अन्यतीर्थिक—अये मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए धर्मास्तिकायादि पदार्थों को जानता और देखता नहीं है ?

मद्दुक—आयुष्मानो ! हवा चलती है, यह बात सत्य है ?

अन्यतीर्थिक—हॉ, हवा चलती है, पर इससे क्या ?

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम हवा का रंग-रूप देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, हवा का रूप देखा नहीं जाता।

मद्दुक—आयुष्मानो ! घ्राणेन्द्रिय के साथ स्पर्श करनेवाले गन्ध के परमाणु होते हैं ?

अन्यतीर्थिक—हॉ, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध के परमाणु होते हैं।

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम घ्राणेन्द्रिय का स्पर्श करनेवाले गन्ध के परमाणुओं का रूप देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, गन्ध के परमाणुओं का रूप देखा नहीं जाता।

मद्दुक—आयुष्मानो ! अरणि-सहगत अग्नि होती है ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, अरणि सहगत अग्नि होती है।

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम उस अरणि सहगत अग्नि के रूप को देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, तिरोहित होने से वह देखा नहीं जाता।

मद्दुक—आयुष्मानो ! समुद्र के उस पार कोई रूप है ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, समुद्र के उस पार कई रूप हैं।

मद्दुक—आयुष्मानो ! समुद्र के उस पार के रूपों को तुम देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, समुद्र के उस पार के रूप देखे नहीं जा सकते।

मद्दुक—आयुष्मानो! देवलोकगत रूपों को तुम देख सकते हो?

अन्यतीर्थिक—नहीं, देवलोकगत रूप देखे नहीं जा सकते।

मद्दुक—इसी तरह है आयुष्मानो! मैं, तुम या कोई अन्य छद्मस्थ मनुष्य जिस वस्तु को देख न सके वह वस्तु है ही नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। दृष्टिगत न होनेवाले पदार्थों को न मानोगे तो तुम्हें बहुत से पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करना पडेगा। और ऐसा करनेपर तुम्हें अधिकाश लोक के अस्तित्व का भी अस्वीकार करना पडेगा।

मद्दुक अपनी युक्तियो से अन्यतीर्थिकों को निरुत्तर कर भगवान् के पास पहुँचा और वन्दन नमस्कार पूर्वक पर्युपासना करने लगा।

मद्दुकने अन्यतीर्थिकों के कुतर्क का जो वास्तविक उत्तर दिया था उसका अनुमोदन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—मद्दुक! तूने अन्यतीर्थिकों को बहुत ठीक उत्तर दिया है। किसी भी प्रश्न या उत्तर मे बिना समझे सुने नहीं बोलना चाहिये। जो मनुष्य बिना समझे लोक समूह मे हेतु-तर्क की चर्चा करता है अथवा बिना समझे किसी बात का प्रतिपादन करता हे वह अर्हन्त केवली की तथा उनके धर्म की आशातना करता है। मद्दुक! तूने जो कहा है वह ठीक, उचित और यौक्तिक है।

भगवान् के मुख से अपनी प्रशसा सुन कर मद्दुक बहुत सतुष्ट हुआ और अन्यान्य धर्म चर्चा कर वह अपने स्थान पर गया।

मद्दुक के चले जाने के बाद गौतम ने पूछा—भगवन्! मद्दुक श्रमणोपासक आपके पास निर्ग्रन्थ-श्रामण्य धारण करने की योग्यता रखता है?

महावीर—गौतम! मद्दुक हमारे पास प्रवज्या लेने मे समर्थ नहीं है। मद्दुक गृहस्थाश्रम मे रहकर देशविरति गृहस्थ धर्म की आराधना करेगा और अन्त मे समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर 'अरुणाभ' देव विमान मे देव होगा और वहाँ से फिर मनुष्य जन्म पाकर ससार से मुक्त होगा[1]।

इस साल का वर्षावास भगवान ने राजगृह मे किया।

---

[1] भ० श० १८, उ० ७, पृ० ७५०—७५१।

हेमन्त ऋतु में राजगृह से महावीर ने बाहर के प्रदेश में विहार किया और अनेक ग्राम-नगरों मे निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार किया।

३४-चौतीसवॉं वर्ष (वि० पू० ८७९-४७८)

ग्रीष्मकाल मे भगवान् फिर राजगृह पधारे और गुणशील चैत्य मे वास किया।

अनगार इन्द्रभूति गौतम एक दिन राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील चैत्य मे जा रहे थे, उस समय गुणशील चैत्य के मार्ग मे कालोदायी, शैलोदायी प्रभृति अन्यतोर्थिक महावीर प्ररूपित पञ्चास्तिकायों की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे एक दूसरे को सबोधन कर बोले—देवानुप्रियो! हम धर्मास्तिकायादि के विषय मे ही चर्चा कर रहे हैं। देखो ये श्रमण ज्ञातपुत्र के शिष्य गौतम भी आ गये। चलिये इस विषय मे हम गौतम को पूछें। यह कह कर कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायो प्रमुख अन्यतोर्थिक गौतम के पास पहुँचे और उन्हें ठहरा कर बोले—हे गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र धर्मास्तिकाय आदि पॉच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं। इनमें से चार को वे 'अजीवकाय' कहते हैं और एक को 'जीवकाय' तथा चार को 'अरूपिकाय' कहते हैं और एक को 'रूपिकाय'। इस विषय में क्या समझना चाहिये, गौतम? इस अस्तिकाय सबन्धी प्ररूपणा का रहस्य क्या है, गौतम?

गौतम—देवानुप्रियो! हम 'अस्तित्व' मे नास्तित्व नहीं कहते और 'नास्तित्व' मे अस्तित्व नहीं कहते। हम अस्ति को अस्ति और नास्ति को नास्ति कहते हैं। हे देवानुप्रियो! इस विषय मे तुम स्वय विचार करो जिससे कि इसका रहस्य समझ सको।

अन्यतीर्थिकों के प्रश्न का रहस्यपूर्ण उत्तर देकर गौतम महावीर के पास चले गये, पर कालोदायो गौतम के उत्तर का रहस्य नहीं समझ पाया। परिणामस्वरूप वह स्वय गौतम के पीछे पीछे भगवान् के पास पहुँचा। महावीर उस समय सभा मे धर्मदेशना कर रहे थे। प्रसग आते ही उन्होंने कालोदायी को सबोधन कर के कहा—कालोदायिन्! तुम्हारी मण्डली मे मेरे पञ्चास्तिकायनिरूपण की चर्चा चली?

कालोदायी—जी हाँ, आप पञ्चास्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं यह बात हम ने जब से सुनी है तब से प्रसगवश इस पर चर्चा हुआ करती है।

महावीर—कालोदायिन्! यह बात सत्य है कि मैं पञ्चास्तिकाय की प्ररूपणा करता हूँ। यह भी सत्य है कि चार अस्तिकायों को 'अजीवकाय' और एक को 'जीवकाय' तथा चार को 'अरूपिकाय' और एक को 'रूपिकाय' मानता हूँ।

कालोदायी—भगवन्! आपके माने हुए इन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय अथवा जीवास्तिकाय पर कोई सो, बैठ या खड़ा रह सकता है?

महावीर—यह नहीं हो सकता कालोदायिन्! इन धर्मास्तिकायादि अरूपिकाय पर सोना-बैठना या चलना-फिरना नहीं हो सकता। ये सब क्रियाएँ केवल एक पुद्गलास्तिकाय पर, जो कि रूपी और अजीवकाय है, हो सकती हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।

कालोदायी—भगवन्! पुद्गलास्तिकाय मे जीवों के दुष्ट विपाक पाप कर्म किये जाते हैं?

महावीर—नहीं कालोदायिन्! ऐसा नहीं होता।

कालोदायी—भगवन्! इस जीवास्तिकाय मे दुष्ट विपाक पाप कर्म किये जाते हैं?

महावीर—हाँ कालोदायिन्! किसी भी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय मे ही किये जाते हैं।

पञ्चास्तिकाय विषयक प्रश्नों का सविस्तर उत्तर दे कर भगवान् ने कालोदायी के सशय को दूर किया। फलस्वरूप कालोदायी का चित्त निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने को उत्कण्ठित हुआ। भगवान् को वन्दन कर वह बोला—भगवन्! मैं विशेष प्रकार से आपका प्रवचन सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने कालोदायी को लक्ष्य कर के निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुन कर वह आप के पास निर्ग्रन्थ मार्ग मे दीक्षित हो गया।

कालोदायी अनगार क्रमश निर्ग्रन्थ प्रवचन के एकादशाङ्ग सूत्रों का अध्ययन कर प्रवचन के रहस्य के ज्ञाता हुए[1]।

इन्द्रभूति गौतम और पार्श्वापत्य उदकपेढाल का संवाद

राजगृह नगर से ईशान दिशा मे धनवालों के सैकडों प्रासादों से सुशोभित नालन्दा नामक एक समृद्ध उपनगर था। यहाँ 'लेव' नामक एक धनाढ्य गृहस्थ रहता था जो निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुयायी और जैन श्रमणों का परम भक्त था। नालंदा के उत्तर-पूर्व दिशा भाग मे उक्त लेव श्रमणोपासक की 'शेषद्रविका' नाम की उदकशाला और उसके पास ही 'हस्तियाम' नामक उद्यान था।

एक समय भगवान महावीर हस्तियाम मे ठहरे हुए थे कि शेषद्रविका के पास इन्द्रभूति को मेतार्य गोत्रीय पेढालपुत्र उदक नामक एक पार्श्वापत्य निर्ग्रन्थ मिले और गौतम को संबोधन कर बोले—गौतम! तुमसे कुछ पूछना है। आयुष्मन्! मेरे प्रश्नोंका उपपत्तिपूर्वक उत्तर दीजियेगा।

गौतम—पूछिये।

उदक—आयुष्मन् गौतम! तुम्हारे प्रवचन का उपदेश करनेवाले कुमारपुत्रीय श्रमण अपने पास नियम लेने को तैयार हुए श्रमणोपासक को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—

'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ अथवा चोर के बाँधने छोड़ने के अतिरिक्त मैं त्रसजीवों की हिंसा नहीं करूँगा।'

आर्य! इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। जो ऐसा प्रत्याख्यान कराते हैं वे दुष्प्रात्याख्यान कराते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान करने और करानेवाले अपनी प्रतिज्ञा मे अतिचार लगाते हैं क्योंकि प्राणी संसारी हैं। स्थावर मर कर त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं और त्रस मर कर स्थावर रूप मे भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार जो जीव 'त्रसरूप' मे 'अघात्य' थे वे ही स्थावररूप मे उत्पन्न होने के बाद

१ भ० श० ७, उ० १०, पृ० ३२३–३२४।

'घात्य' हो जाते हैं। इस कारण प्रत्याख्यान इस प्रकार सविशेषण करना और कराना चाहिये—

'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ अथवा चोर के बाँधने छोड़ने के अतिरिक्त मैं त्रसभूत जीवों की हिंसा नहीं करूँगा।'

इस प्रकार 'भूत' इस विशेषण के सामर्थ्य से उक्त दोषापत्ति टल जाती है। इस पर भी जो क्रोध अथवा लोभ से दूसरों को निर्विशेषण प्रत्याख्यान कराते हैं वह 'न्याय्य' नहीं है।

क्यों गौतम! मेरी यह बात तुमको ठीक जँचती है कि नहीं?

गौतम—आयुष्मन उदक! तुम्हारी बात मेरे दिल में ठीक नहीं बैठती। मेरी राय में ऐसा करनेवाले श्रमण ब्राह्मण यथार्थ भाषा नहीं बोलते, वे अनुतापिनी भाषा बोलते हैं और श्रमण तथा ब्राह्मणों के ऊपर झूठा आरोप लगाते हैं। यही नहीं, बल्कि प्राणी विशेष की हिंसा को छोड़नेवालों को भी वे दोषी ठहराते हैं क्योंकि प्राणी संसारी हैं, वे त्रस मिट कर स्थावर होते हैं और स्थावर मिट कर त्रस। फिर वे त्रसकाय से निकल कर स्थावर में जाते हैं और स्थावरकाय से त्रस में। संसारी जीवों की यह स्थिति है। इस वास्ते जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब त्रस कहलाते हैं और तभी त्रस हिंसाका जिसने प्रत्याख्यान किया है उस के लिए वे 'अघात्य' होते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में 'भूत' विशेषण जोड़ने की जरूरत नहीं है।

उदक—आयुष्मन् गौतम! तुम 'त्रस' का अर्थ क्या करते हो? 'त्रसप्राण सो त्रस' यह अथवा दूसरा?

गौतम—आयुष्मन् उदक! जिन जीवों को तुम 'त्रसभूतप्राण' कहते हो उन्हींको हम 'त्रसप्राण' कहते हैं। और जिन्हें हम 'त्रसप्राण' कहते हैं उन्हींको तुम 'त्रसभूतप्राण' कहते हो। ये दोनों तुल्यार्थक हैं, परन्तु आर्य उदक! तुम्हारे विचार में इन दो में 'त्रसभूतप्राण त्रस' यह व्युत्पत्ति निर्दोष है और 'त्रसप्राण त्रस' यह सदोष। आयुष्मन्! जिनमें वास्तविक भेद नहीं है ऐसे दो वाक्यों में से एक का खण्डन करना और दूसरे का मण्डन यह क्या न्याय्य है?

हे उदक ! कितने ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो कहते हैं कि हम गृह त्याग कर श्रामण्य धारण करने मे समर्थ नहीं हैं। अभी हम श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं, क्रमश चारित्र का भी स्पर्श करेंगे । वे अपनी अविरतिमय प्रवृत्तियों को मर्यादित करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं कि 'राजाज्ञा आदि कारण से गृहपति अथवा चोर के बाँधने छोडने के अतिरिक्त हम त्रस जीवों की हिंसा नहीं करेंगे।' यह प्रतिज्ञा भी उनके कुशल का ही कारण है।

आर्य उदक ! 'त्रस मर कर स्थावर होते हैं अतः त्रसहिंसा के प्रत्याख्यानी के हाथ से उनकी हिसा होने पर उसके प्रत्याख्यान का भग हो जाता है' यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'त्रस नामकर्म' के उदय से ही जीव 'त्रस' कहलाते हैं, परन्तु जब उनका त्रसगति का आयुष्य क्षीण हो जाता है और त्रसकाय की स्थिति को छोड़ कर वे स्थावरकाय मे जाकर उत्पन्न होते हैं तब उनमें स्थावर नामकर्म का उदय होता है और वे 'स्थावरकायिक' कहलाते हैं। इसी तरह स्थावर कायका आयुष्य पूर्ण कर जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब त्रस भी कहलाते हैं, प्राण भी कहलाते हैं। उनका शरीर बडा होता है और आयुष्यस्थिति भी लम्बी होती है।

उदय—आयुष्मन् गौतम ! तब तो ऐसा कोई पर्याय ही नहीं मिलेगा जो त्याज्य हिंसा का विषय हो और जब हिसा का कोई विषय ही नहीं रहेगा तब श्रावक किसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करेगा ? क्योंकि जीव ससारी हैं, वे सभी स्थावर मिटकर त्रस हो जाएँगे और सभी त्रस मिट कर स्थावर भी। अब यदि सब जीव त्रस मिटकर स्थावर हो जायें तो श्रमणोपासक का 'त्रसहिंसा-प्रत्याख्यान' किस प्रकार निभ सकेगा ? क्योंकि जिनकी हिसा का उसने प्रत्याख्यान किया था वे सब जीव स्थावर हो गये हैं अब उनको हिंसा वह टाल नहीं सकता।

गौतम—आयुष्मन् उदय ! हमारे मत से कभी ऐसा होता ही नहीं कि सब स्थावर त्रस अथवा सब त्रस स्थावर हो जायें। थोड़ी देर के लिये तुम्हारा कथन प्रमाण मान लिया जाय तब भी श्रमणोपासक के त्रसहिंसा-प्रत्याख्यान मे बाध नहीं आता क्योंकि स्थावर-पर्याय की

हिंसा में उसका व्रत खण्डित नहीं होता और त्रसपर्याय में वह अधिक त्रस जीवों की हिंसा को टालता है।

आर्य उदय! अधिक त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्त होनेवाले श्रमणोपासक के लिए 'उसके किसी भी पर्याय की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं है' यह तुम्हारा कथन क्या उचित है? आयुष्मन्! इस प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन में मतभेद खड़ा करना न्याय्य नहीं है।

इस समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहाँ आ गये जिन्हें देख कर गौतम ने कहा—आर्य उदय! लो, इस विषय में तुम्हारे स्थविर निर्ग्रन्थों को ही पूछ लें। हे आयुष्मन् निर्ग्रन्थो! इस संसार में कितने ही ऐसे मनुष्य होते हैं जिनकी प्रतिज्ञा होती है कि 'जो ये अनगार साधु हैं इनको जीवनपर्यन्त नहीं मारूँगा।' बाद में उनमें से कोई साधु चार पाँच वर्ष या ज्यादा-कम समय विहारचर्या में रहकर फिर गृहवास में चला जाय और साधुहिंसा प्रत्याख्यानी गृहस्थ गृहवास में रहता हुआ उस पुरुष की हिंसा करे तो क्या साधु को न मारने की उसकी प्रतिज्ञा का भंग होगा?

निर्ग्रन्थ स्थविर—नहीं, इससे प्रतिज्ञा-भंग न होगा?

गौतम—निर्ग्रन्थो! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी श्रमणोपासक स्थावरकाय की हिंसा करता हुआ भी अपने प्रत्याख्यान का भंग नहीं करता, यही जानना चाहिये।

हे निर्ग्रन्थो! कोई गृहपति अथवा गृहपतिपुत्र धर्म सुन संसार से विरक्त होकर सर्वसावद्य का त्यागी श्रमण हो जाय तो उस समय वह सर्व प्रकार की हिंसा का त्यागी कहा जायगा कि नहीं?

निर्ग्रन्थ—हाँ, उस समय वह सर्वथा हिंसात्यागी ही कहा जायगा।

गौतम—वही साधु चार पाँच अथवा अधिक कम समय तक श्रामण्य पर्याय पाल कर फिर गृहस्थ हो जाय तो वह सर्वथा हिंसात्यागी कहा जायगा?

निर्ग्रन्थ—नहीं, गृहवासी होने के बाद वह सर्वहिंसा-त्यागी श्रमण नहीं कहला सकता।

गौतम—वही यह जीव है जो पहले सब जीवों की हिंसा का

त्यागी था, पर अब वैसा नहीं रहा क्योंकि पहले वह सयमी था पर अब असयत है। इसी तरह त्रसकाय मे से स्थावरकाय मे गया हुआ जीव 'स्थावर' है 'त्रस' नहीं, यह जानना चाहिये।

निर्ग्रन्थो! कोई परिव्राजक या परिव्राजिका अन्य मत से निकल कर निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रवेश करके श्रमणधर्म को स्वीकार कर निर्ग्रन्थ मार्ग मे विचरे तो उसके साथ निर्ग्रन्थ श्रमण आहार-पानी आदिका व्यवहार करेंगे?

निर्ग्रन्थ—हाँ, उसके साथ आहार-पानी आदि का व्यवहार करने मे कोई हानि नहीं है।

गौतम—निर्ग्रन्थो! यदि वह श्रमण बना हुआ परिव्राजक गृहस्थ हो जाय तो उसके साथ भोजनादि व्यवहार किया जायगा?

निर्ग्रन्थ—नहीं, फिर उसके साथ वैसा कोई भी व्यवहार नहीं किया जा सकता।

गौतम—निर्ग्रन्थो! वही यह जीव है जिसके साथ पहले भोजन किया जा सकता था, पर अब नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले वह श्रमण था, पर अब वैसा नहीं है। इसी तरह त्रस में से स्थावरकाय मे गया हुआ जीव त्रसहिंसा-प्रत्याख्यानी के प्रत्याख्यान का विषय नहीं है, यही समझना चाहिये।

उपर्युक्त अनेक दृष्टान्तों से गौतम ने निर्ग्रन्थ उदय की 'त्रस मर कर स्थावर हो और वहाँ उसकी हिंसा हो तो श्रमणोपासक के प्रत्या-रयान का भग होता है' इस मान्यता का निरसन किया।

'सब जीव स्थावर हो जायेंगे तब त्रस प्रत्यारयानी का व्रत निर्विषय होगा' इस प्रकार के उदय के तर्क का खण्डन करते हुए गौतम ने कहा—जो श्रमणोपासक देशविरति-धर्म का पालन कर के अन्त में अनशनपूर्वक समाधिमरण से मरते हैं अथवा जो श्रमणोपासक प्रथम विशेप व्रत-प्रत्यारयान का पालन नहीं कर सकते पर अन्त मे अनशन-पूर्वक समाधि मरण करते हैं, उनका मरण कैसा समझना चाहिये?

निर्ग्रन्थ—इस प्रकार का मरण प्रशसनीय माना जाता है।

गौतम—जो जीव इस प्रकार के मरण से मरते हैं वे त्रस-प्राणी

के रूप मे ही उत्पन्न होते हैं और ये ही त्रस जीव श्रमणोपासक के व्रत के विषय हो सकते हैं। बहुत से मनुष्य महालोभी, महारम्भी और परिग्रहधारी अधार्मिक होते हैं जो अपने अशुभ कर्मों से फिर अशुभ-गतियों मे उत्पन्न होते हैं। अनारम्भी साधु और अल्पारम्भी धार्मिक मनुष्य मर कर शुभ गतियों मे जाते हैं। आरण्यक, आवसथिक, ग्राम-नियत्रिक और राहसिक आदि तापस मर कर भवान्तर मे असुरों की गतियों मे उत्पन्न होते हैं और वहाँ से निकल कर फिर मनुष्य गति मे गूँगे बहरे मनुष्य का भव पाते हैं। दीर्घायुष्क, समायुष्क अथवा अल्पायुष्क जीव मर कर फिर त्रसरूप मे उत्पन्न होते हैं।

उक्त सब प्रकार के जीव यहाँ 'त्रस' हैं और मर कर फिर त्रस होते हैं। ये सर्व त्रसजीव श्रमणोपासक के व्रत के विषय हैं।

कितने ही श्रमणोपासक अधिक व्रत नियम नहीं पाल सकते, फिर भी वे 'देशावकाशिक' व्रत ग्रहण करते हैं। अमुक नियमित सीमा से बाहर जाने आने का प्रत्याख्यान करते हैं। उनके व्रत का विषय नियमित हद के बाहर के जीव तो हैं ही, परन्तु हद के भीतर भी जो त्रस जीव हैं, या त्रस मर कर फिर त्रस होते हैं अथवा स्थावर मर कर त्रस होते हैं और स्थावर जीव भी जिनकी निरर्थक हिंसा का श्रमणोपासक त्यागी होता है, श्रमाणोपासक के व्रत के विषय हैं।

निर्ग्रन्थो! यह बात कदापि नहीं हो सकती कि सब त्रस जीव मिट कर स्थावर हो जायँ अथवा स्थावर मिट कर त्रस। जब ससार की स्थिति ऐसी है तो फिर 'कोई ऐसा पर्याय नहीं जो श्रमणोपासक के व्रत का विषय हो' यह कथन क्या उचित होगा? और ऐसी बातों को लेकर मतभेद खडा करना क्या न्यायानुगत है?

आयुष्मन् उदय! मैत्री बुद्धि से भी जो श्रमण ब्राह्मण की निन्दा करता है वह ज्ञान दर्शन-चारित्र को पाकर भी परलोक की आराधना मे विघ्न डालता है। जो गुणी श्रमण ब्राह्मण की निन्दा न करके उसको मित्र भाव से देखता है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र को पाकर परलोक का सुधार करता है।

गौतम का विस्तृत विवेचन और हितवचन सुन कर निर्ग्रन्थ उदय

वहाँ से चलने लगा तब गौतम ने कहा—आयुष्मन् उदय ! विशिष्ट श्रमण ब्राह्मण के मुख से एक भी आर्य—धार्मिक वचन सुन कर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के बल से योग क्षेम को प्राप्त करनेवाला मनुष्य उस आर्य—धार्मिक वचन के उपदेशक का देव की तरह आदर करता है।

उदय—आयुष्मन् गौतम ! इन पदों का मुझे पहले ज्ञान नहीं था। इस कारण इस विषय में मेरा विश्वास नहीं जमा। परन्तु अब इन पदों को सुना और समझा है। अब मैं इस विषय में श्रद्धा करता हूँ।

गौतम—आयुष्मन् उदय ! इस विषय में तुम्हें अवश्य ही श्रद्धा और रुचि लाना चाहिये।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय ने चातुर्याम-धर्म परम्परा से निकल कर पाञ्चमहाव्रतिक धर्म मार्ग स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और गौतम उनका अनुमोदन करते हुए अपने साथ उन्हें भगवान् के पास ले गये।

भगवान् महावीर को विधिपूर्वक वन्दन नमस्कार कर निर्ग्रन्थ उदय ने कहा—भगवन् ! मैं आपके समीप चातुर्याम धर्म से पाञ्चमहाव्रतिक धर्म में आना चाहता हूँ।

महावीर ने कहा—देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसे सुख हो वैसे करो। इस काम में प्रतिबन्ध या प्रमाद करना योग्य नहीं।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय महावीर-प्ररूपित पाञ्चमहाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म का स्वीकार कर महावीर के श्रमणसघ मे सम्मिलित हो गये।[1]

इस वर्ष जालि, मयालि आदि अनेक अनगारों ने विपुलाचल पर अनशन कर देह छोडा।

वर्षा चातुर्मास्य नालन्दा मे किया।

वर्षा ऋतु की समाप्ति होते ही भगवान् ने नालन्दा से विहार किया और प्रत्येक ग्राम तथा नगर मे धर्म का प्रचार करते हुए आप विदेह की राजधानी के निकटस्थ वाणीयग्राम पधारे।

३५–पतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७७–४७६)

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रुतस्कन्ध २, नालदीयाध्ययन ७, प० ४०६–४२५।

वाणियग्राम गंडकी नदी के तट पर बसा हुआ एक व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ बड़े-बड़े व्यापारियों की कोठियाँ और माल के गोदाम बने हुए थे। इस ग्राम में अनेक धनाढ्य जैन गृहस्थ रहते थे जिनमें एक का नाम सुदर्शन था।

सुदर्शन श्रेष्ठी की प्रव्रज्या

भगवान् के वाणिय ग्राम के बाहर दूतिपलास चैत्य में पधारते ही नगर में समाचार पहुँच गये और नगरनिवासियों का समुदाय दूति पलास में इकट्ठा होने लगा। हजारों मनुष्य आये, दर्शन वन्दन किया और धर्मोपदेश सुनकर अपने अपने घर लौट गये।

सभा विसर्जित होने के बाद श्रेष्ठी सुदर्शन ने भगवान् से काल विषयक अनेक प्रश्न पूछे। काल कितने प्रकार का होता है? प्रमाण काल कितने प्रकार का होता है? प्रमाण-काल, यथायुष्क निर्वृत्तिकाल, मरण काल और अद्धाकाल का क्या स्वरूप है? पल्योपम और सागरोपमों की क्या आवश्यकता है? पल्योपम तथा सागरोपम काल का भी क्षय होता है कि नहीं? इत्यादि सुदर्शन ने अनेक प्रश्न किये जिनके भगवान ने स्पष्ट उत्तर दिए।

अन्त में भगवान् ने सुदर्शन के पूर्वभवों का निरूपण करते हुए कहा—सुदर्शन! प्रपूर्व भव में तेरा जीव महाबल नामक राजकुमार था। महाबल ने गृहस्थाश्रम का त्याग कर श्रमण धर्म की दीक्षा ली और अरसे तक श्रामण्य पालने के उपरान्त आयुष्य पूर्ण कर ब्रह्मदेवलोक में दस सागरोपम की आयुष्यस्थितिवाला देव हुआ। वही महाबल का जीव ब्रह्मदेवलोक की आयुष्य स्थिति पूरी कर मनुष्यलोक में आकर तू सुदर्शन श्रेष्ठी हुआ है। प्रपूर्व भव में तेरे जीव ने जो श्रमण धर्म का आराधन किया था उसी के संस्कारवश इस जन्म में भी तू स्थविरों के मुख से धर्म सुनता और उसपर श्रद्धा करता है।

भगवान् के मुख से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनते ही सुदर्शन को जातिस्मरणज्ञान हुआ। इससे वह स्वयं अपने पूर्व भव का वृत्तान्त जानने लगा।

जब सुदर्शन ने अपना पूर्वभव देखा तब उसके नेत्र हर्षाश्रुओं से

भर गये, हृदयगत वैराग्य द्विगुणित हो गया। वह भगवान् को वन्दन कर बोला—सत्य है भगवन्! आपका कथन यथार्थ है।

श्रेष्ठी सुदर्शन ने उसी समवसरण में भगवान् महावीर के हाथ से निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म की प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

अनगार सुदर्शन ने क्रमशः चौदह पूर्वश्रुत का अध्ययन किया और बारह वर्ष तक श्रामण्य पाल कर निर्वाण पद पाया[1]।

श्रमणोपासक आनन्द का अवधिज्ञान

भगवान् की आज्ञा ले गणधर गौतम भिक्षाचर्या करने वाणिय-ग्राम गये और पर्याप्त आहार लेकर दूतिपलास को लौट रहे थे कि बीच में कोल्लाग सन्निवेश के पास उन्होंने जन-प्रवाद सुना—देवानुप्रियो! आजकल कोल्लाग सन्निवेश में श्रमणोपासक आनन्द, जो भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य हैं, मारणान्तिक अनशन स्वीकार कर दर्भ की पथारी पर सो रहे हैं।

जनप्रवाद सुन कर गौतम ने सोचा—श्रमणोपासक आनन्द अनशन किए हुए आखिरी स्थिति में हैं। मैं उन से मिलता जाऊँ। वे कोल्लाग सन्निवेश में आनन्द की पौषधशाला में गये। गौतम को देखते ही आनन्द ने उन्हें नमस्कार किया और बोले—भगवन्! मैं अनशन के कारण अतिशय कमजोर हूँ। आप जरा इधर पधारिये ताकि आपके चरणों में नतमस्तक होकर वन्दन कर लूँ। गौतम निकट गये और आनन्द ने विधिपूर्वक वन्दन किया।

प्रासंगिक वार्तालाप के अनन्तर आनन्द ने पूछा—भगवन्! घर में रह कर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए गृहस्थ श्रावक को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है?

गौतम—हाँ आनन्द! गृहस्थ धर्म का आराधन करते हुए श्रमणो-पासक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

आनन्द—भगवन्! गृहस्थ धर्म का आराधन करते हुए मुझे भी अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है जिससे मैं पूर्व दक्षिण-पश्चिम लवण समुद्र

---

[1] भ० श० ११, उ० ११, प० ५३२-५४९।

मे पाँच सौ योजन, उत्तर मे क्षुद्रहिमवद्वर्षधर, ऊपर सौधर्मकल्प और नीचे लोलुअ नामक नरकावास तक रूपी पदार्थों को जानता तथा देखता हूँ।

गौतम—आनन्द! श्रमणोपासक को अवधिज्ञान होता अवश्य है पर वह इतना दूरग्राही नहीं होता जितना कि तुम बतला रहे हो। आर्य! इस भ्रान्त कथन का तुम्हें आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिये।

आनन्द—भगवन्! क्या जैन प्रवचन मे सत्य प्ररूपण करने मे भी प्रायश्चित्त का विधान है?

गौतम—नहीं आनन्द! ऐसा नहीं है।

आनन्द—तब तो भगवन्! आप ही प्रायश्चित्त कीजिये क्योंकि आपने ही मेरे कथन का प्रतिवाद करते हुए असत्य प्ररूपणा की है।

आनन्द की इस बात से गौतम के हृदय मे गहरी शका उत्पन्न हो गई। वे दूतिपलास गये और भगवान् महावीर के पास जाकर भिक्षाचर्या की आलोचना के उपरान्त आनन्द के विषय मे पूछा—भगवन्! इस विषय में आनन्द को आलोचना—प्रायश्चित्त करना चाहिये या मुझे?

भगवान्—गौतम! इस विषय मे तुम्हीं को प्रायश्चित्त करना चाहिये और आनन्द से क्षमा प्रार्थना करनी चाहिये।

भगवान् महावीर की आज्ञा पाते ही गौतम आनन्द के पास गये और अपनी भूल का मिथ्यादुष्कृत कर के आनन्द से क्षमा प्रार्थना[1] की।

इस साल का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने वैशाली मे व्यतीत किया।

३६-छत्तीसवाँ वर्ष
(वि०पू० ४७७-४७६)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् ने वैशाली से कोशलभूमि की तरफ प्रयाण किया और प्रत्येक ग्राम और नगर मे निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए साकेत नगर पहुँचे।

साकेत कोशलभूमि के प्रसिद्ध नगरों मे से एक था। वहाँ का

---

१ उपासकदशा, अध्ययन १, प० १-१९।

रहनेवाला जिनदेव श्रावक दिशायात्रा करता हुआ कोटिवर्ष नामक नगर मे पहुँचा। उन दिनों वह म्लेच्छों का देश था। कोटिवर्ष का राजा किरात था। व्यवहारार्थ आये हुए सार्थवाह जिनदेवने किरातराजको ऐसे वस्त्र, मणि और रत्न भेंट किए जो अन्य किसी के कोष मे नहीं थे।

कोटिवर्ष नगर के किरातराज की प्रव्रज्या

अदृष्टपूर्व वस्तुओं को पाकर किरातराज बोला—अहा ! क्या सुन्दर रत्न हैं ! भला ऐसे रत्न कहाँ उत्पन्न होते हैं !

जिनदेव—ये और इनसे भी बढ़िया रत्न हमारे देश मे उत्पन्न होते हैं।

किरातराज—इच्छा तो यह होती है कि मैं स्वय तुम्हारे देशमें चल कर रत्नों को देखूँ, परन्तु मैं तुम्हारे राजा से डरता हूँ।

जिनदेव—हमारे राजा से आप को डरने की कोई बात नहीं है। फिर भी आप चाहें तो मैं उनकी आज्ञा मँगवा लूँ। यह कह कर जिनदेवने इस बारे मे अपने राजा को पत्र द्वारा पूछा जिसके उत्तर मे साकेतराजने लिखा कि किरातराज के आने मे कोई आपत्ति नहीं है।

साकेतराज की आज्ञा पाकर किरातराज जिनदेव के साथ साकेत गया और उसी का अतिथि होकर रहा।

इस अवसर पर भगवान् महावीर साकेत के उद्यान मे पधारे। पवन वेग से नगर मे भगवान् के आगमन के समाचार पहुँचे। साकेतराज शत्रुञ्जय सपरिवार महोत्सवपूर्वक भगवान् के पास गया। नागरिकगण भी अपने अपने कुटुम्ब परिवार के साथ भगवान् के समवसरण मे जाने के लिए उद्यत हुए। यह चहल पहल देखकर किरातराज बोला—सार्थवाह ! ये सब कहाँ जा रहे हैं ?

जिनदेव—राजन् ! आज यहाँ पर वह रत्नों का व्यापारी आया है जो ससार के सबसे बढिया रत्नों का मालिक है।

किरातराज—मित्र ! तब तो बहुत ही अच्छा हुआ। हम भी चलें और बढिया से बढिया रत्नों को देख लें। यह कह कर किरातराज जिनदेव के साथ भगवान् महावीर की धर्मसभा मे पहुँचा। भगवान् के छत्रातिछत्र और सिंहासनादि दिव्य प्रातिहार्यों को देखकर किरातराज चकित

हो गया। उसने रत्नोंके भेद और उनके मूल्यके सबन्ध मे कुछ प्रश्न किए जिनके उत्तर में भगवान् महावीरने कहा—देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के होते हैं—एक भाव-रत्न और दूसरे द्रव्य रत्न। भाव-रत्नों के मुख्य तीन भेद हैं—दर्शन रत्न, ज्ञान रत्न और चारित्र रत्न।

भावरत्नत्रयो का विस्तृत वर्णन करके भगवान् ने फरमाया कि ये ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं जो धारक की प्रतिष्ठा बढाने के उपरान्त उसके इह-लोक-परलोक सम्बन्धी सभी कष्टों को दूर करते हैं। द्रव्यरत्न कैसे भी मूल्यवान् हों, पर उनका प्रभाव परिमित होता है। वे केवल वर्तमान भव में ही सुख देनेवाले होते हैं। भाव-रत्न भवान्तर मे भी धारक को सद्गति और सुख देनेवाले हैं।

भगवान् का रत्न विषयक व्याख्यान सुन कर किरातराज बहुत सतुष्ट हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला-भगवन् ! मुझे भाव रत्न दीजिये। भगवान्ने रजोहरण, गुच्छक आदि दे दिये जिनको किरातराज ने सहर्ष स्वीकार किया और निर्ग्रन्थधर्म की प्रव्रज्या लेकर भगवान् के शिष्यगण मे प्रविष्ट हो गया।[1]

भगवान् ने साकेत से आगे पाञ्चाल की ओर विहार कर दिया और कुछ समय काम्पिल्य मे ठहरे। काम्पिल्य से सूरसेन की ओर पधारे और मथुरा, शौर्यपुर, नन्दीपुर आदि नगरों मे विचर कर वापस विदेहभूमि को लौटे उन्होंने इस वर्ष वर्षावास मिथिला मे किया।

३७—सतीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४७६ ४७५)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर विहार किया। प्रत्येक ग्राम और नगर मे निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए आप राजगृह पधारे और गुणशील चैत्य मे समवसरण हुआ।

अन्यतीर्थिकोंके आक्षेपात्मक प्रश्न

गुणशील चैत्य मे अनेक अन्यतीर्थिक बसते थे। भगवान् की धर्म सभा विसर्जित होने पर अनेक अन्यतीर्थिक भगवान् के आसपास बैठे हुए स्थविरों के पास आकर बोले—आर्यो ! तुम त्रिविध त्रिविध से असयत और बाल हो।

---

१ आवश्यकसूत्र हारिभद्रीयवृत्ति, प० ७१५-७१६।

अन्यतीर्थिकों का आक्षेप सुन कर स्थविरों ने कहा—आर्यो ! किस कारण से हम असयत, अविरत और बाल हो सकते हैं ?

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम अदत्त ग्रहण करते हो, अदत्त खाते हो, अदत्त चखते हो। इस कारण से तुम असयत, अविरत और बाल हो।

स्थविर—आर्यो ! हम किस प्रकार अदत्त लेते, खाते अथवा चखते हैं ?

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम्हारे मत मे दीयमान अदत्त है, प्रतिगृह्यमाण अप्रतिगृहीत है और निसृज्यमान अनिसृष्ट है क्योंकि तुम्हारे मत मे दीयमान पदार्थ को दाता के हाथ से छूटने के बाद तुम्हारे पात्र मे पड़ने से पहले यदि कोई बीच में से ले ले तो वह पदार्थ गृहस्थ का गया हुआ माना जाता है, तुम्हारा नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तुम्हारे पात्र मे जो पदार्थ पड़ता है वह अदत्त है क्योंकि जो पदार्थ दानकाल में तुम्हारा नहीं हुआ वह बाद मे भी तुम्हारा नहीं हो सकता और इस प्रकार अदत्त को लेते, खाते और चखते हुए तुम असयत, अविरत और बाल ही सिद्ध होते हो।

स्थविर—आर्यो ! हम अदत्त नहीं लेते, खाते और चखते किन्तु हम दत्त लेते, खाते और चखते हैं और इस प्रकार दिया हुआ ग्रहण करते और खाते हुए हम त्रिविध त्रिविध से सयत, विरत और पण्डित सिद्ध होते हैं।

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! किस प्रकार तुम दत्तग्राही सिद्ध होते हो, सो हमे समझाओ।

स्थविर—आर्यो ! हमारे मत मे दीयमान दत्त, प्रतिगृह्यमाण प्रतिगृहीत और निसृज्यमान निसृष्ट माना जाता है। गृहपति के हाथ से छूटने के अनन्तर यदि कोई उसे बीच में से उड़ा ले तो वह हमारा जाता है, गृहपति का नहीं। इस कारण हम किसी भी हेतु-युक्ति से अदत्तग्राही सिद्ध नहीं होते। परन्तु हे आर्यो ! तुम खुद ही त्रिविध त्रिविध से असयत, अविरत और बाल सिद्ध होते हो।

अन्यतीर्थिक—क्यों ? हम असयत, अविरत और बाल किसलिए कहलायेंगे ?

स्थविर—इसलिए कि तुम अदत्त लेते हो।

अन्यतीर्थिक—हम किस हेतु से अदत्तग्राही सिद्ध होंगे ?

स्थविर—आर्यो ! तुम्हारे मत से दीयमान अदत्त, प्रतिगृह्यमाण अप्रतिगृहीत और निसृज्यमान अनिसृष्ट है। इस कारण तुम अदत्त लेने-वाले हो। त्रिविध असयत, अविरत और बाल हो।

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम त्रिविध असयत, अविरत और बाल हो।

स्थविर—क्यों ? किस कारण से हम असयत, अविरत और बाल कहे जायेंगे ?

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम चलते हुए पृथिवीकाय पर आक्रमण करते हो, उसपर प्रहार करते हो, उसको घिसते हो, दूसरे से मिलाते हो, उसे इकट्ठा करते और छूते हो, उसको सताते हो और उसके जीवों का नाश करते हो। इस प्रकार पृथिवी के जीवों पर आक्रमणादि क्रियाएँ करते हुए तुम असयत, अविरत और बाल सावित होते हो।

स्थविर—आर्यो ! चलते हुए हम पृथिवी पर आक्रमण आदि नहीं करते। शरीर की चिन्ता के लिए, बीमार की सेवा के निमित्त अथवा विहारचर्या के वश जब हमें पृथिवी पर चलना पडता है तब भी विवेक-पूर्वक धीरे धीरे पादक्रम से चलते हैं। इसलिये न हम पृथिवी का आक्रमण करते हैं और न उसके जीवों का विनाश ही। परन्तु आर्यो ! तुम खुद ही इस प्रकार पृथिवी के जीवों पर आक्रमण और उपद्रव करते हुए असयत, अविरत और एकान्त बाल बन रहे हो।

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम्हारा मत तो यह है कि गम्यमान अगत, व्यतिक्रम्यमाण अव्यतिक्रान्त और राजगृह को सप्राप्त होने का इच्छुक असप्राप्त है।

स्थविर—आर्यो ! ऐसा मत हमारा नहीं है। हमारे मत में तो गम्यमान गत, व्यतिक्रम्यमाण व्यतिक्रान्त और सप्राप्यमाण सप्राप्त ही माना जाता है।

इस प्रकार स्थविर भगवन्तोंने चर्चामे अन्यतीर्थिकों को परास्त करके वहाँ 'गति प्रवाद' नामक अध्ययन की रचना की।[1]

---

१ भ० श ८, उ० ७, प० ३७९–३८०।

उस समय भगवान् महावीर को वन्दन करके अनगार कालोदायी ने पूछा—भगवन्! जीव दुष्ट फलदायक अशुभ कर्मों को स्वय करते हैं, यह बात सत्य है ?

अनगार कालोदायी के प्रश्न—(१) अशुभ कर्म-करण विषय में

महावीर—हाँ कालोदायिन्! जीव अशुभ फलदायक कर्मों को करते हैं, यह बात सत्य है।

कालोदायी—भगवन्! जीव ऐसे अशुभ विपाक-दायक पाप कर्म कैसे करते होंगे ?

महावीर—कालोदायिन्! जैसे कोई मनुष्य मनोहर रसवाले अनेक व्यञ्जन युक्त विषमिश्रित पक्वान्न का भोजन करता है तब उसे वह पक्वान्न बहुत प्रिय लगता है। उसके तात्कालिक स्वाद मे लुब्ध होकर वह प्रीतिपूर्वक खाता है, परन्तु परिणाम में वह अनिष्टकर होता है। भक्षक के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पर वह बुरा प्रभाव डालता है। इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीव जब हिंसा करते हैं, असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं, मैथुन करते हैं, वस्तु-सग्रह करते हैं, क्रोध, मान, कपट, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति, अरति, पर-परिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यात्व और शल्य आदि का सेवन करते हैं तब ये कार्य जीवों को अच्छे लगते हैं, परन्तु इनसे जो दुर्विपाक पाप-कर्म बन्धते हैं उनका फल बडा अनिष्ट होता है, जो बाँधनेवालों को भोगना पड़ता है।

कालोदायी—भगवन्! जीव कल्याण फलदायक शुभ कर्मों को करते हैं ?

महावीर—हाँ कालोदायिन्! जीव शुभ फलदायक कर्मों को भी करते हैं।

कालोदायी—जीव शुभ कर्मों को कैसे करते हैं ?।

महावीर—कालोदायिन्। जैसे, कोई मनुष्य औषध-मिश्रित पक्वान्न का भोजन करता है। उस समय यद्यपि वह भोजन उसे अच्छा नहीं लगता तथापि परिणाम मे वह बल, रूप आदि की वृद्धि करके हितकारक होता है। इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी आदि प्रवृत्तियों

और क्रोधादि दुर्गुणों का त्याग जीवों को पहले बहुत दुष्कर मालू
होता है, परन्तु यह पापकर्मों का त्याग अन्त में सुखदायक औ
कल्याणकारक होता है। इस प्रकार हे कालोदायिन ! जीवों को पा
कर्म करना अच्छा लगता है और शुभ कर्म करना दुष्कर, तथापि प
णाम में एक दुःखकारक होता है और दूसरा सुखकारक[1]।

कालोदायी—भगवन् ! दो समान पुरुष हैं। दोनों के पास सम
ही उपकरण हैं। वे दोनों ही अग्निकाय
आरम्भक हैं परन्तु उनमें से एक अग्नि
जलाता है और दूसरा उसे बुझाता है। इन
में अधिक आरम्भक और कर्म-बन्धक कौन ?

(२) अग्निकाय के आरम्भ के विषय में

महावीर—कालोदायिन् ! इन दो पुरुषों में अग्नि को जलानेवाल
अधिक आरम्भक है और वही अधिक कर्मबन्धक है, क्योंकि
पुरुष अग्नि को जलाता है वह पृथिवीकाय का, अप्काय का, वायुका
का, वनस्पतिकाय का और त्रसकाय का अधिक आरम्भ करता है औ
अग्निकाय का कम। इसके विपरीत जो पुरुष अग्नि को बुझाता है वह
अग्निकाय का अधिक आरम्भ करता है, परन्तु पृथिवीकाय, अप्काय
वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन सब का अल्प आरम्भ करता
है। इसलिए जो अग्नि को प्रज्वलित करता है वह अधिक आरम्भ
करता है और उसको शान्त करनेवाला अल्प[2]।

कालोदायी—भगवन् ! अचित्त पुद्गल प्रकाश अथवा उद्योत
करते हैं ? यदि करते हैं तो अचित्त पुद्गल
किस प्रकार प्रकाशित होते होंगे ?

(३) अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में

महावीर—कालोदायिन् ! अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। कोई
तेजोलेश्याधारी अनगार जब तेजोलेश्या छोड़ता है उस समय उसकी
तेजोलेश्या के कुछ पुद्गल दूर जाकर गिरते हैं, कुछ नजदीक। दूर
निकट गिरे हुए वे पुद्गल प्रकाश को फैलाते हैं। हे कालोदायिन् !
इस प्रकार अचित्त पुद्गल प्रकाशित होते हैं।

---

१ भ० श० ७, उ० १०, पृ० ३२५ ३२६।

२ भ० श० ७, उ० १०, पृ० ३२६-३२७।

कालोदायीने भगवान् का यह विवेचन स्वीकार किया।

छट्ट, अट्ठमादि तप करके कालोदायी ने अन्त मे अनशनपूर्वक देह छोडकर निर्वाण को प्राप्त किया[१]।

इस वर्ष गुणशील चैत्य मे गणधर प्रभास ने एक मास का अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया और अनेक अनगार विपुलाचल पर अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त हुए। अनेक नयी दीक्षायें भी हुई।

यह वर्षावास भगवान् ने राजगृह मे किया।

इस वर्ष भगवान् ने मगधभूमि में ही विहार कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार किया। चातुर्मास्य निकट आने पर भगवान् राजगृह पधारे और गुणशील मे समवसरण हुआ।

३८–अड़तीसवा वर्ष
(वि० पू० ४७५-४७४)

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—चलमान चलित नहीं होता, इसी तरह उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, हीयमान हीर्न, छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण नहीं होता।

अन्यतीर्थिकों की मान्यताओं के सबन्ध में गौतम के प्रश्न—
(१) क्रियाकाल और निष्ठाकाल के विषय में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—दो परमाणु पुद्गल एकत्र नहीं मिलते, क्योंकि दो परमाणु पुद्गलों मे स्निग्धता नहीं होती। तीन परमाणु एकत्र मिल सकते हैं, क्योंकि तीन परमाणुओं मे स्निग्धता होती है। इन एकत्र मिले हुए तीन परमाणुओं का विश्लेषण करने पर दो अथवा तीन टुकड़े होंगे। दो टुकड़े होने पर डेढ डेढ परमाणु का एक एक टुकड़ा होगा और तीन टुकडे होने पर एक एक परमाणु का एक एक टुकड़ा होगा। इसी प्रकार चार तथा पॉच आदि परमाणु-पुद्गल एकत्र मिलते हैं और इस प्रकार मिले हुए परमाणु समुदाय ही दु ख का रूप धारण करते हैं। वह दु ख भी शाश्वत है और उसमें सदा हानि वृद्धि होती रहती है।

(२) परमाणुओं के सयोग-वियोग के सबन्ध में

---

१ भ० श० ७, उ० १०, प० ३२७।

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—बोली जानेवाली अथवा बोली गई भा 'भाषा' कहलाती है, पर बोली जाती भा 'भाषा' नहीं कहलाती। और भाषा 'भाषक की नहीं किन्तु 'अभाषक' की कहलाती है।

(३) भाषा के भाषात्व के सबन्ध में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—पहले क्रिया दु ख रूप होती है और पी भी वह दु ख रूप होती है, पर क्रिया काल क्रिया दु खात्मक नहीं होती क्योंकि 'करण से नहीं किन्तु 'अकरण' से ही क्रिया दु खा त्मक होती है, यह कहना चाहिए।

(४) क्रिया की दु खात्मता के विषय में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—दु ख को कोई बनाता नहीं है और न कोई उसे छूता है। प्राणिमात्र बिना किए ही दु खों क अनुभव करते हैं, यह कहना चाहिये। भगवन् अन्यतीर्थिकों के ये मन्तव्य क्या सत्य हैं?"

(५) दु ख की अकृत्रिमता के विषय में

महावीर—"गौतम। अन्यतीर्थिकों का यह कथन कि 'चलमान चलित नहीं होता' ठीक नहीं है। इस विषय मे मैं कहता हूँ कि "चले-माणे चलिए" अर्थात् चलने लगा वह चला क्योंकि प्रत्येक समय की क्रिया अपने कार्य की उत्पत्ति के साथ समाप्त होती है। इससे सिद्ध हुआ कि क्रियाकाल और निष्ठाकाल एक है, अत 'चलेमाणे' शब्द से सूचित 'वर्तमान' और 'चलिए' से ध्वनित 'भूत' काल वास्तव मे भिन्न नहीं हैं। अतएव 'चलन' और 'चलित' भी एक ही कार्य के 'साध्य मान' और 'सिद्ध' ऐसे दो भिन्न रूप हैं। यही बात 'उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, हीयमान हीन, छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण के सबन्ध में भी समझनी चाहिए।

"गौतम। परमाणुओं के मिलने-बिखरने के सबन्ध मे भी अन्य तीर्थिकों की मान्यता ठीक नहीं है। इस विषय मे मेरा मत यह है कि दो परमाणु भी एकत्र जुड सकते हैं, क्योंकि दो परमाणुओं मे भी उन्हें जोड़नेवाली स्निग्धता विद्यमान होती है। मिले हुए दो परमाणुओं को तोड़ने पर फिर वे एक एक कर के जुदा हो जाते हैं। इसी

तीन परमाणु भी आपस मे मिल सकते हैं और तोडने पर फिर वे एक एक कर के जुदा हो जाते हैं।

"तीन परमाणु भी आपस मे मिल सकते हैं और तोड़ने पर जुदा हो जाते हैं। तीन परमाणुओं के स्कन्ध को तोड़ कर यदि उसके दो विभाग किए जायँ तो एक भाग मे एक परमाणु रहेगा और एक में दो। इन्हीं तीन परमाणुओं के स्कन्ध को तोड कर तीन भाग किए जायँ तो एक एक परमाणु का एक एक भाग होगा।

"इसी प्रकार चार, पाँच आदि परमाणु एकत्र मिल कर स्कन्ध बनते हैं, परन्तु वे स्कन्ध अशाश्वत होते हैं और नित्य ही उनमे हानि-वृद्धि होती रहती है।

"भाषा के विषय मे भी अन्यतीर्थिकों के विचार प्रामाणिक नहीं हैं। इस विषय मे मेरा सिद्धान्त यह है कि बोली जानेवाली अथवा बोली गई भाषा 'भाषा' नहीं, पर बोली जाती भाषा ही 'भाषा' है। और वह भाषा 'अभापक' की नहीं, पर 'भाषक' की होती है।

"क्रिया की दु खरूपता के सबन्ध मे भी अन्यतीर्थिकों की मान्यता यथार्थ नहीं। पहले या पीछे क्रिया दु खरूप नहीं होती, किन्तु क्रियाकाल मे ही वह दु खात्मक होती है और वह भी अकरणरूप से नहीं, करण-रूप से दु खात्मक होती है।

"गौतम! जो लोग दु ख को 'अकृत्य' और 'अस्पृश्य' कहते हैं वे भी मिथ्यावादी हैं। दु ख 'कृत्य' और 'स्पृश्य' है, क्योंकि ससारी जीव उसको बनाते, छूते और भोगते हैं, यह कहना चाहिए।"[1]

गौतम ने कहा—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—एक जीव एक समय मे ईर्यापथिकी और सापरायिकी इन दो क्रियाओं को करता है।

एक समय में दो क्रियाओं के विषय में

जिस समय में ईर्यापथिकी करता है उसी समय मे सापरायिकी भी करता है और जिस समय मे सापरायिकी करता है उसी समय में वह ईर्यापथिकी भी करता है। अर्थात् ईर्यापथिकी करता हुआ सापरायिकी और सांपरायिकी करता हुआ ईर्यापथिकी करता है। इस प्रकार अन्य-

१ भ० श० १, उ० १०, प० १०२-१०३।

तीर्थिक एक समय मे दो क्रियाओं के करने की बात कहते हैं, सो क्या यह कथन ठीक है ?

महावीर—नहीं गौतम ! अन्यतीर्थिकों का यह कथन ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा मत यह है कि एक जीव एक समय मे एक ही क्रिया करता है—ईर्यापथिकी अथवा सापरायिकी। जिस समय वह ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं करता और सापरायिकी करने के समय ईर्यापथिकी नहीं करता[1]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—निर्ग्रन्थ कालधर्म प्राप्त होकर देवलोक मे देव होता है तब वह अपनी दिव्य आत्मा से वहाँ के अन्य देव देवियों के साथ अथवा अपनी देवियों के साथ विषय भोग नहीं करता किन्तु वह अपनी ही आत्मा में से अन्य वैक्रिय रूप बना बनाकर उनके साथ विषय सुख भोगता है। क्या भगवन्! अन्य तीर्थिकोंका यह कथन सत्य है ?

निर्ग्रन्थों के देवभव के भोग सुखों के विषय में

महावीर—गौतम ! अन्यतीर्थिक इस विषय मे जो कहते हैं वह सत्य नहीं है। सच तो यह है कि निर्ग्रन्थ कालधर्म प्राप्त होने के बाद किसी भी ऐसे देवलोक मे देव होता है जो महाऋद्धि और प्रभावसपन्न हो और जहाँ के देवों की आयुष्य स्थिति बहुत लम्बी हो। वहाँ देवरूप से उत्पन्न निर्ग्रन्थ का जीव महातेजस्वी और ऋद्धिमान् देव होता है। वह वहाँ पर दूसरे देवों, उनकी देवियों और अपनी देवियों को अनुकूल करके उनसे विषयवासना पूर्ण करता है और एक जीव एक समय मे एक ही वेद का अनुभव करता है—स्त्री वेद का अथवा पुरुष वेद का। स्त्री वेद के अनुभवकाल में पुरुष वेद का अनुभव नहीं करता और पुरुष वेद के अनुभवकाल मे स्त्री-वेद का।

पुरुष वेद के उदयकाल मे पुरुष स्त्री को और स्त्री वेद के उदयकाल मे स्त्री पुरुष की प्रार्थना करती है। इस प्रकार अपने अपने वेदोदयकाल मे स्त्री पुरुष एक दूसरे की अभिलाषा करते हैं[2]।

---

१ भ० श० १, उ० १०, पृ० १०६।

२ भ० श० २, उ० ५, पृ० १३१-१३२।

गणधर अचलभ्राता और मेतार्य ने गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

इस साल का वर्षावास भगवान् ने नालन्दा में किया।

चातुर्मास्य के अनन्तर नालन्दा से विचरते हुए भगवान् विदेह जनपद में पधारे। देश के अन्यान्य ग्राम नगरों में प्रवचन का उपदेश करते हुए आप मिथिला पधारे। यहाँ पर राजा जितशत्रु ने आपका बड़ा आदर किया।

३९–उनचालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७४–४७३)

समवसरण मिथिला के बाहर माणिभद्र चैत्य में हुआ। राजा जितशत्रु और रानी धारणी प्रमुख राजपरिवार तथा भाविक नगरजनों से चैत्य का मैदान विशाल धर्मसभा के रूप में परिवर्तित हो गया। आपने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश किया। सभाजन संतुष्ट होकर अपने अपने स्थानों पर चले गए।

सभा-विसर्जन के बाद अनगार इन्द्रभूति ने वन्दन पुरस्सर ज्योतिष-शास्त्र से संबंधित अनेक प्रश्न किये जिनमें बीस प्रश्न मुख्य थे।

गौतम ने पूछा—

१—सूर्य प्रतिवर्ष कितने मण्डलों का भ्रमण करता है?

२—सूर्य तिर्यग्भ्रमण कैसे करता है?

३—सूर्य तथा चन्द्र कितने क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं?

४—प्रकाशक का अवस्थान कैसा है?

५—सूर्य का प्रकाश कहाँ रुकता है?

६—ओजस् (प्रकाश) की स्थिति कितने काल की है?

७—कौन से पुद्गल सूर्य के प्रकाश का स्पर्श करते हैं?

८—सूर्योदय की स्थिति कैसी है?

९—पौरुषी छाया का क्या परिमाण है?

१०—योग किसे कहते हैं?

११—संवत्सरों का प्रारंभ कहाँ से होता है?

१२—संवत्सर कितने कहे हैं?

१३—चन्द्रमा की वृद्धि-हानि क्यों दीखती है?

१४—किस समय चाँद की चाँदनी पड़ती है ?
१५—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इनमें शीघ्रगति कौन है ?
१६—चाँद की चाँदनी का लक्षण क्या है ?
१७—चन्द्रादि ग्रहों का च्यवन और उपपात कैसे होता है ?
१८—भूतल से चन्द्र आदि ग्रह कितने ऊँचे हैं ?
१९—चन्द्र, सूर्यादि कितने हैं ?
२०—चन्द्र, सूर्यादि क्या हैं ?[1]

गौतम के उक्त प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने इतने विस्तृत रूप से दिये हैं कि उनसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन पद्धति के ज्योतिष विज्ञान के मौलिक ग्रन्थ बन गये हैं। उक्त प्रश्नों के उत्तरों से हम इस ग्रन्थ को जटिल बनाना उचित नहीं समझते।

भगवान् ने इस साल का वर्षावास मिथिला में ही बिताया।

४०—चालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७३–४७२)

चातुर्मास्य के बाद भगवान् विदेह देश में ही विचरे। अनेक श्रद्धालुओं को निर्ग्रन्थ मार्ग में दीक्षित किया और अनेक गृहस्थों को श्रमणोपासक बनाया। वर्षाकाल निकट आने पर आप फिर मिथिला पधारे और वर्षावास मिथिला में ही किया।

४१–इकतालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७२–४७१)

चातुर्मास्य की समाप्ति पर भगवान् ने मिथिला से मगध की तरफ विहार कर दिया और क्रमशः राजगृह पधार कर गुणशील चैत्य में वास किया।

महाशतक को चेतावनी

उन दिनों राजगृहनिवासी महाशतक श्रमणोपासक गृहस्थ धर्म की अन्तिम आराधना करके अनशन किए हुए था। अनशन के बाद शुभाध्यवसाय और कर्मों के क्षयोपशम से महाशतक को अवधिज्ञान प्रकट हो गया था जिससे वह आनन्द की ही तरह ऊपर, नीचे और तिर्यग् लोक में दूर दूर तक जानता तथा देखता था।

उस समय उसकी स्त्री रेवती मदिरा से मतवाली होकर महाशतक

---

१ सूर्यप्रज्ञप्ति प० १–९।

के पास गई और विकृत चेष्टाओं तथा असभ्य वचनों से उसका ध्यान भग करने लगी।

दो बार तो महाशतक ने उसकी बातें सुनी-अनसुनी कर दीं। पर जब वह बार बार विरुद्ध भावों और अभद्र चेष्टाओं से उसे सताती ही गई तब वह अपने क्रोध को दबा न सका। अवधिज्ञान से उसकी भविष्य की दशा को जान कर बोला—'अये मृत्युप्रार्थिनी रेवति! इतनी उन्मत्त क्यों हो रही है? सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो असमाधिपूर्वक मर कर तू नरक गति को प्राप्त होनेवाली है, इस बात की भी जरा चिन्ता कर।

महाशतक के कटुवचनों से रेवती भयभीत होकर सोचने लगी—सचमुच आज महाशतक मेरे ऊपर रुष्ट हुए हैं। न जाने अब मुझे किस बुरी तरह मारेंगे। वह धीरे धीरे वहाँ से हट कर अपने स्थान पर चली गई।

महाशतक के कथनानुसार ही रेवती को अलस रोग हुआ और सात दिन के भीतर उसका देहान्त हो गया।

रेवती के प्रति किये गये कटुभापण के सबन्ध मे महाशतक को चेतावनी देने के लिये भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को बुला कर कहा—गौतम! यहाँ मेरा अन्तेवासी महाशतक श्रमणोपासक अपनी पौपधशाला मे अन्तिम अनशन कर काल निर्गमन कर रहा है। अपनी स्त्री रेवती द्वारा मोहजनक वचनों से सताये जाने पर उसने क्रोधवश हो रेवती की कठोर वचनों से तर्जना की है। इसलिये गौतम! महाशतक को जाकर कह कि अन्तिम अनशन कर समभाव में रहे हुए श्रमणोपासक को ऐसा करना उचित नहीं। यथार्थ-सत्य होने पर अप्रिय कठोर वचन बोलना अनशनधारी श्रमणोपासक का कर्तव्य नहीं। देवानुप्रिय! रेवती को अप्रिय वचन कह कर तूने अच्छा नहीं किया। इसका उचित आलोचना—प्रायश्चित्त लेकर तुझे शुद्ध होना चाहिये।

महावीर की आज्ञा पाकर गौतम महाशतक के यहाँ गये और भगवान् का सदेश उसे दिया। महाशतक ने भी भगवान् की आज्ञा सिर आँखों पर चढ़ाई और अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया।

एक समय वैभारगिरि के नीचे उष्ण जलह्रद के विषय मे इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—भगवन् ! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं कि राजगृह नगर के बाहर वैभार पर्वत के नीचे एक बडा भारी जलह्रद है जिसकी लबाई और चौड़ाई अनेक योजन परिमित है। उसके किनारे विविध जाति के वृक्षों की घटाओं से सुशोभित हैं। उसमे से बड़े बड़े बादल तैयार होते और बरसते हैं। इसके अतिरिक्त उसमे जो अधिक जलसमूह होता है वही उष्ण जलस्रोतों के रूप मे निरन्तर बहता रहता है। भगवन् ! क्या अन्य तीर्थिको का यह कथन सत्य है ?

उष्ण जलह्रद के विषय में प्रश्न

महावीर—गौतम ! अन्यतीर्थिकों का यह कथन सत्य नहीं है। इस विषय में मेरा मत यह है कि राजगृह के बाहर वैभार पर्वत के पास अत्यन्त उष्ण स्थान के पास से निकलनेवाला 'महातपस्तीरप्रभव' नामक जलस्रोत है, जिसकी लबाई चौडाई पॉच पॉच सौ धनुष्य परिमाण है। इसके किनारों पर अनेक जाति के वृक्ष लगे हुए हैं जिनसे इसकी शोभा दर्शनीय हो गई है। इस उष्ण जलस्रोत मे उष्णयोनि के जीव उत्पन्न होते और मरते हैं, तथा उष्ण स्वभाव के जल-पुद्गल भी उष्णजल के रूप मे इसमें आते और निकलते रहते हैं। यही कारण है कि स्रोत में से नित्य और सतत उष्णजल का प्रवाह बाहर बहता रहता है। महातपस्तीरप्रभव जलस्रोत की यही हकीकत है और यही इसका रहस्य है।

गौतम—भगवन् ! आपका कथन सत्य है। महातपस्तीरप्रभव जलस्रोत का रहस्य यही हो सकता है।

गौतम ने कहा—भगवन् ! अन्यतीर्थिक कहते हैं—नियमानुसार गठे हुए और नियत अन्तर पर गॉठोंवाले एक जाल के जैसी अनेक जीवों के अनेक भवसचित आयुष्यों की रचना होती है। जिस प्रकार जाल मे सब गॉठें नियत अन्तर पर रहती हैं और एक दूसरी के साथ संबन्धित रहती हैं, उसी तरह सब आयुष्य एक दूसरे से नियत अन्तर पर रहे हुए होते हैं। इनमे से एक जीव एक समय मे दो आयुष्यों को भोगता है—

आयुष्य कर्म के विषय में प्रश्न

इहभविक और पारभविक। जिस समय इहभविक आयुष्य भोगता है उसी समय पारभाविक भी भोगता है। भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता ठीक है?[१]

महावीर—गौतम! इस विषय में अन्यतीर्थिक जो कहते हैं वह ठीक नहीं है। हमारा मत यह है कि अनेक जीवों के आयुष्य जाल-ग्रन्थियों के आकार के नहीं होते परन्तु एक जीव के अनेक भवों के आयुष्य वैसे हो सकते हैं। तथा एक जीव एक समय में दो आयुष्यों को भोग नहीं सकता किन्तु एक ही को भोग सकता है—इहभविक आयुष्य को अथवा पारभविक आयुष्य को[२]।

गौतम बोले—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—जैसे युवा पुरुष अपने हाथ में युवति स्त्री का हाथ पकड़ता है अथवा जिस प्रकार

मनुष्यलोक की मानव बस्ती के संबंध में

चक्रनाभि से अरक भिड़े रहते हैं, वैसे ही यह मनुष्यलोक चार सौ पाँच सौ योजन तक मनुष्यों से भरा हुआ है। भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों का यह कथन सत्य है?

महावीर—नहीं गौतम! अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा कहना यह है कि मनुष्यलोक तो नहीं पर नरक लोक इस प्रकार चार सौ पाँच सौ योजन पर्यन्त नारकजीवों से ठसा-ठस भरा हुआ रहता है[३]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं—इस राज-गृह नगर में जितने जीव हैं, उन सब के सुखों अथवा दुःखों को इकट्ठा

सुख अथवा दुःख के परिमाण के विषय में

करके बेर की गुठली, बाल, कलाय, जूँ अथवा लीख जितने परिमाण में भी बताने में कोई समर्थ नहीं है। क्या अन्यतीर्थिकों का यह कथन यथार्थ है?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों का यह कथन ठीक नहीं है।

---

१ भ० श० ५, उ० ५, पृ० १४१।
२ भ० श० ५, उ० ३, पृ० २१४।
३ भ० श० ५, उ० ६, पृ० २३०।

इस विषय मे मेरा सिद्धान्त यह है—राजगृह के तो क्या ससार भर के सब जीवों के सुख दु खों को इकट्ठा करके लिक्षापरिमाण भी दिखाने को कोई समर्थ नहीं है। गौतम! सम्पूर्ण लोक के सुख दु खों को इकट्ठा करने पर भी उनका पिण्ड लिक्षा के बराबर भी क्यों नहीं होता, इसको मैं एक दृष्टान्त से समझाऊँगा। मान लो कि कोई एक महान् सामर्थ्यवान् देव है। वह सुगन्धी से भरा हुआ एक डिब्बा लेकर लक्ष योजन परिमाणवाले सपूर्ण जम्बूद्वीप के ऊपर पलकमात्र मे इक्कीस बार चक्कर काटता हुआ डिब्बे में की तमाम सुगधी सारे जम्बूद्वीप मे बीखेर दे। तब वे सुगधी-पुद्गल सपूर्ण जम्बूद्वीप का स्पर्श करेंगे या नहीं?

गौतम—हाँ, भगवन्! वे सूक्ष्म सुगधी परमाणु सपूर्ण जबूद्वीप मे फैलकर उसका स्पर्श कर लेंगे।

महावीर—गौतम! अगर उन सूक्ष्म सुगन्धी परमाणुओं को कोई फिर इकट्ठा करना चाहे तो क्या वह एक लिक्षा परिमाण भी इकट्ठा करके दिखा सकता है?

गौतम—नहीं भगवन्! उन सूक्ष्म पुद्गलों को फिर इकट्ठा कर दिखाना अशक्य है।

महावीर—इसी प्रकार लोकगत सर्वजीवों के सम्पूर्ण सुख-दु खों को इकट्ठा करके लिक्षा-परिमाण भी दिखाने को कोई समर्थ नहीं है[1]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं कि प्राण, भूत और सत्त्वनामधारी सर्वजीव एकान्त दु ख को भोगते हैं। क्या यह कथन सत्य है?

एकान्त दु खवेदना के सबध में

महावीर—नहीं, गौतम! अन्यतीर्थिकों का उक्त कथन ठीक नहीं है। सिद्धान्त यह है कि कुछ जीव नित्य एकान्तदु ख को भोगते हैं और कभी कभी सुख को। कुछ जीव नित्य एकान्त सुख का अनुभव करते हैं और कभी कभी दु ख का। तब कितने ही जीव सुख और दु ख को अनियमितता से भोगते हैं।

---

१ भ० श० ६, उ० १, पृ० २८४-२८५।

उनके शरीर हाथ भर के और उम्र सोलह अथवा बीस वर्ष की होगी।

वे पुत्र पौत्रादि बहुल परिवार युक्त होंगे।

उनकी सख्या परिमित होगी और वे गगा-सिन्धु महानदियों के तटाश्रित वैताढ्य पर्वत के बहत्तर बिलों में निवास करेंगे।

गौतम—भगवन्! उन मनुष्यों का आहार क्या होगा?

महावीर—गौतम! उस समय गगा-सिन्धु महानदियों का प्रवाह रथमार्ग जितना चौडा होगा। उनकी गहराई चक्रनाभि से अधिक न होगी। उनका जल मत्स्य, कच्छपादि जलचर जीवों से व्याप्त होगा। जब सूर्योदय और सूर्यास्त का समय होगा, वे मनुष्य अपने अपने बिलों से निकल कर नदियों में से मत्स्यादि जीवों को स्थल में ले जायेंगे और धूप में पके-भुने उन जलचरों का आहार करेंगे। दुष्षम-दुष्षमा के भारतीय मानवों की जीवनचर्या इक्कीस हजार वर्षों तक इसी तरह चलती रहेगी।

गौतम—भगवन्! वे निश्शील, निर्गुण, निर्मर्याद, त्याग-व्रतहीन, बहुधा मासाहारी और मत्स्याहारी मनुष्य मरकर कहाँ जायेंगे? कहाँ उत्पन्न होंगे?

महावीर—वे बहुधा नारक और तिर्यञ्च योनियों मे उत्पन्न होंगे[1]।

राजगृह से विहार करते हुए भगवान् अपापा पधारे। अपापा के उद्यान मे समवसरण हुआ। गणधर के प्रश्नोत्तर में यहाँ पर भी भगवान् ने काल चक्र का सविस्तर वर्णन किया।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल, उनमे होनेवाले मनुष्यों और उनकी उन्नत अवनत स्थितियों का वर्णन करते हुए आपने वर्तमान अवसर्पिणी के दुष्षमा नामक पञ्चमारक का विशेष वर्णन किया।

आपने कहा—तीर्थंकरों के समय में यह भारतवर्ष धनधान्य से समृद्ध, नगर गाँवों से व्याप्त स्वर्ग सदृश होता है। तत्कालीन ग्राम नगर समान, नगर देवलोक समान, कौटुम्बिक राजा तुल्य और राजा

---

१ भ० श० ७, उ० ६, प० ३०५-३०९।

कुबेर तुल्य समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य चन्द्र समान, माता पिता देवता समान, सास माता समान, श्वसुर पिता समान होते हैं। तत्कालीन जनसमाज धर्माधर्मविधिज्ञ, विनीत, सत्य शौचसपन्न, देव-गुरुपूजक और स्वदारसंतोषी होता है। विज्ञानवेत्ताओं की कदर होती है। कुल, शील तथा विद्या का मूल्य होता है। लोग ईति, उपद्रव, भय और शोक से मुक्त होते हैं। राजा जिन भक्त होते हैं और जैन धर्म-विरोधी बहुधा अपमानित होते हैं।

यह सब आज तक था। अब जब चौपन उत्तम पुरुष व्यतीत हो जायेंगे और केवली, मन पर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी तथा श्रुतकेवली इन सब का विरह हो जायगा तब भारतवर्ष की दशा इसके विपरीत होती जायगी। प्रतिदिन मनुष्य समाज क्रोधादिकषाय विष से विवेकहीन बनते जायेंगे। प्रबल जल-प्रवाह के आगे जैसे गढ छिन्न भिन्न हो जाता है वैसे ही स्वच्छन्द लोक प्रवाह के आगे हितकर मर्यादाएँ छिन्न भिन्न हो जायेंगी। ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा जन समाज दया-दान सत्य-हीन और कुतीर्थिकों से मोहित होकर अधिकाधिक अधर्मशील होता जायगा।

उस समय ग्राम श्मशान तुल्य, नगर प्रेतलोक सदृश, भद्रजन दास समान और राजा लोग यमदण्ड समान होंगे। लोभी राजा अपने सेवकों को पकडेंगे और सेवक नागरिकों को। इस प्रकार मत्स्यों की तरह दुर्बल सबलों से सताये जायेंगे। जो अन्त मे हैं वे मध्य मे और मध्य मे हैं वे प्रत्यन्त होंगे। बिना पतवार के नाव की तरह देश डोलते रहेंगे। चोर धन लूटेंगे। राजा करों से राष्ट्रों को उत्पीडित करेंगे और न्यायाधिकारी रिश्वतखोरी में तत्पर रहेंगे। जनसमाज स्वजनविरोधी, स्वार्थप्रिय, परोपकार-निरपेक्ष और अविचारितभाषी होगा। बहुधा उनके वचन असार होंगे। मनुष्यों की धन धान्य विषयक तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी। वे ससार-निमग्न, दाक्षिण्यहीन, निर्लज्ज और धर्मश्रवण में प्रमादी होंगे।

दुष्षमाकाल के शिष्य गुरुओं की सेवा नहीं करेंगे और गुरु शिष्यों को शास्त्र का शिक्षण नहीं देंगे। गुरुकुलवास की मर्यादा उठ जायगी।

फिर अवसर्पिणी काल लगेगा और प्रत्येक वस्तु का ह्रास होने लगेगा।

इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी इस ससार मे व्यतीत हो गईं और होंगी। जिन जीवों ने ससार-प्रवाह से निकल कर वास्तविक धर्म का आराधन किया, उन्हीं ने इस कालचक्र को पार कर स्वस्वरूप को प्राप्त किया और करेंगे।

कालचक्र का सविस्तर स्वरूप निरूपण करके भगवान् ने संसार के दु:खों और भ्रमणों की भयकरता दिखाई जिसे सुनकर अनेक भव्य आत्माओं ने ससार से विरक्त हो कर निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

भगवान् महावीर के जीवन का यह अन्तिम वर्ष था। इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य पावा मे व्यतीत करने का निर्णय करके आप राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा मे पधारे और वहीं वर्षा चातुर्मास्य की स्थिरता की[1]।

इस वर्ष भी भगवान् ने निर्ग्रन्थ प्रवचन का खासा प्रचार किया और राजा पुण्यपाल[2] प्रमुख अनेक भव्यात्माओं को निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या दी।

एक-एक करके वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये और चौथा महीना लगभग आधा बीतने आया। कार्तिक-अमावस्या का प्रातःकाल हो चुका था। उस समय राजा हस्तिपाल के रज्जुग सभाभवन मे भगवान् महावीर की अन्तिम उपदेश सभा हुई, जहाँ अनेक गण्य-मान्य व्यक्ति सम्मिलित हुए थे जिनमें काशीकोशल के नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ल एव अठारह गणराज विशेष उल्लेखनीय हैं।

भगवान् ने अपने जीवन की समाप्ति निकट जान कर अन्तिम उपदेश की अखण्ड धारा चालू की जो अमावस्या की पिछली रात तक चलती रही। इस दीर्घकालीन देशना मे आपने ५५ पुण्य फल-

---

१ श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत 'महावीरचरिय' पत्र ९३ से ९९।

२ पुण्यपाल राजा के प्रव्रज्या लेने का उल्लेख श्रीहेमचन्द्रसूरि के महावीर चरित्र में है।

विपाक विषयक, ५५ पापफल-विपाक विषयक और ३६ अपृष्ट व्याकरण अध्ययन सुनाये। अन्त में प्रधान नामक अध्ययन का निरूपण करते हुए अमावस्या की पिछली रात को श्रमण भगवान् महावीर इस संसार से ऊर्ध्वगमन कर गये—सब कर्मोंसे मुक्त हो गये।

भगवान् के निर्वाण पर उक्त गणराजों ने कहा—'संसार से भाव-प्रकाश उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे।'

इन्द्रभूति गौतम, जो उस समय भगवान् की आज्ञा से निकटवर्ती गाँव में देवशर्मा ब्राह्मण को उपदेश करने के लिए गये थे, भगवान् के निर्वाण का समाचार सुनकर बोले—'आज भारतवर्ष शोभाहीन हो गया।'





प्रथम परिच्छेद

शिष्य-सम्पदा

जैन आगमों के उल्लेखानुसार भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि चौदह हजार श्रमण शिष्य थे।

भगवान् ने अपनी श्रमणसंस्था को व्यवस्था-सौकर्य की दृष्टि से नौ 'गणों' में बाँट दिया था और इसके नियमन के लिए ग्यारह प्रधान शिष्यों को नियत किया था जो 'गणधर' नाम से प्रसिद्ध थे।

प्रथम सात गणों का एक एक गणधर था, परन्तु आठवें और नवें गण के दो दो गणधर थे। इस प्रकार श्रमण भगवान् के नौ श्रमणगणों के अधिकारी ग्यारह गणधर थे जिनको भगवान् ने अपने केवलज्ञान के दूसरे दिन वैशाख शुक्ला एकादशी को नियत किया था।

भगवान् महावीर के ये सभी गणधर गृहस्थाश्रम में भिन्न-भिन्न स्थानों के रहनेवाले जात्य ब्राह्मण थे। पावामध्यमा निवासी सोमिलार्य ब्राह्मण के आमन्त्रणसे वे अपने अपने छात्रगण के साथ वहाँ आये थे और भगवान् महावीर की धर्मसभा में जाकर उनके शिष्य बने थे। और सभी गणधर राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के अन्त में आयुष्य पूर्णकर निर्वाण प्राप्त हुए थे।

गणधरों के जीवन आदि का संक्षिप्त वृत्तान्त हमें कल्पसूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति आदि सूत्रोंमें मिलता है, जिसका सारांश देकर हम इनका परिचय करायेंगे।

भगवान् महावीर के सबसे बड़े शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। गृहस्था-

(१) इन्द्रभूति गौतम

श्रम में ये मगध देशान्तर्गत गोबर गाँव निवासी गौतमगोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति के ज्येष्ठ पुत्र थे।



इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उसके बाद आप बारह वर्ष तक जीवित रहे। इस अवस्था में आपकी अधिक प्रवृत्ति भगवान् के धर्मप्रचार की तरफ रही।

अन्त में अपनी आयुष्य स्थिति समाप्त होती देखकर इन्द्रभूति ने अपना गण आर्य सुधर्मा के सुपुर्द किया और आप गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके भगवान् के निर्वाण से बारह वर्ष के बाद ९२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

अग्निभूति गौतम इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। अग्निभूति भी पाँच सौ छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर छात्रगण के साथ पावामध्यमा आए थे। अग्नि-

(२) अग्निभूति गौतम

भूति के मन पर "पुरुष एवेदम्निसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदे-जति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्य बाह्यत" इत्यादि श्रुतिवाक्यों की छाप थी। वे पुरुषाऽद्वैतवादी थे, परन्तु "पुण्य पुण्येन, पाप पापेन कर्मणा" इत्यादि वचनों से पुरुषाऽद्वैतवाद में कुछ शंकित भी थे।

भगवान् महावीर ने वैदिक पदों के समन्वय द्वारा द्वैत की सिद्धि करके इनकी मानसिक शंकाओं को दूर कर पावामध्यमा के महासेन वनमें दीक्षा दी और अपना दूसरा गणधर बनाया।

अग्निभूति ने छयालीस वर्ष की अवस्था में श्रामण्य धारण किया, बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तपकर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष पर्यन्त केवली अवस्था में विचर कर श्रमण भगवान् की जीवित अवस्था में ही, उनके निर्वाण से करीब दो वर्ष पहले, गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के अन्त में ७४ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

वायुभूति इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। ये भी सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर अपने पाँच सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा में आये हुए

(३) वायुभूति गौतम

थे। वायुभूति के दार्शनिक विचारों का झुकाव 'तज्जीवतच्छरीरवादी' नास्तिकों के मत की

इनकी माता का नाम पृथिवी था। आपका नाम यद्यपि इन्द्रभूति था पर ये अपने गोत्राभिधान 'गौतम' इस नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे।

इन्द्रभूति वैदिक धर्मके प्रखर विद्वान् और अध्यापक थे। "विज्ञान-घन एवैतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य सज्ञास्ति" इत्यादि श्रुति वाक्यों से इनके मन पर तत्कालीन भौतिकवाद का असर हो गया था परन्तु इससे विपरीत "स वै अयमात्मा ज्ञानमय" इत्यादि आत्मसत्ता सूचक वैदिक वचनों से आप नास्तिक होनेसे बचे हुए थे।

उक्त द्विविध वेद वाक्यों के अस्तित्व से गौतम का हृदय यद्यपि आत्मास्तित्व के सबन्ध मे शकाशील रहता था परन्तु अपनी योग्यता के अनुरूप न समझ कर अथ— समाज-भयके वश ये अपने मनोगत सशय को किसी के आगे थे।

पावामध्यमा निवा अमत्रण से

इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उसके बाद आप बारह वर्ष तक जीवित रहे। इस अवस्था में आपकी अधिक प्रवृत्ति भगवान् के धर्मप्रचार की तरफ रही।

अन्त में अपनी आयुष्य स्थिति समाप्त होती देखकर इन्द्रभूति ने अपना गण आर्य सुधर्मा के सुपुर्द किया और आप गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके भगवान् के निर्वाण से बारह वर्ष के बाद ९२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

अग्निभूति गौतम इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। अग्निभूति भी पाँच सौ छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर छात्रगण के साथ पावामध्यमा आए थे। अग्निभूति के मन पर "पुरुष एवेद ग्निसर्वं यद्भूत यच्च भाव्य उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्य बाह्यत" इत्यादि श्रुतिवाक्यों की छाप थी। वे पुरुषाऽद्वैतवादी थे, परन्तु "पुण्य पुण्येन, पाप पापेन कर्मणा" इत्यादि वचनों से पुरुषाऽद्वैतवाद में कुछ शकित भी थे।

(२) अग्निभूति गौतम

भगवान् महावीर ने वैदिक पदों के समन्वय द्वारा द्वैत की सिद्धि करके इनकी मानसिक शकाओं को दूर कर पावामध्यमा के महासेन वनमें दीक्षा दी और अपना दूसरा गणधर बनाया।

अग्निभूति ने छयालीस वर्ष की अवस्था में श्रामण्य धारण किया, बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तपकर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष पर्यन्त केवली अवस्था में विचर कर श्रमण भगवान् की जीवित अवस्था में ही, उनके निर्वाण से करीब दो वर्ष पहले, गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के अन्त में ७४ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

वायुभूति इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। ये भी सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर अपने पाँच सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा में आये हुए थे। वायुभूति के दार्शनिक विचारों का झुकाव 'तज्जीवतच्छरीरवादी' नास्तिकों के मत की

(३) वायुभूति गौतम

तरफ था। "विज्ञाघन०" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य को वे अपने नास्तिक मत के विचारों का समर्थक मानते थे, परन्तु दूसरी ओर "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्य ज्योतिर्मयो हि शुद्धो य पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मान" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से देहातिरिक्त आत्मा का प्रतिपादन होता था। इस द्विविध वेदवाणी से वायुभूति इस विषय मे शङ्काशील बने हुए थे, परन्तु महावीर ने शरीरातिरिक्त आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करके इनके मानसिक संशयों को दूर किया और पाँच सौ छात्रों के साथ प्रव्रज्या देकर इन्हें अपना तीसरा प्रधान शिष्य बनाया।

वायुभूति ने बयालीस वर्ष की अवस्था में गृहवास को छोड़कर श्रमण-धर्म की दीक्षा ली। दस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहने के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और अठारह वर्ष केवली अवस्था में विचरे। महावीर के निर्वाण के दो वर्ष पहले वायुभूति भी ७० वर्ष की अवस्था मे मासिक अनशन के अन्तमें गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान् महावीर के चौथे गणधर का नाम आर्य व्यक्त था। ये कोल्लाग संनिवेश निवासी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वारुणी और पिता धनमित्र थे।

(४) आर्य व्यक्त

आर्य व्यक्त भी पाँच सौ छात्रों के अध्यापक थे और सोमिलार्य के आमंत्रण से यज्ञोत्सव पर पावामध्यमा मे आये थे।

आर्य व्यक्त की विचारसरणी "स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेय" इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्रह्मवाद की तरफ झुकी हुई थी, पर साथ ही "द्यावापृथिवी" तथा "पृथिवी देवता, आपो देवता" इत्यादि वैदिक वचनों को देखकर वे दृश्य जगत् को भी मिथ्या नहीं मान सकते थे। इस प्रकार व्यक्त संशयाकुल थे तथापि अपना संदेह किसी को प्रकट नहीं करते थे।

श्रमण भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की प्रशंसा सुनकर व्यक्त भी भगवान् के समवसरण में गये जहाँ महावीर ने आपकी गुप्त शङ्का को प्रकट किया और वेदपदों के समन्वयपूर्वक द्वैत की सिद्धि कर उसका समाधान किया।

अन्त में भगवान् ने निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश किया और आर्य व्यक्त छात्रगण सहित भगवान् महावीर के शिष्य हो गये।

आर्य व्यक्त ने पचास वर्ष की अवस्था मे श्रमण धर्म स्वीकार किया बारह वर्ष तक तप ध्यान करके केवलज्ञान पाया और अठारह वर्ष केवलि पर्याय पाल कर भगवान् के जीवनकाल के अन्तिम वर्ष मे अस्सी वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

(५) सुधर्मा

भगवान् महावीर के पञ्चम शिष्य का नाम सुधर्मा था जो आजकल सुधर्मा स्वामी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। वे कोल्लाग सन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायनगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। वे भी पॉच सौ छात्रों के अध्यापक थे और अपने छात्रगण के साथ सोमिलार्य के यज्ञोत्सव मे पावामध्यमा आये थे।

"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशव पशुत्वम्" इत्यादि वैदिक वचनों से सुधर्मा की मति जन्मान्तर सादृश्यवाद के पक्ष मे थी पर इसके विपरीत "शृगालो वै एप जायते य सपुरीषो दह्यते" इत्यादि श्रौत वाक्यों से वे जन्मान्तर के वैसादृश्य का भी निषेध नहीं कर सकते थे। इन द्विविध वचनों से विद्वान् सुधर्मा इस विषय मे सशयग्रस्त थे।

भगवान् महावीर ने उक्त वेदवाक्यों का समन्वय करके जन्मान्तर वैसादृश्य सिद्ध करने के साथ सुधर्मा की शङ्का का समाधान किया और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश सुना कर उन्हें छात्रगण सहित निर्ग्रन्थ-मार्ग की दीक्षा दी और अपना पाँचवाँ प्रधान शिष्य बनाया।

सुधर्मा ने पचास वर्ष की अवस्था मे प्रव्रज्या ली। वे बयालीस वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था मे विचरे, महावीर-निर्वाण के बारह वर्ष व्यतीत होनेपर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था मे रहे।

श्रमण भगवान् के सर्व गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे इसीलिए महावीरने सर्वप्रथम गण समर्पण सुधर्मा को किया था और अन्यान्य गणधरों ने भी अपने अपने निर्वाण-समय पर अपने गण सुधर्मा के सुपुर्द किये थे।

सतावन वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया और श्रमण भगवान् की जीवितावस्था के अन्तिम वर्ष मे गुणशील चैत्य में मासिक अनशन पूरा करके अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

(९) अचलभ्राता

अचलभ्राता कोशला निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता नन्दा और पिता वसु थे। ये तीन सौ छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव मे पावामध्यमा आये थे।

पण्डित अचलभ्राता को पुण्य-पाप के अस्तित्व में शका थी। इनका तर्क यह था कि "पुरुष एवेद ग्नि०" इत्यादि श्रुतिपदों से जब केवल पुरुष का ही अस्तित्व सिद्ध किया जाता है तब पुण्य-पाप के अस्तित्व की शक्यता ही कहाँ रहती है ? परन्तु दूसरी तरफ "पुण्य. पुण्येन०" इत्यादि वेदवाक्यों से पुण्य-पाप का अस्तित्व भी सूचित होता था। इसलिए इस विषय का वास्तविक सिद्धान्त क्या होना चाहिए, इस बात का अचलभ्राता कुछ भी निर्णय कर नहीं सके थे।

अचलभ्राता जब महावीर के समवसरण मे गये तो भगवान् महावीर ने वेदवचनों का समन्वय करके पुण्य पाप का अस्तित्व प्रमाणित कर उनकी शका का समाधान किया और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश सुनाकर उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

अचलभ्राता ने छयालीस वर्ष की अवस्था में गार्हस्थ्य का त्याग कर श्रामण्य धारण किया, बारह वर्ष तप-ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली दशा मे विचर कर बहत्तर वर्ष को अवस्था मे मासिक अनशन कर गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

(१०) मेदार्य

श्रमण भगवान् के दसवें गणधर का नाम मेदार्य था। ये वत्स-देशान्तर्गत तुगिक सनिवेश के रहनेवाले कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वरुणदेवा और पिता दत्त नामक थे। मेदार्य भी सोमिल के आमत्रण पर अपने तीन सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा गये थे।

विद्वान् मेदार्य "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय०" इत्यादि वेदवाक्यों से पुनर्जन्म के विषय में शकाशील थे, परन्तु "नित्य

ज्योतिर्मयो०" इत्यादि श्रुतिपदों से आत्मा का अस्तित्व और "शृगालो वै एष जायते" इत्यादि श्रुतियों से उसका पुनर्जन्म ध्वनित होने से इस विषय में वे कुछ भी निश्चय नहीं कर पाते थे।

श्रमण भगवान् ने मेदार्य को वेदपदों का तात्पर्य समझाने के साथ पुनर्जन्म की सत्ता प्रमाणित की और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश करके उनको निर्ग्रन्थ श्रमणपथ का पथिक बनाया।

मेदार्य ने छत्तीस वर्ष की अवस्था मे महावीर का शिष्यत्व अंगीकार किया, दस वर्ष तक तप जप ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली जीवन मे विचरे। अन्त मे भगवान् के निर्वाण से चार वर्ष पहले बासठ वर्ष की अवस्था मे उन्होने गुणशील चैत्य मे निर्वाण प्राप्त किया।

(११) प्रभास

पण्डित प्रभास कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता अतिभद्रा और पिता बल नामक थे। ये राजगृह मे रहते थे और सोमिलार्य के आमत्रण पर उनके महोत्सव मे अपने तीन सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा मे आये थे।

प्रभास को आत्मा की मुक्ति के विषय मे सदेह था। "जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्" इस श्रुति ने उनके सशय को पुष्ट किया था, परन्तु कुछ वेदपद ऐसे भी थे जो आत्मा की मुक्तदशा का सूचन करते थे। "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपर च, तत्र पर सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" इस श्रुतिवाक्य से आत्मा की बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओं का प्रतिपादन होता था। इस द्विविध वेदवाणी से प्रभास सदेहशील रहते थे कि आत्मनिर्वाण जैसी कोई चीज है भी या नहीं?

पण्डित प्रभास को सबोधन कर भगवान् महावीर ने कहा—आर्य प्रभास! तुमने श्रुतिवाक्यों को ठीक नहीं समझा। "जरामर्यं०" इत्यादि श्रुति से तुम आत्मनिर्वाण के अभाव का अनुमान करते हो, यह ठीक नहीं। यह वेद वाक्य गृहाश्रमी की जीवनचर्या का सूचक है, न कि निर्वाणाभाव का प्रतिपादक। भगवान् के स्पष्टीकरण से प्रभास का सशय दूर हो गया और निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश सुन कर वे भगवान् महावीर के शिष्य हो गये।

प्रभास ने सोलह वर्ष की अवस्था मे श्रमणधर्म को अगीकार किया। आठ वर्ष तक तप ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली दशा मे विचरे।

श्रमण भगवान् महावीर के केवली जीवन के पचीसवें वर्ष गुणशील चैत्य मे मासिक अनशनपूर्वक प्रभास ने चालीस वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

एकादशगणधर कोष्ठक

क्रमाङ्क	गणधर नाम	गोत्र नाम	गाँव नाम	गृहस्थाश्रम	छद्मस्थपर्याय	केवलिपर्याय	श्रामण्यपर्याय	सर्वायु	वीरकेवलोत्पत्ति से दि०	निर्वाण स्थान
१	इन्द्रभूति	गौतम	गोवर गाँव	५०	३०	१२	४२	९२	४२	गुणशील चैत्य
२	अग्निभूति	गौतम	गोवर गाँव	४६	१२	१६	२८	७४	२८	,, ,,
३	वायुभूति	गौतम	गोवर गाँव	४२	१०	१८	२८	७०	२८	,, ,,
४	व्यक्त	भारद्वाज	कोल्लाग	५०	१२	१८	३०	८०	३०	,, ,,
५	सुधर्मा	अग्निवैश्यायन	कोल्लाग	५०	४२	८	५०	१००	५०	,, ,,
६	मण्डिक	वासिष्ठ	मौर्य सनिवेश	५३	१४	१६	३०	८३	३०	,, ,
७	मौर्यपुत्र	काश्यप	मौर्य सनिवेश	६५	१४	१६	३०	९५	३०	,, ,,
८	अकम्पिक	गौतम	मिथिला	४८	९	२१	३०	७८	३०	,, ,,
९	अचलभ्राता	हारीत	कोशला	४६	१२	१४	२६	७२	२६	,, ,,
१०	मेतार्य	कौडिन्य	तुंगिक संनिवेश	३६	१०	१६	२६	६२	२६	,, ,,
११	प्रभास	कौडिन्य	राजगृह	१६	८	१६	२४	४०	२४	,, ,,

द्वितीय परिच्छेद

प्रवचन

१

गुरु—पहले ज्ञान प्राप्त करो, फिर बन्धन को समझ कर तोडो

शिष्य—भगवान् वीर ने किसे बन्धन कहा है और किसके ज्ञा से वह टूटता है ?

गुरु—जो सचित्त-अचित्त पदार्थ का थोड़ा भी संग्रह करता अथवा करने की आज्ञा देता है वह दु ख से कभी नहीं छूटता।

जो स्वय हिंसा करता है, दूसरों से कराता है अथवा करनेवाल को उत्तेजन देता है वह अपने लिये वैर बढाता है।

जिस कुल मे उत्पन्न हुआ अथवा जिनके साथ रहता है उनक ममता और अन्याय (प्राणियों तथा वस्तुओं) के मोह मे फँसा हुअ अज्ञानी मनुष्य अपने अस्तित्व का लोप कर देता है।

'यह धन और ये भाई, कोई किसी का रक्षक नहीं' ससार की यह स्थिति जान कर ही जीव कर्मों से छुटकारा पाता है।

कुछ श्रमण ब्राह्मण उक्त सिद्धान्तों को छोड कर काम भोगों में ही आसक्त हो रहे हैं। उनमें से कुछ कहते हैं—पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, और आकाश इन पञ्चमहाभूतों का ही वास्तविक अस्तित्व है। इन पाँच महाभूतों से एक पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जो 'देही' इस नाम से व्यवहृत होता है। परन्तु भूतों के नाश के साथ ही इस 'देही' का भी नाश हो जाता है।

कोई कहते हैं—जैसे यह पार्थिव स्तूप एक होने पर भी नानारूप दीखता है, वैसे ही यह सपूर्ण लोक 'विद्वान्' मात्र होने पर भी नानारूप दीखता है। पर ऐसा कहनेवाले मन्दबुद्धि और आरभ-रसिक हैं। इस प्रकार आत्माऽद्वैत का बहाना कर वे स्वय पाप करके कठोर दु ख को प्राप्त होते हैं।

दूसरे कोई कहते हैं—बाल और पण्डित सब की आत्मा भिन्न भिन्न है, पर वह है इसी भव तक। मरने के बाद फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि पुण्य, पाप अथवा परलोक जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। शरीर-नाश के साथ ही तद्गत शरीरी का भी नाश हो जाता है।

दूसरे कोई कहते हैं—आत्मा 'अकारक' है। वह न कुछ करती है, न कराती है।

जो लोग ऐसी बातें करते हैं उनके लिये सचमुच ही लोक नहीं है। वे यहाँ अन्धकार मे हैं और आगे इससे भी अधिक अन्धकार मे जा पड़ेंगे।

कई एक कहते हैं—ससार मे कुल छ पदार्थ हैं, पॉच तो महाभूत और छठा आत्मा। इनके मत मे आत्मा और लोक शाश्वत हैं। इनका न कभी नाश होता है, न उत्पत्ति। सब भाव सर्वथा नित्य हैं।

कई अज्ञानी केवल पञ्चस्कन्ध का हो अस्तित्व मानते हैं और वह भी क्षणिक। अन्य मतवालों की तरह इनके मत मे नित्य अथवा अनित्य किसी भी तरह की आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

कोई कहते हैं—लोक चातुर्धातुक है। वह पृथिवी, पानी, तेजस् और वायु इन चार धातुओं से बना है।

ये सब मतवादी अपने-अपने दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि गृहस्थाश्रमी हो, अरण्यवासी हो चाहे परिव्राजक, जो हमारे इस दर्शन को प्राप्त हुए हैं, वे सब दु खों से मुक्ति पायेंगे।

यथार्थ तत्त्व की खोज किये बिना जो वादी अपने-अपने समय की श्रेष्ठता बता रहे हैं वे धर्म के ज्ञाता नहीं। उनकी उन्नति नहीं हो सकती। वे ससार, गर्भ, जन्म, दु:ख और मार को नहीं जीत सकते।

ऐसे जीव इस जरा-मरण और व्याधि से पूर्ण संसारचक्र में बार-बार अनेक दुःखों का अनुभव करते हैं और अनन्त बार ऊँच नीच गतियों में गर्भावास के दुःख प्राप्त करेंगे। ऐसा ज्ञातपुत्र महावीर कहते हैं।[1]

२

किन्हीं का कथन है—जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है, यह सत्य है। वे सुख दुःख का अनुभव करते और मर कर फिर जन्म लेते हैं, यह भी सही है। परन्तु वह सुख दुःख न स्वकृत होता है न अन्यकृत। कारणिक अथवा अकारणिक किसी भी प्रकार का सुख दुःख स्वकृत अथवा अन्यकृत नहीं होता, किन्तु वह सब नियत होता है।

इस प्रकार बोलनेवाले मतवादी अपने को पंडित मानते हुए भी मूर्ख हैं। वस्तुतः नियत क्या है और अनियत क्या इसे उन्होंने समझा ही नहीं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सब कुछ नियतिवश मानते हुए भी वे दुःख से छूटने के लिये साधना करते हैं। तो क्या इस प्रकार अज्ञान कष्ट सहन करने से वे नियत दुःख से छूट सकते हैं? कभी नहीं।

जिस प्रकार बड़ी तेजी से दौड़ते हुए भयभीत मृग अशंकनीय पदार्थों पर शंका करते हैं और वास्तविक शंकास्थानों में निर्भय होकर दौड़ते हैं, अर्थात् रक्षा के उपायों को शंका से देखते हैं और फँसानेवाले पाशों का भय न रखते हुए वे अज्ञान और भय से व्याकुल होकर जहाँ तहाँ भागते हैं। यदि वे बन्धनों से बच कर निकल जायें तो पाश से बच भी सकते हैं, परन्तु अज्ञानी इसे देखते ही नहीं। उनकी आत्मा और बुद्धि अपना हित जानती ही नहीं। वे उन्हीं विषमस्थानों में पहुँचते हैं जहाँ उनको फँसाने के लिये पाश तैयार रहते हैं। परिणामतः वहाँ फँस कर वे विनाश को प्राप्त होते हैं।

उसी प्रकार कई एक मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण धर्मप्रज्ञापना जैसी बातों में तो शंका करते हैं और आरंभादि शंकनीय कामों में निश्शंक-

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १ अ० १, उद्देशक १, प० १२–२९।

तथा प्रवृत्ति करते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि लोभ, अहंकार, कपट और क्रोध का त्याग कर वे आत्मा को कर्म मुक्त नहीं कर सकते और जबतक मुक्ति का उपाय नहीं जानते तबतक भयभ्रान्त मृगों की तरह वे अनन्त समय तक मरण के दुःखों को भोगा करेंगे।

वे कहते हैं—श्रमण और ब्राह्मण सब कोई अपना अपना ज्ञान सत्य प्रमाणित करते हैं, तथापि सम्पूर्णलोक मे जो प्राणधारी हैं उनके विषय में वे कुछ नहीं जानते। जैसे आर्यभाषानभिज्ञ म्लेच्छ आर्य की बोली का अनुकरण कर सकता है, पर वह उसका तात्पर्य नहीं समझता, वैसे ही सब मतवादी अपना अपना ज्ञान कहते हैं पर म्लेच्छ की तरह वे अज्ञानी उसका निश्चयार्थ नहीं जानते। इस प्रकार सभी को अज्ञानी कहनेवाले और अपने आपको भी अज्ञानी माननेवाले अज्ञानियों को तर्क करने का अधिकार ही क्या है, क्योंकि अज्ञान से तो उनके तर्क का निर्णय होगा नहीं और ज्ञान को वे मानते नहीं। इस प्रकार जो अपने ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे समर्थ नहीं होते वे दूसरों का अनुशासन क्या करेंगे? जगल मे भूला हुआ प्राणी भूले हुए का अनुगमन करके इष्ट स्थान को नहीं पाता, किन्तु दोनों घोर कष्ट को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अज्ञानी आप भूले हुए हैं और अनुयायियों को भुलाते हैं।

जैसे स्वय अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धे को ठीक रास्ते से नहीं ले जा सकता वैसे ही अज्ञानी अपने को मोक्षाभिलाषी और धर्माराधक मानते हुए भी अपने अनुयायियों को सरल मार्ग पर न ले जाकर अधर्म के मार्ग पर चढाते हैं।

इस प्रकार कई दुर्बुद्धि मतवादी अपने-अपने तर्कवाद को निर्दोष मान कर उस पर डटे रहते हैं, पर अन्य की सेवा कर तत्त्व की खोज नहीं करते। केवल तर्क-साधना से ही धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं होता और दुःख के बन्धन नहीं टूटते। विचार ही विचार करने से पक्षी पिंजरे से नहीं छूट सकता।

अपनी-अपनी प्रशसा और दूसरों के वचन की निन्दा कर जो अपनी विद्वत्ता बताते हैं, वे ससार मे अपना भ्रमण बढ़ाते हैं।

एक और दर्शन है जो क्रियावादी दर्शन कहलाता है, पर इसके अनुयायियों में कर्म की चिन्ता नहीं है। वे कहते हैं—बुद्धि से मानसिक हिंसा करने पर भी जबतक शरीर से हिंसा नहीं होती, कोई पाप नहीं लगता। इसी तरह अज्ञानता से शरीर से हिंसा हो जाने पर भी कोई पाप नहीं। उनके मत में कर्मबन्ध तीन कारणों से होता है—विचारपूर्वक स्वय हिंसा करने से, विचारपूर्वक आज्ञा देकर अन्य से हिंसा कराने से और हिंसाकारी का विचारपूर्वक अनुमोदन करने से। कुछ भी करो, जिसका भाव विशुद्ध होगा वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा। हितबुद्धि से पिता पुत्र को मार कर उसका मॉस खा जाय अथवा भिक्षु उसका भोजन कर ले तथापि यदि उनका मन शुद्ध होगा तो पाप का लेप नहीं लगेगा। जो मन से द्वेष करते हैं उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। बिना चित्त शुद्धि के सवरभाव नहीं आता।

इस दृष्टिवाले शारीरिक सुख के उपासक हैं। वे इसी को शरण समझते हुए पाप का सेवन करते हैं। जिस प्रकार जात्यन्ध मनुष्य सच्छिद्र नाव मे बैठ कर पार होने को इच्छा करता हुआ भी बीच मे ही दु ख पाता है, उसी प्रकार कई एक मिथ्यादृष्टि श्रमण ससार से पार होनेकी इच्छा करते हुए भी ससार में ही भ्रमण करते रहते हैं[1]।

२

भक्त के द्वारा अतिथि के निमित्त बनवाया हुआ भोजन तो क्या, उसके सहस्रांश से मिश्रित भोजन करनेवाला भिक्षु भी आचार मे नहीं चलता।

भोजन के दोषों को न जाननेवाले और कर्मबन्ध के सिद्धान्तों मे अप्रवीण, ऐसे वर्तमान सुख के अभिलाषी कतिपय श्रमण उन वैशालिक मत्स्यों की तरह विनाश को प्राप्त होंगे, जो जल-प्रवाह के साथ स्थानच्युत होकर मासार्थी ढक और कक पक्षियों से दु ख पाते हैं।

एक और अज्ञान है।

कोई कहते हैं कि यह लोक 'देव' का बोया हुआ है। अन्य कहते

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उ० २, प० २९-३१।

हैं इसे 'ब्रह्मा' ने बोया है। किसी के मत से लोक ईश्वरकृत है और किसी के मत से प्रधानकृत।

कुछ मतवादी कहते हैं कि इस सचराचर लोक को 'स्वयभू' ने बनाया है और मार के माया-विस्तार के कारण वह 'अशाश्वत' है।

दूसरे ब्राह्मण-श्रमण कहते हैं—यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार ब्रह्मा के द्वारा अण्डादि क्रम से सृष्टिरचना बताते हुए वे वास्तव मे मृषाभाषण करते हैं। लोकरचना के सबन्ध मे सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाले इस तत्त्व को नहीं जानते कि 'लोक' अपने पर्यायरूप से ही 'कृत' है और उसी रूप से 'विनाशी' भी। कारण-रूप से यह न 'कृत' है, न 'विनाशी'। दु ख भी असदनुष्ठानजन्य है, न कि ईश्वरकृत। जिनको दु खोत्पत्ति का कारण ही अज्ञात है वे दु ख-मार्ग को रोकना कैसे जानेंगे ?

किन्हीं का यह भी कथन है कि 'आत्मा' स्वय 'शुद्ध' और 'निष्पाप है पर क्रीडा अथवा द्वेप के वश होकर वह कर्म-लिप्त हो जाती है, पर मुनि होकर कर्मद्वारों को रोकने से वह फिर 'निष्पाप' हो जाती है। जिस प्रकार स्थिर रहने से पानी स्वच्छ हो जाता है और हिलने-डोलने से मलिन। ठीक यही दशा आत्मा की भी है। सवरभाव से वह निर्मल होती है और रागद्वेष से समल।

बुद्धिमान् मनुष्य समझ ले कि इस प्रकार स्वमत का समर्थन करने-वाले मतवादी ब्रह्मचर्य-प्रधान सयमानुष्ठान मे प्रवृत्ति नहीं करते। यद्यपि वे सब अपने-अपने मत का समर्थन करते हुए यही कहते हैं कि हमारा मत स्वीकार करने से ही सिद्धि है, अन्यथा नहीं। हमारे अनुयायी मोक्ष प्राप्ति के पहले ही स्ववश होकर सब इष्ट सिद्धियों को प्राप्त करते हैं और अन्त में मुक्ति प्राप्त कर सर्वथा कर्मरोगों से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्धि को आगे करके अपने अभिप्रायों को पुष्ट करते हैं, पर कर्म-बन्ध के द्वारों को न रोकने से वे दीर्घकाल तक ससार के नीच स्थानों मे भ्रमण किया करेंगे[1]।

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उ० ३, प० ४१-४७।

४

जगत् की स्थूल वस्तुओं मे अवस्था परिवर्तन होता रहता है और जगत् के पदार्थ अवस्थान्तर को प्राप्त होते हैं।

'सब प्राणी दु ख से डरते हैं, इसलिये वे अहिंस्य हैं' इस अहिंसा के सिद्धान्त को जानते हुए ज्ञानी के ज्ञान का यही सार है कि वह किसी की हिंसा न करे।

आचार-मार्ग मे रहता हुआ और आसक्ति का त्याग करता हुआ भिक्षु चलने फिरने, सोने-बैठने और खाने पीने में विवेक रक्खे। इन तीनों ही बातों मे निरतर सयम रखनेवाले, गर्व, क्रोध, कपट और लोभ के त्यागी, पाँच सवरों से सवृत और गृहस्थों के मोह-पाश से दूर रहते हुए भिक्षु को मोक्ष के लिए सदा प्रवृत्त रहना चाहिये[1]।

जम्बू ने पूछा—बुद्धिमान् ब्राह्मण (महावीर) ने कौनसा धर्म कहा है ?

धर्म्य-श्रुत

सुधर्मा बोले—जिनों का जो सरल और यथातथ्य धर्म है, उसे कहता हूँ, सुनो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चण्डाल, बुक्कस, एषिक, वैशिक, शूद्र और अन्य कोई भी जीव जो आरभ और परिग्रह मे मग्न हैं वे वैर बढा रहे हैं। उनकी इच्छायें आरभपूर्ण होनेसे वे दु ख से छुटकारा नहीं पाते।

परिग्रहधारी के मरते ही उसके विषयाभिलाषी ज्ञातिजन मरण कृत्य करने के अनन्तर उसका धन कब्जे मे कर लेते हैं और कर्मों का फल कमानेवाला भोगता है।

अपने कर्मों से मरते हुए की रक्षा के लिए माता, पिता, भाई, स्त्री और सगे भाई कोई समर्थ नहीं, इस परमार्थ को जानता हुआ भिक्षु धन, पुत्र, ज्ञातिजन और परिग्रह आदि का त्याग कर निरहकार और निरपेक्षभाव से जिनकथित धर्ममार्ग का आचरण करता हुआ विचरे।

पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, घास, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति और अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज तथा उद्भिज्ज आदि त्रस, इन

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उ० ४, ५० ४७–५१।

छ' जीवनिकायों का ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् भिक्षु मन, वचन और काय से इनके आरभ और परिग्रह का त्याग करे।

असत्य वचन, अयाचित स्थान और स्त्री-सेवा ये लोक मे कर्म-बन्ध के कारण हैं, यह जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

कपट, लोभ, क्रोध और अहकार को कर्म बन्ध का हेतु जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

सुगन्ध, पुष्पमाला, स्नान, दातुन, परिग्रह और स्त्री सम्रहादि कार्मो का भिक्षु त्याग करे।

भिक्षु के उद्देश से बनाये गए, खरीदे गए, माँगकर लाये गए और स्थानान्तर से सामने लाये गए आहारादि को दूषित और अकल्पनीय समझ कर भिक्षु उनका त्याग करे।

पौष्टिक रसायन, नेत्राञ्जन, रसलोलुपता, परोपघातक स्नान विलेपनादि को कर्म-बन्ध का कारण जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

असयतों के साथ पर्यालोचना, उनके कामों की प्रशसा, ज्योतिष-निमित्त सबन्धी प्रश्नों के उत्तर और गृहस्वामी के यहाँ भोजन इत्यादि का विद्वान् भिक्षु त्याग करे।

भिक्षु जुआ खेलना न सीखे, धर्म विरुद्ध वचन न बोले, किसी के साथ मारा-मारी अथवा विवाद न करे।

जूता, छाता, पखा, नालिका और अन्योन्य क्रिया इन सबका भिक्षु त्याग करे।

मुनि हरी घास पर मल मूत्र न करे और न वहाँ जलशौच करे।

भिक्षु भूखा रहे पर गृहस्थ के पात्र मे भोजन न करे। नग्न फिरे पर गृहस्थ का वेष कभी न पहने।

विद्वान् भिक्षु चारपाई अथवा पलग पर न बैठे, गृहस्थ के घर मे आसन न लगावे और उनके कामों की पूछताछ कर पूर्वावस्था का स्मरण न करे।

विद्वान् भिक्षु यश, कीर्ति, प्रशसा, वन्दन, पूजन और विषयसुख की कभी इच्छा न करे।

जितने से अपना निर्वाह हो सके भिक्षु उतना ही आहार-पानी ग्रहण करे अथवा दूसरे भिक्षुओं को दान करे, अधिक नहीं।

यह सब निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने कहा है। उन्हीं अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी भगवान् ने इस धर्म और ज्ञान का उपदेश किया है।

भिक्षु को बातें करते हुए दो आदमियों के बीच मे नहीं बोलना चाहिये और न उसे कपट वचन ही कहना चाहिये। वह जो भी बोले विचारपूर्वक बोले। चार भाषाओं में तीसरी (सत्यामृषा) वह भाषा है जिसे बोल कर बोलनेवाले पीछे पश्चात्ताप करते हैं।

'जो गुप्त है उसे कभी प्रकाश मे मत बोलो' निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की यही आज्ञा है।

होला! सखे! वासिष्ठि! इत्यादि स्नेहसूचक सबोधनों से और 'तू' 'तुम' इत्यादि तिरस्कारसूचक वचनों से भिक्षु किसी को न बुलाये।

भिक्षु को सदा सुशील रहना चाहिये और कुशीलों की तरफ से होनेवाली प्रलोभक बुराइयों को जानते हुए उसे उनका सग तक न करना चाहिये।

बिना कारण मुनि गृहस्थ के घर मे न बैठे, बच्चों के खेल न खेले, अधिक न हँसे और सासारिक सुख की उत्कण्ठा न करे, किन्तु यतना पूर्वक श्रमणधर्म का आराधन करता हुआ अप्रमादी होकर विचरे।

सयम निर्वाह के लिए विचरता हुआ अनगार आनेवाले कष्टों को सहन करे, मार पड़ने और आक्रोश सुनने पर भी क्रोध और कोलाहल न करे। कष्टों को शान्तचित्त से सहन करने और इन्द्रिय-सुख की चाहना न करने का नाम ही 'विवेक' है।

भिक्षु को नित्य आचार्य के पास रह कर आर्य वचनों का अभ्यास करना चाहिये। इसकी प्राप्ति के लिए उसे बुद्धिमान् गीतार्थ की सेवा करनी चाहिये।

जो धीर, वीर, जितेन्द्रिय और आत्मगवेषी हैं, जो घर मे प्रकाश और ससारतरण का उपाय न देखकर श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, जो शब्द, स्पर्शादि विषयों मे आसक्त नहीं हैं और जो आरंभ-त्यागी तथा जीवित से निरपेक्ष हैं वे अवश्य ही बन्धन से मुक्त होते हैं। —

ऊपर जो विस्तृत रूप से हेय-उपादेय का निरूपण किया है उसका सार यही है कि मान, माया और सर्व प्रकार की सुखशीलताओं को छोड़ कर विद्वान् मुनि निर्वाण का अनुसन्धान करे[1]।

जिनका वादी लोग नाना प्रकार से वर्णन करते हैं ऐसी दर्शनों की मूल शाखाएँ चार हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद।

दार्शनिकों की मूलशाखाएँ

कुशल भी अज्ञानी अपने मत का समन्वय नहीं कर सकते और न वे अपनी शकाओं को निवृत्ति ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके गुरु भी तो अज्ञानी होते हैं। वे अपने शिष्यों को अज्ञान के सिवा और बता ही क्या सकते हैं? वास्तव में बिना विचारे बोल कर अज्ञानी मृषावाद का पोषण करते हैं।

सत्य को असत्य समझते और बुरे को भला कहते हुए विनयवादी सर्वत्र विनय का ही समर्थन करते हैं। यथार्थज्ञानी न होते हुए भी वे कहते हैं कि हमारे मत में विनय ही मुक्ति का कारण है।

कर्मों से न डरनेवाले अक्रियावादी क्रियाओं का अस्तित्व ही नहीं मानते। पर जब वे अपने ही वचनों से मिश्रभाव को प्राप्त होते हुए पकडे जाते हैं तो प्रत्युत्तर न देते हुए गूँगे हो जाते हैं अथवा 'हमारे मत मे कोई विरोध नहीं' ऐसा कह कर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं।

परमार्थ को न समझते हुए अक्रियावादी ऐसी ऐसी विपरीत बातें कहते हैं जिन्हें अगीकार करके अनेक मनुष्य ससार-भ्रमण करते हैं। वे कहते हैं—न सूर्य उदय अस्त होता है, न चन्द्रमा बढता-घटता है, न जल बहता है और न वायु चलती है। यह सपूर्ण लोक केवल शून्य मात्र है। जैसे अन्धा नेत्र न होने से प्रकाश मे भी रूप नहीं देख सकता वैसे ही कुण्ठितबुद्धि अक्रियावादी लोग प्रत्यक्ष पदार्थ—क्रिया को भी नहीं देखते।

अनेक बुद्धिमान् मनुष्य ज्योतिष, स्वप्न, लक्षण, निमित्त, उत्पात और अगविद्या प्रभृति अष्टांग निमित्त का अभ्यास करके भी ससार में

१—सूत्रकृताग श्रु० १, अध्याय ९, प० १७७–१९९।

ावाले भावों को जान लेते हैं। हाँ, उनमे से किसी का यह ज्ञान
त्र का रहस्य न जानने के कारण असत्य भी निकल सकता है, पर
से विद्या का ही त्याग करना और पदार्थमात्र का निषेध कर
। ठीक नहीं।

जो यथार्थवेदी श्रमण ब्राह्मण क्रियावादी हैं, वे लोगों के सामने यह
देश करते हैं—ससार में जो दु ख है वह अपनी ही करनी का फल
सज्ज्ञान और सचारित्र से इस दु ख से मुक्ति हो सकती है।
ार्थवेदी उपदेशक ही लोकचक्षु और लोकनायक हैं और वे ही
ा को हितमार्ग का उपदेश कर सकते हैं। ऐसे हितोपदेशकों से ही
ाव समाज को इस ससार की अशाश्वतता का बोध हो सकता है।

इस ससार मे राक्षस, भूत, देव, गन्धर्व, आकाशगत और
ावीगत जो कोई देहधारी हैं वे सब विनश्वर हैं, कोई अमर नहीं।

जिसे अगाध और अपार जल कहते हैं वही दुर्मोच्य गहन ससार
जेसमे डूबे हुए विषयाभिलाषी प्राणी यहाँ मारे-मारे फिरते हैं और
लोक मे दुर्गतियों की पीडाओं का अनुभव करेंगे।

अज्ञानी निरन्तर प्रवृत्ति करते हुए भी कर्मों को नहीं तोड सकते
र जो ज्ञानी तथा धीर हैं वे ही निवृत्ति के मार्ग में रहते हुए भी
ों का क्षय कर देते हैं और लोभ तथा अहकार से दूर रह कर नये
। कर्मों से बचते हैं।

वे ज्ञानावरणीयादि कर्मों को तोड कर त्रिकालज्ञानी हो लोकवर्ती
पदार्थों को जानते, मोक्षार्थियों के नायक बनते और स्वयबुद्ध हो
कर्मों का नाश करते हैं। वे स्वय ऐसा कोई कार्य नहीं करते
र न अन्य से कराते हैं जिसमे प्राणी हिंसा की शका भी हो। वे
द्रियों को वश मे रखते हुए आत्म साधना मे निरन्तर लगे रहते हैं
र धीर हो कर ज्ञानमार्ग में विचरते हैं।

ज्ञानी सूक्ष्म बादर सभी देहधारियों को आत्मतुल्य मानते हैं और
महान् लोक को जीवाकीर्ण जानते हुए अप्रमादी हो कर विचरते हैं।

जो स्वय अथवा दूसरों के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अपना
र दूसरे का भला करने मे समर्थ होते हैं। जो विचारपूर्वक धर्म

को प्रकट करना चाहे वह ऐसे ज्योतिर्धरों के पास सदा निवास करे।

जो आत्मा और लोक को जानता है, जो जीवों की गति-आगति को जानता है, जो शाश्वत अशाश्वत को जानता है, जो जन्म-मरण को जानता है, जो उत्पत्ति-पुनर्जन्म को जानता है और जो आस्रव-संवर-दुःख-निर्जरा को जानता है वही क्रियावाद का उपदेश करने का अधिकारी है।

क्रियावादी न मनोहर शब्द-रूपादि इन्द्रियार्थों मे आसक्त हो, न बुरे गन्ध-रसादि विषयों का द्वेष करे, न जीवित की इच्छा करे और न मरण की। सर्वभावों मे समदृष्टिवाला हो कर्मों से बचता हुआ निष्कपट बन कर विचरे[1]।

आयुष्मान् भगवान् के श्रीमुख से पुण्डरीक का दृष्टान्त इस प्रकार मैंने सुना है—एक जल और दलदल से परिपूर्ण बड़ी सुन्दर झील है। उसमें जगह जगह पुण्डरीक उगे हुए हैं। उन सब के बीच झील के मध्यभाग में एक बहुत बड़ा पुण्डरीक है जिसके पुष्पों की सुगन्ध और सौन्दर्य अद्वितीय है।

पुण्डरीक-दृष्टान्त

पूर्व दिशा से एक पुरुष झील के पास आया और तट पर खड़ा हो उस पुण्डरीक को देख कर बोला—"मैं कुशल और उद्योगी पुरुष हूँ। मैं मार्ग-गमनशक्ति का जाननेवाला हूँ। मैं अभी इस पुण्डरीक को उखाड डालूँगा।" वह झील में उतर कर आगे बढने लगा। ज्यों ज्यों वह आगे चला त्यों-यों जल और दलदल मे फँसता गया। आखिर ऐसे गहरे पानी और कीचड़ मे फँसा कि न वह पुण्डरीक तक पहुँचा और न लौट कर किनारे ही आने पाया।

दक्षिण दिशा से एक दूसरा पुरुष उस झील के किनारे आया और पुण्डरीक की तरफ देख कर बोला—"यह पुरुष कुशल और परिश्रमी नहीं। यह अज्ञानी मार्ग से अनभिज्ञ होने से फँस गया। पर मैं वैसा नहीं। मैं पुरुष हूँ। मुझे इसका मार्ग मालूम है। अभी मैं इस पुण्डरीक को उखाड़ डालूँगा।" वह झील के भीतर उतरा और पुण्डरीक को

---

1 सूत्रकृताङ्ग अध्ययन १२, पृ० २११–२२४।

उखाड़ने चला, पर पहले पुरुष की ही तरह वह भी गहरे जल और दलदल में फँस गया। न वह कमल तक पहुँचा, न वापस लौट कर किनारे पर ही आया।

पश्चिम दिशा से एक तीसरा पुरुष झील के निकट आया और तट पर चढ़कर पुण्डरीक तथा फँसे हुए पुरुषों की तरफ दृष्टि करके बोला—"अफसोस! ये दोनों ही पुरुष अज्ञानी निकले। न इन्हें मार्ग का ज्ञान है, न उद्यम करना ही जानते हैं। जिस प्रकार ये पुण्डरीक को उखाड़ना चाहते हैं, उस तरह वह नहीं उखाड़ा जाता। मैं बुद्धिमान् और प्रतिभा-सपन्न हूँ। अभी जाकर इसे उखाड़े देता हूँ।" वह जल के भीतर उतरा और पहले दो पुरुषों की ही तरह गहरे जल में पहुँचने पर दलदल में फँस गया। न वह कमल तक पहुँचा और न लौट कर किनारे पर ही आ सका।

उत्तर दिशा से एक चौथा पुरुष आया और झील के किनारे खड़ा होकर पुण्डरीक तथा दलदल में फँसे हुए तीनों पुरुषों की तरफ देखकर बोला—"आश्चर्य! ये तीनों पुरुष अज्ञानी और निर्बल निकले जो पुण्डरीक को उखाड़ते हुए स्वय फँस गये। जिस रीति से इन्होंने पुण्डरीक उखाड़ना चाहा वह रीति ठीक नहीं। मैं इस विषय की यथार्थ जानकारी रखता हूँ। मैं मार्ग और गति पराक्रम का जाननेवाला हूँ। मैं अभी जाकर इसे उखाड़ डालूँगा।" वह जल में उतर कर पुण्डरीक की तरफ चला, पर पहले तीन पुरुषों की ही तरह पुण्डरीक और किनारे के बीच ही फँस गया।

तब किसी अनियत दिशा से एक वीतराग और (ससार को) पार करने की इच्छावाला भिक्षु आया वह झील के तट पर आकर खड़ा हुआ और पुण्डरीक तथा दलदल में फँसे हुए उन चारों ही पुरुषों को लक्ष्य करके बोला—"अफसोस! अपनी शक्ति और गतिविधि को न जानते हुए ये पुरुष पुण्डरीक को उखाड़ने चले परन्तु स्वय ही फँस गये। जो तरीका इन्होंने पुण्डरीक उखाड़ने के काम में लाया वह ठीक नहीं था। इस प्रकार कमल नहीं उखाड़े जाते। इसका ठीक उपाय मैं जानता हूँ और अभी इसे उखाड़े देता हूँ।" यह कहते हुए उसने वहीं से

आवाज दी—"उड़ जा पुण्डरीक उड़ जा" और पुण्डरीक उड़ गया।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो ! यही पुण्डरीक का दृष्टान्त है। इसका अर्थ समझने योग्य है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों और श्रमणियों ने श्रमण भगवान् को वन्दन करके कहा—आयुष्मान् ने दृष्टान्त तो कहा पर हम इसका अर्थ नहीं जानते।

श्रमण श्रमणिओं को श्रमण भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो ! अब उस दृष्टान्त का अर्थ कहता हूँ, सुनो।

यह मनुष्यलोक एक बड़ी झील है। जीवों के शुभाशुभ कर्म इसमें जल है। काम-भोग इसमें दलदल है। मनुष्य समाज इसमें पुण्डरीक समुदाय है। चक्रवर्ती इसमे महापुण्डरीक है। अन्यतीर्थिक चार पुरुषजात हैं। धर्म भिक्षु है। धर्मतीर्थ झील का किनारा है। धर्मकथा भिक्षु की आवाज है और निर्वाण वहाँ से उड़ना है।

आयुष्मन् श्रमणो ! दृष्टान्त का सारांश कह दिया। अब इसे स्पष्ट करके समझाऊँगा।

इस लोक मे कई मनुष्य पूर्व मे उत्पन्न होते हैं, कई पश्चिम मे। कई उत्तर मे जन्म लेते हैं और कई दक्षिण में। इनमें कई आर्य होते हैं, कई अनार्य। कई उच्च गोत्र के होते हैं, कई नीच गोत्र के। कई विशालकाय होते हैं, कई वामन। कई सुवर्ण होते हैं, कई दुर्वर्ण। कई सुरूप होते हैं और कई कुरूप।

उन मनुष्यों का एक मूर्धाभिषिक्त राजा होता है जो सत्त्वगुण से हिमवन्त, मेरु और महेन्द्र पर्वत की उपमा पाता है। विशुद्ध राजकुलीन और राजलक्षणोपेत होने से वह जनपूजित होता है और देश का पिता कहलाता है।

उस राजा की राजसभा के ये सभासद होते हैं—उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञात, ज्ञातपुत्र, कौरव्य, कौरव्य-पुत्र, भट्ट, भट्टपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवि, लिच्छविपुत्र, प्रशास्ता, प्रशास्तापुत्र, सेनापति और सेनापतिपुत्र।

इनमें कोई श्रद्धावान् है, यह जानकर कुछ श्रमण ब्राह्मण उसे धर्मोपदेश करने का निश्चय करते हैं और उसके पास जाकर कहते हैं—

"हम अमुक धर्म का उपदेश करेंगे, आप सुनिये। यह धर्म कैसा अच्छा है, यह सुनने से मालूम होगा।" यह कह कर उनमें से पहला पुरुष-जात कहता है—

"पादतल से लेकर सिर के बालों से नीचे तक और इर्द गिर्द त्वचापर्यन्त जो देह है वही जीव है, वही सपूर्ण आत्मपर्याय है। यह जबतक प्राणधारी है, जीता है, और मरने पर नहीं जीता। जबतक शरीर है तबतक जीव। शरीर का नाश होने पर जीव भी नहीं रहता। शरीर के जलने पर कपोतवर्ण अस्थियाँ रह जाती हैं। चार पुरुष और पाँचवीं माँची (अरथी)—ये ही वापस गाँव मे आते हैं।

"जीव अन्य है और शरीर अन्य, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेवाले स्वय भी यह नहीं जानते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व? आकार में वह परिमण्डलाकार है, गोल है, त्रिकोण है, चतुष्कोण है, षट्कोण है या अष्टकोण? रग मे वह कृष्ण है, नील है, रक्त है, पीत है या श्वेत? गन्ध में वह सुरभिगन्धी है या दुरभिगन्धी? रस मे वह तीक्ष्ण है, कटु है, कषाय है, अमृत है या मधुर? स्पर्श मे वह कर्कश है, कोमल है, गुरु है, लघु है, शीतल है, उष्ण है, स्निग्ध है या रूक्ष?

"शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे तलवार म्यान से निकाल कर बताई जाती है वैसे आत्मा को शरीर से पृथक् करके दिखानेवाला कोई नहीं है। जैसे मुज और उसके रेशे पृथक् पृथक् बताये जा सकते हैं वैसे आत्मा और शरीर को जुदा जुदा नहीं दिखाया जा सकता कि 'यह' आत्मा है और 'वह' शरीर। इसी प्रकार मास से हड्डी, करतल से आमलक, दही से मक्खन, तिलों से तैल, ईख से मीठा रस और अरणिकाष्ठ से, अग्नि पृथक् कर बताया जा सकता है वैसे आत्मा को शरीर से जुदा करके कोई नहीं बता सकता।

"इसलिये जिनके मत मे आत्मा-असत् और अज्ञेय है उन्हीं का कथन यथार्थ है।"

इस प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी आत्मा का अस्तित्व न मान कर स्वय हिंसा करते हैं और दूसरों को वैसा करने का उपदेश देते हैं।

उनके मत मे शरीर के अतिरिक्त आत्मा नहीं और परलोक भी नहीं। वे क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, भला, बुरा, सिद्धि, असिद्धि, नरक और भवान्तर कुछ भी नहीं मानते। खान-पान तथा सुख-भोगों के निमित्त नाना प्रकार के हिंसक कर्म करते हैं।

कोई कोई प्रव्रजित भी साहस कर इसका उपदेश करते हैं जिसे सुनकर श्रद्धा करनेवाले कहते हैं—'अच्छा कहा श्रमण ! अच्छा कहा ब्राह्मण ! हम तुम्हारी पूजा करते हैं।' यह कहकर वे खान, पान, वस्त्र, पात्र, कम्बलादि का दान करते हैं, जिसका वे स्वीकार करते हैं। पहले जब वे घर छोड़ते हैं तब यह विचार करते हैं कि हम श्रमण अनगार होंगे, धन, पुत्र, पशु आदि कुछ भी परिग्रह न रक्खेंगे, परदत्त भोजन करेंगे और कुछ भी पाप कर्म नहीं करेंगे, पर तज्जीव-तच्छरीरवादी होने के बाद वे किसी नियम से बँधे नहीं रहते। वे स्वय परिग्रहादि ग्रहण करते तथा कराने लगते हैं और सुख-भोगों मे लीन हो जाते हैं।

राग द्वेष के वश मे पडे हुए वे न अपना ही उद्धार करते हैं, न दूसरों का। ससार में छोटे बड़े किसी भी प्राणी का उनसे उद्धार नहीं होता। घर, कुटुम्ब को त्याग कर भी वे आर्य-मार्ग को न पाकर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

दूसरा पुरुषजात पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है। इस मत के श्रमण-ब्राह्मण भी पूर्वोक्त राजा अथवा उसके सभासदों मे जो श्रद्धावान् होते हैं उनके पास धर्मोपदेश देने जाते हैं और कहते हैं—

"महानुभावो ! हम जिस धर्म का उपदेश करेंगे वह उपपन्न और व्यवस्थित है। लोक मे पञ्चमहाभूत ही सब कुछ हैं। हमारे मत मे भूतों के अतिरिक्त न क्रिया है न अक्रिया, न सुकृत है न दुष्कृत, न पुण्य है न पाप, न भला है न बुरा, न सिद्धि है न असिद्धि, न नरक है और न दूसरी गति। भूतों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

"वे भूत पृथक् पृथक् नामों से पुकारे जाते हैं जैसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश। इन पाँच महाभूतों को न किसी ने बनाया न बनवाया, न किया न कराया। वे अनादि अनन्त हैं। इनका कोई प्रवर्तक भी नहीं। ये स्वतन्त्र और शाश्वत हैं।

"किन्हीं का कहना है कि इन पाँच भूतों के उपरान्त छठी आत्मा है। इस मत मे सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु पाञ्चमहाभूतिक मत मे यही जीवकाय, यही अस्तिकाय और यही लोक है, जो प्रत्यक्ष है। और इन सब का कारण महाभूत है।"

इनके मत में खरीदता खरीदवाता, मारता मरवाता, पकाता और पकवाता हुआ भी निर्दोष है। यहाँ तक कि पुरुष को खरीद कर कोई मरवा डाले तब भी दोष नहीं।

पाञ्चमहाभूतिक क्रिया अक्रिया आदि कुछ भी नहीं मानते। विविध प्रकार के विषय-भोग करते हैं। स्वय विपरीत मार्ग पर चढे हैं और श्रद्धालुओं को चढाते हैं। राग द्वेष के वश पड़े हुए ये न अपना उद्धार कर सकते हैं, न दूसरों का। आर्य मार्ग से बहिर्भूत ये न इधर के रहे न उधर के।

तीसरा पुरुषजात 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है। इस मत के श्रमण-ब्राह्मण राजा तथा उसके सभासद आदि श्रद्धावानों के पास जाकर कहते हैं—

"इस लोक में धर्मों का आदि तथा उत्तर कारण पुरुष है, क्योंकि सब धर्म पुरुषप्रणीत, पुरुष से ही व्याप्त होकर रहते हैं। जैसे शरीर मे उत्पन्न और बढ़ा हुआ गड शरीर से मिला रहता है, वैसे ही सब धर्म पुरुषादिक[1] हैं और पुरुष मे ही व्याप्त होकर रहते हैं। जैसे अरति शरीर मे उत्पन्न होती है और बढ कर शरीर में रहती है, वैसे ही धर्म पुरुषादिक हैं और पुरुष को व्याप्त होकर ही रहते हैं। जैसे वल्मीक, वृक्ष और पुष्करिणी पृथिवी में उत्पन्न और बढ़े हुए पृथिवी में ही रहते है, वैसे धर्म भी पुरुषादिक हैं और पुरुष में ही रहते हैं। जैसे जलसमूह और जलबुद्बुद जल मे उत्पन्न होते और जल मे ही रहते हैं, वैसे ही धर्म भी पुरुषादिक हैं और पुरुष मे ही रहते हैं।

"यह जो श्रमण-निर्ग्रन्थों के निमित्त बना हुआ आचाराङ्ग-सूत्रकृताङ्गादि से लेकर दृष्टिवादपर्यन्त द्वादशाङ्ग गणिपिटक है, वह सब

---

१ पुरुष है आदि—मूलकारण जिनका।

मिथ्या है। उसमें कुछ भी सत्यता और यथार्थता नहीं। हम जो कहते हैं, वही ठीक है।"

जिस तरह पक्षी पिंजरे से दूर नहीं जा सकता, उसी तरह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे दु ख से दूर नहीं होते, क्योंकि इनके मत मे क्रिया-अक्रिया, सिद्धि असिद्धि, स्वर्ग नरक सब कुछ ईश्वर के हाथ है। मनुष्य किसी कार्य मे स्वतन्त्र नहीं। सर्वत्र ईश्वर को ही कारण बताते हुए वे तरह तरह के आरभ-समारभ करके वैषयिक सुखों की साधना करते हैं। इस प्रकार वे स्वय भूले हैं और दूसरों को भुलाते हैं। वे न अपना उद्धार कर सकते हैं, न पराया। आर्य-मार्ग को न पाकर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

चौथा पुरुषजात 'नियतिवादी' कहलाता है। नियतिवादी श्रमण-ब्राह्मण भी जिज्ञासुओं को धर्मोपदेश देने जाते हैं और कहते हैं कि जिस धर्म की हम प्रज्ञापना करेंगे वही यथार्थ है। वे कहते हैं—

"पुरुष दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो क्रिया का उपदेश करते हैं और दूसरे वे जो अक्रिया का कथन करते हैं। हमारे मत से ये दोनों ही नियतिवश होने से बराबर हैं। कुछ भी निमित्त मिलने पर अज्ञानी पुरुष कहता है कि मैं दु खी हूँ, मैं शोकाकुल, निर्बल और पीड़ित हूँ। मैं सताया जाता हूँ और झुरता हूँ। यह सब दु ख मेरा ही किया हुआ है। वह जीव दु ख, शोक और सताप आदि का अनुभव करता है वह उसको करनी का फल है। पर बुद्धिमान् ऐसा नहीं समझता। निमित्त पाकर वह कहता है कि मैं दु खी हूँ, मैं चिन्तित हूँ, अथवा वह दु खी और पीडित है। पर वह यह नहीं कहता कि यह दु ख मेरा और उसका किया हुआ है।

"इस पृथिवी पर जो त्रस-स्थावर प्राणी भिन्न भिन्न शरीर, भिन्न-भिन्न अवस्था, भिन्न भिन्न विवेक और भिन्न भिन्न विधान के प्राप्त होते हैं वह सब नियति के ही बल से।"

नियतिवादी क्रिया-अक्रिया, सिद्धि असिद्धि, नरक स्वर्ग सर्वत्र नियति का ही प्राधान्य समझते हैं और नाना प्रकार के काम-भोगों के लिए नाना प्रकार के कर्मारम्भ करते हैं। इस प्रकार नियतिवादी आर्य-मार्ग

को न पाकर कामभोगों मे फँस कर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

इस प्रकार नाना बुद्धि, नाना रुचि, नाना अभिप्राय, नाना अनुष्ठान, नाना दृष्टि, नाना आरम्भ और नाना अध्यवसायवाले उक्त चार पुरुष-जात गृह कुटुम्ब को छोड़ कर भी आर्य-मार्ग को न पाकर कामभोगों मे फँसे हुए न इधर के रहते हैं, न उधर के।

अब पुण्डरीक के उद्धारक भिक्षु के विषय मे सुनिए।

प्राच्य, पाश्चिमात्य आदि अनेक मनुष्य होते हैं। उनमे आर्य अनार्य, सुरूप कुरूप, भले-बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें कई जमीन-जागीरवाले होते हैं और कई छोटे बड़े देशों के अधिकारी होते हैं। वे अन्यान्य पदार्थों पर ममता करते हैं और कहते हैं—'मेरा खेत, मेरा रूपा, मेरा सोना, मेरा धन, मेरा धान्य, मेरा बर्तन, मेरा वस्त्र, मेरा मणि, मेरा मोती रत्नादिक सारा धन और मेरे शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श। ये सब काम-भोग मेरे हैं और मैं इनका।'

परन्तु समझदार के शरीर मे कोई दुःख अथवा भयकर रोगातङ्क उत्पन्न होता है तो वह कहता है—'हे कामभोगो! मेरे इस दुःख को तुम अपने ऊपर ले लोगे? मैं दुःखी, शोकाकुल, चिन्तित और पीड़ित हूँ। तुम मुझे इस दुःख से छुड़ाओगे?' और वह सोचता है कि यह बात कभी नहीं हुई कि ससार मे कामभोग किसी की रक्षा कर सकें। एक दिन या तो पुरुष कामभोगों को छोड़ेगा अथवा कामभोग पुरुष को। कामभोगों मे और आत्मा मे वास्तविक सबन्ध ही नहीं, फिर हम क्यों विभिन्न कामभोगों मे लुब्ध होते हैं? हम इनको छोड़ेंगे, क्योंकि बुद्धिमान् के लिए ये सब बाह्य हैं।

किसी की यह समझ हो कि कामभोग भले ही बाह्य हों पर माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, दास और स्वजन परिजनादि ज्ञातिजन तो निकटवर्ती होने से मेरे है और मैं इनका। बुद्धिमान् यह सोचता है कि हे ज्ञातियो! यदि मुझ पर कोई दुःख अथवा भयकर रोगातङ्क आ पड़ेगा तो तुम मेरे उस दुःख को उठा लोगे? मैं दुःखी, शोकार्त अथवा चिन्तित होऊँगा, तब तुम मुझे उससे छुड़ाओगे? मैं समझता हूँ कि ऐसी बात कभी नहीं हुई। मेरे इन पूज्य ज्ञातिजनों पर किसी

प्रकार का कष्ट आ पड़ेगा तो मैं भी उसको अपने ऊपर लेने में असमर्थ हूँ। मुझे उस समय यही ख्याल आयेगा कि मैं दुःखी, शोकार्त और चिन्तित न होऊँ। इस प्रकार मैं उनके दुःख का उद्धार नहीं कर सकता। यह बात कभी हुई ही नहीं कि एक का दुःख दूसरा ले ले अथवा एक का किया हुआ कर्म दूसरा भोगे। यहाँ प्रत्येक जीव अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। वह अकेला च्यवता है और अकेला ही उपन्न होता है। कषाय, संज्ञा, विचार, ज्ञान और अनुभव ये सब प्रत्येक के भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए ज्ञातिसंयोग किसीका शरण और त्राण नहीं हो सकते। या तो पुरुष ज्ञातिसंयोगों को छोड़कर पहले जायगा अथवा तो ज्ञातिसंयोग पुरुष को छोड़ेंगे। इसलिये मैं क्यों इन विभिन्न ज्ञातिसंयोगों मे मोह रक्खूँ? मैं इनको छोड़ूँगा। बुद्धिमान् के लिये ये सब बाह्य हैं।

और तो और, हाथ, पाँव, बाहु, जाँघ, पेट, मस्तक, शील, आयुष्य, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्श प्रमुख अतिनिकटवर्ती अवयव, जिनकी मैं ममता करता हूँ, प्रतिक्षण जीर्ण होते हैं। शरीर की सन्धियाँ शिथिल पड़ती हैं। शरीर पर झुर्रियाँ पड़ती हैं। काले बाल सफेद हो जाते हैं और यह सुन्दर शरीर धीरे धीरे त्यागने योग्य हो जाता है। यह जानकर भिक्षाचर्या के लिये उद्यत हुए भिक्षु को इस लोक में जीव, अजीव, त्रस और स्थावर को अवश्य जानना चाहिए।

संसार में गृहस्थ आरंभ-परिग्रहवाले होते हैं, पर कतिपय श्रमण-ब्राह्मण भी आरंभ-परिग्रहधारी होते हैं। वे त्रस स्थावर प्राणियों का आरंभ करते कराते हैं। वे सचित्त अचित्तादि कामभोगों का स्वीकार करते कराते हैं और इन कामों को वे उत्तेजन देते हैं। मैं अनारंभ और अपरिग्रह हूँ। हम इन्हींके आश्रय से ब्रह्मचर्य—श्रमणधर्म का पालन करेंगे, क्योंकि ये तो जैसे पहले थे वैसे ही अब भी हैं। प्रकट है कि ये कर्मबन्ध से नहीं हटे और संयम-मार्ग मे उपस्थित नहीं हुए। इनकी वही दशा है जो पहले थी। ये आरंभ परिग्रह में मग्न हुए पाप कर रहे हैं। यह जानकर भिक्षु दोनों तरफ से अलिप्त होकर विचरे। इस प्रकार वह कर्मों को जान और रोककर उनका नाश कर सकेगा।

कर्मबन्ध के विषय में भगवान् ने इन षड्जीवनिकायों को हेतु कहा है—पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

जैसे मुझे दड, हड्डी, मुक्के, ढेले अथवा कर्पर से दबाने, मारने, धमकाने, ताड़ने से और परिताप तथा उपद्रव करने से दुःख होता है, यहाँ तक कि शरीर का एक भी रोम नोचने से मैं अत्यन्त दुःख और भय का अनुभव करता हूँ, वैसे ही सर्वजीव, सर्वभूत, सर्वप्राण और सर्वसत्त्वों को दण्ड आदि से ताड़न तर्जनादि करने से दुःख होता है। एक भी रोम नोचने से उन्हें अत्यन्त दुःख और भय का अनुभव होता है। इसलिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सभी अर्हन्त भगवान् यह कथन, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं कि किसी जीव, भूत, प्राण और सत्त्व को न मारो, न दुःख दो, न पकड़ो, न सताओ और न प्राणमुक्त ही करो। यही ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म है, जो लोक में आकर जगत् की पीड़ा जाननेवाले तीर्थंकरों ने कहा है। अतएव प्राणि हिंसा, असत्यवचन, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का त्यागी भिक्षु दातुन, अंजन, वमन, विरेचन, धूप और धूमपानादि न करे। इस प्रकार वह अक्रिय तथा अहिंसक हो क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शान्ति में रहता हुआ देखे, सुने, माने अथवा जाने हुए किसी भी तरह के सुख की प्रार्थना न करे। वह कभी ऐसा विचार न करे कि मैं जो यहाँ सदाचरण, तप, नियम और ब्रह्म चर्य में रहता हूँ और धर्म का आराधन करता हूँ इसके फलस्वरूप मुझे देवगति प्राप्त हो या यहीं पर सिद्धियाँ प्राप्त हों, अथवा मैं सुखी ही होऊँ, दुःखी न होऊँ।

जो शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श मे आसक्त नहीं होता तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, कलह, पैशुन्य, परनिन्दा, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन शल्य से दूर रहता है वह महाकर्म-बन्ध से बचा हुआ और हिंसादि पापों से विराम पाया हुआ भिक्षु है।

जो त्रस-स्थावर प्राणधारियों का आरंभ स्वयं नहीं करता, दूसरों

से नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता वह महाकर्मादान से बचा और पापस्थान से विराम पाया हुआ भिक्षु है।

जो सांपरायिक क्रिया स्वय नहीं करता, दूसरों से नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता वह महाकर्मादान से बचा हुआ और पापस्थान से विरत भिक्षु है।

जो अशन, पान, स्वाद्य और खाद्य पदार्थों के सबन्ध में यह जानता हुआ कि वे किसी भी साधर्मिक साधु के उद्देश से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का आरभ करके बनाये, खरीदे या मॉग कर लाये गए हैं अथवा वे किसी से छीने या स्थानान्तर से लाये हुए हैं, स्वय उनका भोजन नहीं करता, दूसरों को नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता, वही महाकर्मादान से बचा हुआ पापस्थान से विरत भिक्षु है।

परकृत, परनिष्ठित, उद्गम-उत्पादनादि दोष रहित, प्रासुक और भिक्षाचर्या के क्रम से प्राप्त परिमित आहार का ही सयमनिर्वाह के लिये भिक्षु भोजन करे।

वह आहार के समय आहार, पानी के समय पानी, वस्त्र के समय वस्त्र, उपाश्रय के समय उपाश्रय और शयन के समय शयन का उपभोग करे।

उपदेशविधि का ज्ञाता भिक्षु दिशा, विदिशा मे जहॉ जाय वहॉ धर्मोपदेश करे। भाव से अथवा कौतुक से भी जो कोई श्रोता आवे उसके आगे धर्म की विशेषताऍ और उसके फल का प्रतिपादन करे।

वह शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, सरलता, कोमलता, लघुता और प्राणिमात्र की अहिंसा का उपदेश करे।

वह अन्न, पानी, वस्त्र, उपाश्रय, स्वजन और सासारिक सुखों की प्राप्ति के लिये कभी धर्मोपदेश न करे। केवल कर्मनिर्जरा ही उसके धर्मकथन का निमित्त हो।

जिन वीर पुरुषों ने भिक्षु के निकट धर्मश्रवण करके उसका स्वीकार किया वे मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुए, सर्व पापों से दूर हुए, सम्पूर्ण शान्ति को प्राप्त हुए, कर्मक्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

यही वह धर्मार्थी, धर्मविद् और संयमी भिक्षु है जिसकी आवाज से महापुण्डरीक के उड़ने की बात कही थी।

जिसने कर्मों, संयोगों और गृहवास को जाना है और जो शान्त, समित, हितसाधक और संयमी है ऐसे भिक्षु को श्रमण, ब्राह्मण, शान्त दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रुक्ष, तीरार्थी और चरण करणपारविद् इन नामों में बुलाना योग्य है[1]।



१—सूत्रकृताङ्ग श्रुतस्कन्ध २, अध्याय १, पृ० २५०–२९८।

तृतीय परिच्छेद

भगवान् महावीर के पूर्वभव

पश्चिम महाविदेह के एक गाँव में बलाधिक[1] नामक एक राज्याधिकारी था। एक समय वह राजाज्ञा पाकर काठ लिवाने के लिए गाड़ियाँ लेकर जगल में गया। मध्याह्न का समय हुआ और बलाधिक तथा उसके साथी दोपहर के भोजन की तैयारी करने लगे। ठीक उसी समय वहाँ एक साधु-समुदाय आया। साधु किसी एक सार्थ के संग चल रहे थे और सार्थ के आगे निकल जाने पर मार्ग भूलकर भटकते हुए दोपहर को उस प्रदेश मे आये जहाँ बलाधिक की गाड़ियों का पड़ाव था।

पहला और दूसरा भव

साधुओं को देखते ही बलाधिक का हृदय दयार्द्र हो गया। उसने कहा—बड़े खेद की बात है, मार्ग से अनजान बेचारे तपस्वी लोग मार्ग भूलकर जगल की राह पड़ गये हैं। वह उठा और आदरपूर्वक श्रमणों को अपने पास बुला कर आहार-पानी से उनका आतिथ्य किया और बोला, चलिए महाराज! आप को मार्ग पर चढा दूँ। वह आगे चला और साधुगण उसके पीछे। मार्ग में चलते हुए गुरु ने योग्य जीव जान कर बलाधिक को धर्मोपदेश किया जो उसके हृदय मे बैठ गया। साधुओं को मार्ग बता कर बलाधिक वापस लौटा।

थोड़े से उपदेश से बलाधिक ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और जीवनपर्यन्त गुरूपदेश का अनुसरण करते हुए उसने अपना जीवन सफल किया।

दूसरे भव में बलाधिक ने सौधर्म कल्प में पल्पोपम की आयुस्थितिवाला देवपद प्राप्त किया।

१—चरित्रकारों ने इसका नाम नयसार लिखा है।

देव गति का जीवन पूर्ण होने के अनन्तर धनाधिक का जीव तीसरे भव मे चक्रवर्ती भरत का पुत्र मरीचि नामक राजकुमार हुआ।

तीसरा और चौथा भव

एक समय भगवान् ऋषभदेव पुरिमताल के उद्यान में पधारे। नागरिकगण और राज के परिवार के सब लोग भगवान् को वन्दन करने और धर्मोपदेश सुनने गये। भगवान् ने वैराग्यजनक धर्मदेशना की जिसे सुन कर मरीचि ससार से विरक्त हो गये और अनेक राजपुत्रों के साथ श्रमण-धर्म की प्रव्रज्या लेकर भगवान् के साथ विचरने लगे।

बहुत समय तक प्रव्रज्या पालने के बाद मरीचि श्रमण मार्ग की कठिन क्रियाओं से ऊब गये और साधुवेश के बदले उन्होंने एक नूतन वेश धारण किया। हाथ मे त्रिदण्ड, सिर पर शिखा तथा छत्र, पाँवों मे पादुकायें और शरीर पर गेरुआ वस्त्र धारण कर अपने को निर्ग्रन्थ श्रमणों से जुदा कर लिया।

एक समय राजा भरतने ऋषभदेव से पूछा—भगवन्! आपकी इस धर्मसभा मे कोई भावी तीर्थंकर है? उत्तर मे मरीचि की तरफ इशारा करते हुए भगवान् ने कहा—राजन्! यह त्रिदण्डी तेरा पुत्र मरीचि इसी अवसर्पिणी काल में चौबीसवाँ महावीर नामक तीर्थंकर होगा। इतना ही नहीं, तीर्थंकर होने से पहले यह भारतवर्ष मे त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव होगा। उसके बाद पश्चिम महाविदेह मे प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा और अन्त में भारतवर्ष मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा।

भगवान् के मुख से भावी वृत्तान्त सुनकर भरत मरीचि के निकट जाकर वन्दनपूर्वक बोले—मरीचि! मैं तुम्हारे इस परिव्राजकत्व को नहीं वन्दन करता पर तुम अन्तिम तीर्थंकर होनेवाले हो, यह जान कर तुम्हें वन्दन करता हूँ। ससार मे जो बड़े बडे लाभ हैं वे सब तुम्हें ही मिल गये हैं। तुम इसी भारतवर्ष मे त्रिपृष्ठ वासुदेव, महाविदेह में प्रियमित्र चक्रवर्ती और फिर यहाँ वर्द्धमान नामक चौबीसवें तीर्थंकर होगे।

भरत की बात से मरीचि बहुत प्रसन्न हुआ। वह त्रिपदी आस्फालन

करके बोला—अहो ! मैं वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर होऊँगा ! बस मेरे लिये इतना ही बहुत है।

मैं वासुदेवों में पहला ! पिता चक्रवर्तियों में पहले ! और दादा तीर्थंकरों में पहले ! अहो ! मेरा कुल कैसा श्रेष्ठ है !

भगवान् ऋषभदेव की जीवितावस्था में मरीचि भगवान् के साथ विचरते रहे और उनके निर्वाण के बाद उनके शिष्यों के साथ। उनके पास जो उपदेश श्रवण करने जाता उसे श्रमणधर्म का उपदेश करते और वैराग्यप्राप्त दीक्षार्थी को साधुओं के पास भेजते। कोई यह पूछता कि आप खुद दीक्षा क्यों नहीं देते ? तब कहते–'मैं खरा साधु नहीं हूँ, यथार्थ साधुमार्ग वही है जो श्रमण पालते हैं।'

एक समय मरीचि बीमार पड़े। वे विशाल साधु समुदाय के साथ थे तथापि असंयत समझ कर श्रमणों ने उनकी परिचर्या नहीं की। अब मरीचि को अपनी असहायावस्था का भान हुआ और उसे अपने लिए एक शिष्य की आवश्यकता प्रतीत हुई।

एक बार मरीचि के पास कपिल नामक राजपुत्र आया। मरीचि ने उसे संसार की असारता का उपदेश किया। कपिल संसार से विरक्त हो कर साधु होने को तैयार हुआ तब मरीचि ने उसे साधुओं के पास श्रामण्य लेने को कहा। कपिल ने कहा—मैं आप के मत में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। क्या आपके मत में धर्म नहीं है ? मरीचि ने कहा—है। धर्म वहाँ भी है और यहाँ भी। यह कहकर उसने कपिल को अपना शिष्य बना लिया।

चौरासी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मरीचि ने ब्रह्मदेव-लोक में देवपद प्राप्त किया।

ब्रह्मदेव लोक में दस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर बलाधिक का जीव कोल्लाग सन्निवेश में कौशिक नामक ब्राह्मण हुआ। उसने अस्सी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पाया था। अपने उस दीर्घ जीवन में उसने अनेकविध कर्म किये और मर कर बहुतेरे भव किये जिनकी संख्या नहीं है।

पाँचवाँ भव

छठे भव में बलाधिक का जीव थूणा नगरी मे पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण हुआ। उसका आयुष्य सत्तर लाख पूर्व वर्ष का था। अपने उस दीर्घ जीवन का अधिकांश गृहस्थाश्रम में बिता कर वह परिव्राजक बना और आयुष्य पूर्ण करके सौधर्म देवलोक में देव हुआ।

छठा और सातवाँ भव

देवलोक से च्युत होकर बलाधिक का जीव चैत्य संनिवेश मे अग्निद्योत ब्राह्मण हुआ। अग्निद्योत भी अन्त मे परिव्राजक बना और चौसठ लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य समाप्त करके ईशान देवलोक में मध्यमस्थितिक देव हुआ।

आठवाँ और नवाँ भव

ईशान देवलोक से च्युत होकर बलाधिक का जीव दसवें भव मे मदिर सनिवेश में अग्निभूति ब्राह्मण हुआ। अन्त मे उसने परिव्राजक मत की दीक्षा ली और छप्पन लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य समाप्त कर ग्यारहवें भव मे सनत्कुमार देवलोक मे मध्यमस्थितिक देव हुआ।

दसवाँ और ग्यारहवाँ भव

सनत्कुमार देवलोक से निकल कर बलाधिक का जीव श्वेतांबिका नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ और अन्त मे परिव्राजक बन कर चवालीस लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर माहेन्द्र कल्प में देव हुआ। माहेन्द्र देवलोक से निकलने के बाद उसने कुछ काल तक अनियत ससार भ्रमण किया जो भव गिने नहीं गये।

बारहवाँ और तेरहवाँ भव

चौदहवें भव मे बलाधिक का जीव राजगृह मे स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ। उसने अपने चौंतीस लाख पूर्व वर्ष में से अधिकांश गृहस्थाश्रम में व्यतीत किये। अन्त मे परिव्राजक धर्म स्वीकार किया और आयुष्य की समाप्ति होने पर ब्रह्म देवलोक मे देव हुआ।

चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ भव

ब्रह्म देवलोक से च्युत हो कर उसने कुछ काल तक अनियत भ्रमण किया जिसकी स्थूल भवों मे गणना नहीं की गई।

सोलहवें भव में बलाधिक का जीव राजगृह नगर मे विश्वनन्दी

राजा के भाई विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति राजकुमार हुआ। वह युवावस्था में नगर के बाहर पुष्पकरण्डक उद्यान में रहता और अन्त पुर के साथ सुख-विहार में बिताता था। उसका यह सुख रानी की दासियों से सहा नहीं गया

सोलहवाँ और सत्रहवाँ भव

उन्होंने रानी के सामने विश्वभूति के सुख-विहार और क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए कहा—राज्य के सुख वैभव तो विश्वभूति भोग रहा है। यद्यपि कुमार विशाखनन्दी राजा के पुत्र हैं तथापि विश्वभूति के सुख वैभवों के सामने उनके सुख किसी गिनती में नहीं। कहने के लिए भले ही राज्य हमारा हो पर उसका वास्तविक फलोपभोग तो विश्वभूति के ही भाग्य में लिखा है।

दासियों की बातों से रानी के हृदय मे ईर्ष्याग्नि भड़क उठी और उसने कोपगृह का आश्रय लिया। खबर मिलने पर राजा उसके पास गया और शान्त करने की कोशिश की। रानी कड़क कर बोली—जब राजा की जीवितावस्था मे ही यह दशा है तब पीछे तो हमें गिनेगा ही कौन ?

राजा के बहुत अनुनय करने पर भी जब वह शान्त न हुई तब यह बात अमात्य तक पहुँची और उसने भी बहुत कुछ कहा सुना, पर सफलता नहीं मिली। आखिर अमात्य ने राजा को सलाह दी—महाराज! देवी के वचन का अनादर न कीजिये। स्त्रीहठ है, कहीं आत्मघात न कर बैठे।

राजा ने कहा—इसका कोई उपाय नहीं है। हमारी कुल-मर्यादा है कि जबतक प्रथम प्रविष्ट पुरुष बाहर न आ जाय, दूसरा बाग में प्रवेश नहीं कर सकता। विश्वभूति वसन्तऋतु बिताने के लिए अन्दर ठहरा हुआ है, वह बाहर नहीं निकलेगा।

अमात्य—इसका उपाय हो सकता है।

अमात्य ने अज्ञात मनुष्यों के हाथ से राजा के पास कृत्रिम लेख पहुँचाये। लेख पढ़ते ही राजा ने युद्धयात्रा उद्घोषित की। यह बात विश्वभूति के कानों तक पहुँची और वह तुरत बाग से निकल कर

राजा के पास गया और राजा को रोक कर आप युद्धयात्रा के लि चल दिया।

जिस प्रदेश मे शत्रु के उपद्रव की बात कही गई थी, वहाँ विश्वभूति दलबल के साथ जा पहुँचा। पर वहाँ न कुछ उपद्रव देखा, न युद्ध की हलचल। विश्वभूति जैसे गया वैसे ही वापस लौट आया।

विश्वभूति के बाहर निकलते ही राजकुमार विशाखनन्दी ने पुष्प-करण्डकोद्यान में अपना स्थान जमा लिया।

विश्वभूति लौट कर घर आये और बाग मे जाने लगे तब द्वारपालों ने रोक कर कहा—कुमार विशाखनन्दी अन्त पुर के साथ उद्यान में ठहरे हुए हैं।

अब विश्वभूति को ज्ञात हुआ कि युद्ध का सरम्भ वास्तव में उसे बाग से बाहर निकालने का प्रपच मात्र था। क्रोध मे आकर विश्वभूति ने द्वार पर स्थित एक कैथ के वृक्ष पर जोर से मुष्टि प्रहार किया जिससे गिरे हुए कैथों से जमीन ढक गई। उसने द्वारपालों से कहा—मैं इसी प्रकार तुम्हारे सिर गिरा देता यदि बड़े बाप (ताऊ) का गौरव न करता।

विश्वभूति को इस अपमान से बडा आघात लगा। वह विरक्त हो कर घर से निकल गया और आर्यसभूत स्थविर के निकट जाकर साधु हो गया।

राजा, युवराज और अन्य स्वजनगण ने जाकर विश्वभूति से क्षमा प्रार्थना की और घर चलने के लिये आग्रह किया पर वे अपने निश्चय से विचलित न हुए।

विश्वभूति प्रव्रजित होकर विविध तप करने लगे। षष्ठ अष्टम से लेकर वे मासक्षपण तक करते हुए देश विदेशों में विहार करते थे।

कालान्तर मे विश्वभूति मथुरा गये और मासक्षपण की समाप्ति पर नगर में भिक्षाचर्या करने निकले। उन दिनों कुमार विशाखनन्दी भी शादी करने मथुरा आया हुआ था और अपनी बरात के साथ राजमार्ग के निकट ठहरा था। विश्वभूति उधर से होकर भिक्षाचर्या के लिए जा रहे थे। उन्हें देख कर विशाखनन्दी के मनुष्यों ने कहा—कुमार! आप इन्हें जानते हैं?

विशाखनन्दी ने कहा—नहीं।

मनुष्यों ने कहा—ये विश्वभूति कुमार हैं।

विश्वभूति को देखते ही विशाखनन्दी की आँखों मे क्रोध आ गया। सरोष नेत्रों से वे देख ही रहे थे कि एक नवप्रसूता गाय ने विश्वभूति को शृंग-प्रहार से गिरा दिया। यह देख कर विशाखनन्दी और उसके साथी खिलखिला कर हँसे और बोले—कहाँ गया वह तेरा कैथ गिरानेवाला बल ? मुनि ने उधर देखा तो विशाखनन्दी पर दृष्टि पड़ी। उनके मन मे रोष आया और गाय के शृंगों को पकड़ कर चक्र की तरह ऊपर घुमाते हुए बोले—दुर्बल सिंह का बल भी शृगालों से नहीं लाघा जाता।

मुनि वहीं से पीछे लौट गये। वे मन में बोले—अबतक यह दुरात्मा मुझ पर रोष धारण किये हुए है ? उन्होंने ने निदान किया—'यदि इस तप-सयम और ब्रह्मचर्य का कुछ भी फल हो तो भविष्य में मैं अपरिमित बलशाली होऊँ।'

विश्वभूति ने अपने निदान का कभी पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त नहीं किया। वे अपने साधु-जीवन को निभाते हुए आयुष्य पूर्ण कर महाशुक्र कल्प मे देवपद को प्राप्त हुए।

अठारहवाँ और उन्नीसवाँ भव

महाशुक्र देवलोक से निकल कर बलाधिक का जीव पोतनपुर मे त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव हुआ। पोतनपुर के राजा प्रजापति, प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के मण्डलिक थे। उनके दो पुत्र थे, एक अचल और दूसरा त्रिपृष्ठ।

एक समय पोतनपुर की राजसभा में नाच रग हो रहा था। राजा, दोनों राजकुमार और सभासदगण उसमें मस्त हो रहे थे। ठीक उसी समय अश्वग्रीव का दूत कार्यवश राजसभा मे आया। राजा ने सभ्रमपूर्वक दूत का स्वागत किया और जलसा बद करवा कर उसका सदेश सुनने लगे।

रग में भग करनेवाले दूत पर कुमार बहुत बिगड़े। उन्होंने अपने आदमियों से कहा—जब यहाँ से दूत रवाना हो, हमें सूचित करना।

सत्कारपूर्वक राजा से विदा लेकर दूत रवाना हुआ। दोनों कुम
को इसकी सूचना मिली और उन्होंने पीछे से जाकर दूत को पीट
दूत के साथी उसे छोड़कर भाग गये।

प्रजापति को जब इस घटना के समाचार मिले तो उन्हें बड़ा
हुआ। दूतको वापस बुलवा कर दुगुना तिगुना पारितोषिक दिया अ
कहा—राजा से इस बात की शिकायत न करियेगा। दूत मान गर
पर उसके साथी उसके पहले ही राजा के पास पहुँच गये और यह
वृत्तान्त अश्वग्रीव को निवेदन कर चुके थे।

दूत के अपमान की बात सुन कर अश्वग्रीव बहुत नाराज हु
और अपने दूत को तिरस्कृत करनेवाले दोनों राजपुत्रों को जान
मरवा डालने का उसने निश्चय कर लिया।

अश्वग्रीव को किसी भविष्यवेत्ता ने कह रक्खा था कि जो मनु
तुम्हारे चण्डमेघ दूत को पीटेगा और महाबलिष्ठ सिंह को मारे
वही तुम्हारी मृत्यु का कारण होगा।

अश्वग्रीव ने दूसरा दूत भेज कर प्रजापति को कहलाया—तुम अमु
जगह जा कर हमारे शालिक्षेत्रों की रक्षा करो।

अपने पुत्रों को डांटते हुए प्रजापति ने कहा—यह तुमने अका
मृत्यु को जगाया। हमारी बारी न होने पर भी हमें यह आज्ञा मिली। य
तुम्हारे औद्धत्य का फल है। अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य कर
राजा सेना के साथ प्रयाण करने लगे तब राजकुमारों ने कहा—अ
यहीं रहिये। इस काम के लिये तो हमीं जायेंगे। राजा के रोकने पर
कुमार चले गये और मौके पर पहुँच कर छपकों से पूछा—अन्य रा
लोग आकर यहाँ किस रीति से रक्षण करते हैं? लोगों ने कहा—ज
तक खेतों मे धान्य रहता है वे चतुरंगिनी सेना का घेरा डाल कर य
रहते हैं और सिंह से लोगों की रक्षा करते हैं। त्रिपृष्ठ बोला—इत
समय तक कौन ठहरेगा? मुझे वह स्थान बता दो जहाँ सिंह रहता है
लोगों ने त्रिपृष्ठ को सिंहवाली गुफा दिखायी। कुमार रथमें बैठ क
गुफा के द्वार पर पहुँचा। लोगोंने दोनों तरफ से शोर किया जिसर
चौंक कर सिंह गुफा के द्वार पर आया। कुमार ने सोचा यह तो मैदा

है और मैं रथिक। यह विषम युद्ध है। ढाल तलवार के साथ वह रथ से उतर गया और फिर सोचने लगा—यह दंष्ट्रा-नखायुध है और मैं ढाल-तलवारधारी। यह भी ठीक नहीं। उसने ढाल तलवार भी छोड़ दिये। यह देखकर सिंह के क्रोध का पार न रहा। वह मुँह फाड़ कर कुमार पर झपटा। त्रिपृष्ठ ने पहले ही झपाटे में उसे दोनों जबड़ों से पकड़ा और जीर्ण वस्त्र की तरह फाड़ कर फेंक दिया। यह देख कर जनता ने जोरों का हर्षनाद किया।

त्रिपृष्ठ सिंह की खाल लेकर अपने नगर की तरफ चला। जाते समय उसने ग्रामीणों से कहा—घोटकग्रीव से कह देना कि अब वह निश्चिन्त रहे।

लोगों ने सब हकीकत अश्वग्रीव के पास पहुँचा दी। वह बहुत रुष्ट हुआ और दूत भेज कर प्रजापति को कहलाया—अब तुम वृद्ध हो गये हो अत सेवा मे कुमारों को भेज दो। तुम्हारे आने की जरूरत नहीं।

प्रजापति ने कहा—मैं खुद सेवा मे आने के लिए तैयार हूँ।

अश्वग्रीव ने अतिक्रुद्ध होकर कहलाया—कुमारों को न भेजकर तूने हमारी आज्ञा का अनादर किया है अत युद्ध के लिये तैयार हो जा।

कुमारों ने इस समय भी दूत को अपमानित कर निकाल दिया। अश्वग्रीव ने सम्पूर्ण सैन्य के साथ पोतनपुर पर चढाई कर दी। त्रिपृष्ठ आदि भी अपनी सेना के साथ देश की सीमा पर जा डटे। दोनों सेनाओं मे घमासान युद्ध शुरू हुआ और पहले ही दिन युद्धभूमि रक्त-रंजित हो गई। निरपराध जीवों का यह संहार त्रिपृष्ठ को अच्छा न लगा। उसने अश्वग्रीव के पास दूत भेज कर कहलाया—कल से मैं और तुम दो ही युद्ध मे प्रवृत्त हों तो बहुत अच्छा। निरपराध जीवों को मरवाने से क्या लाभ है ?

अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ का प्रस्ताव मजूर किया और रथों में बैठ कर अपने अपने मोर्चों से निकल कर दोनों परस्पर भिड़ गये। घटों लडे और खूब लड़े फिर भी मैदान दोनों का रहा। अश्वग्रीव ने देखा कि सब शस्त्र खत्म हो गये हैं फिर भी शत्रु मैदान मे डटा हुआ है। उसने अपने चक्रनामक अमोघास्त्र को सँभाला और उठा कर त्रिपृष्ठ

पर जोरों से फेंका। अश्वग्रीव का विश्वास था कि इसके एक ही प्रहार से उसका काम पूरा हो जायगा। पर परिणाम विपरीत निकला। चक्र धार की तरफ से न लग कर तुम्बे की तरफ से त्रिपृष्ठ के वक्षस्थल पर गिरा। त्रिपृष्ठ ने उसे पकड़ लिया और उसी से अपने शत्रु का सिर उड़ा दिया। तत्काल आकाशवाणी हुई—'त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव प्रकट हो गया।'

सब राजाओं ने त्रिपृष्ठ की वश्यता स्वीकार की और आधे भारत वर्ष को अपने अधीन करके उसने वासुदेव का पद धारण किया।

चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य पूरा करके त्रिपृष्ठ सातवीं नरकभूमि मे तेंतीस सागरोपम की आयुष्य स्थितिवाला नैरयिक हुआ।

बीसवाँ, इक्कीसवाँ और बाईसवाँ भव

नरक से निकलकर बलाधिक का जीव सिंह हुआ और वहाँ से मर कर फिर नरक मे गया। नरक से निकलने के बाद बलाधिक का जीव कुछ समय तक ससार मे भटक कर अन्त मे मनुष्य[1] हुआ।

तेईसवें भव मे बलाधिक पश्चिम विदेह की राजधानी मूका नगरी मे प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने ससार से विरक्त होकर

तेईसवाँ और चौबीसवाँ भव

प्रोष्ठिलाचार्य के पास प्रव्रज्या ली और चौरासी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य भोग कर चौबीसवें भव मे वह महाशुक्रकल्प के सर्वार्थ नामक विमान मे देव हुआ।

सर्वार्थ विमान से निकल कर पचीसवें भव मे बलाधिक का जीव

पचीसवाँ और छब्बीसवाँ भव

छत्रानगरी मे जितशत्रु राजा का पुत्र नन्दन नामक राजकुमार हुआ। वह बाल्यावस्था मे ही राज्यासन पर बैठा और चौबीस लाख वर्ष पर्यन्त राज्य किया। बाद में उसने प्रोष्ठिलाचार्य के समीप प्रव्रज्या ली।

नन्दन मुनि ने बड़ी घोर तपस्यायें कीं। निरन्तर मास मासक्षपण करके उन्होंने अर्हत्, सिद्ध, सघ, धर्मोपदेशक, वृद्ध, बहुश्रुत, तपस्वी,

---

१ इस मनुष्य का नाम क्या था, आयुष्य कितना था और किन शुभ कर्मों से चक्रवर्ती पद के योग्य पुण्य उपार्जन किया था—इन बातों का खुलासा नहीं मिला।

अर्हदादिवात्सल्य, अर्हदादि ज्ञानध्यान, दर्शन, विनय, नित्यनियम, शील, आत्मध्यान, दान, मुनि-सेवा, समाधि, अपूर्व ज्ञानप्राप्ति, शास्त्र भक्ति, और प्रवचनोन्नति इन बीस पदों की भक्ति और आराधना करके उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया।

अन्त मे नन्दन मुनि ने दो मास का अनशन किया और समाधि-पूर्वक देह छोड़ कर प्रणतकल्प के पुष्पोत्तर विमान में देवपद प्राप्त किया।

सताईसवाँ भव

प्रणतकल्प की दिव्य समृद्धि का उपभोग करके वलाधिक का जीव सताईसवें भव में ब्राह्मण-कुण्डपुर मे ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कोख में पुत्ररूप मे अवतीर्ण हुआ जहाँ बयासी दिन रहने के बाद तिरासीवें दिन मध्यरात्रि के समय वह हरिणैगमेषी देव द्वारा त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में रखा गया और वहीं सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर जन्म लेकर वर्धमान—महावीर नामक तीर्थंकर हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

जमालिप्रवर्तित 'बहुरत' संप्रदाय

भगवान् महावीर के वचन का विरोध करनेवाले जो निह्नव हो गये हैं उनमें जमालि का नाम सर्वप्रथम है।

जमालि का भगवान् महावीर के साथ किस विषय में किस प्रकार मतभेद खड़ा हुआ इसका संक्षिप्त वर्णन चरितखण्ड में जमालि के प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ पर सिर्फ जमालि के मतभेद का बीज क्या है, यही बताना अभीष्ट है।

जमालि का मतभेद क्रिया विषयक नहीं, तर्क विषयक था। इस लिए तर्कवाद की पद्धति से ही इस विषय का स्पष्टीकरण करना युक्तिसंगत होगा।

महावीर निश्चयानुसार क्रियाकाल और कार्यकाल को अभिन्न मानते थे। अतएव वे कहते—'चलमाणे चलिए' 'करेमाणे कडे' अर्थात् 'चलने लगा चला, किया जाने लगा किया' इत्यादि।

अपनी बीमारी के दरमियान जमालि ने देखा कि संस्तारक किया जाने लगा है, पर वह 'किया' नहीं कहलाता, क्योंकि उस पर शयन-क्रिया नहीं हो सकती। इस स्थिति में महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त ठीक नहीं है।

जमालि की मान्यता थी कि कोई भी कार्य किसी एक ही समय में पूरा नहीं हो सकता। कोई भी कार्य विषयक क्रिया अनेक समय तक चल कर जब उपराम पाती है तब कहीं जाकर कार्य सिद्धि होती है। इस प्रकार एक कार्य अनेक समय की क्रिया से निष्पन्न होता है। अत कोई भी कार्य 'क्रियाकाल' में 'किया' नहीं कहा जा सकता, किन्तु क्रिया-कलाप के अन्त में जब कार्य पूरा हो जाय तब उसे 'किया' कहना चाहिये।

शिवकादि पर्यायों के आविर्भाव-तिरोभाव के अन्त में ही 'घट पर्याय' की उत्पत्ति होती है। इसलिए स्थासकादिकाल मे ही घटोत्पत्ति का आभास मिल जाने से हम 'घट क्रियते' यह व्यवहार करते हैं। पर व्यवहार व्यवहारमात्र है, निश्चयनय इसमें विशुद्ध सत्यता का स्वीकार नहीं करता।

जमालि शुद्ध सत्यांश को स्वीकार करनेवाले इस नय सिद्धान्त को समझ नहीं सका अथवा तो यह सिद्धान्त उसके मन मे उतरा ही नहीं, जिससे उसने 'करेमाणे कडे' इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध करने की चेष्टा की।

बहुत सभव है कि जमालि का यह 'बहुरत' संप्रदाय उसके साथ ही समाप्त हो गया होगा क्योंकि उसके जीवन के अन्तिम समय तक जमालि के सब अनुयायी उसका साथ छोड़ कर चले गये थे और अपने इस मत का माननेवाला वह अकेला ही रह गया था।

पञ्चम परिच्छेद

आजीविकमत-दिग्दर्शन

गोशालक के सम्बन्ध में अनेक जगह यह कहा गया है कि वह भगवान् महावीर से जुदा होने के बाद आजीविक मत का आचार्य बनकर अपने को जिन—तीर्थंकर कहलाने लगा था, पर यह नहीं बताया गया कि आजीविक मत का प्रवर्तक कौन था, उसका स्वरूप क्या था और इसका इतिहास क्या है ? पाठकगण की जिज्ञासापूर्ति के लिये इन सब बातों का हम यहाँ दिग्दर्शन करायेंगे।

प्रास्ताविक

'आजीविक' यह नाम 'आजीव' शब्द से तद्धित का 'इक' प्रत्यय लग कर बना है, जिसका अर्थ होता है—'आजीविका के लिये फिरने वाला'। कहीं कहीं कोशकारों ने और मध्यकालीन जैन ग्रन्थकारों ने 'आजीवक' यह आजीविक का स्थानापन्न कृदन्त शब्द भी प्रयुक्त किया है, जिसका अर्थ 'आजीविका अर्थात् जीविका चलानेवाला' होता है। पर प्राचीन जैन सूत्रों में इस मत और मतवालों के लिये सर्वत्र 'आजीविक' (आजीविय) शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। कुछ भी हो, दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है।

१ नाम निरुक्ति

अब हम यह देखेंगे कि इस मत का यह नाम पड़ने का कारण क्या है ? क्या आजीविका का साधन मात्र होने से ही इस मत का उक्त नामकरण हुआ है, अथवा किसी अन्य कारण से ?

जहाँ तक हम जान सके हैं इस मत के अनुयायी केवल आजीविका के ही अर्थी नहीं थे। वे विविध जात के तप और ध्यान भी करते थे। जैन-आगम स्थानाङ्ग में आजीविकों के चार प्रकार के तपों का निर्देश किया गया है।

कल्प चूर्णिकार ने जिन पाँच प्रकार के श्रमणों का नामोल्लेख किया है उनमें आजीविक भी एक है।

गोशालक स्वय सघाग्रणी होकर भी इनके साथ मित्र का सा व्यवहार करता था।

इन सब वृत्तान्तों से यह बात तो लगभग निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि आजीविक मत और सघ गोशालक के प्रादुर्भाव के पहले से चला आता था।

आजीविक मत की स्थापना किसने की, इस विषय मे यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख या प्रमाण नहीं है तथापि भगवतीसूत्र में वर्णित गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त के ऊपर से हम कुछ अनुमान कर सकते हैं।

महावीर के सामने अपने मत के अन्यान्य सिद्धान्तों का वर्णन करने के बाद गोशालक कहता है—"दिव्यसयूथ और सनिगर्भ के भव-क्रम से मैं सातवें भव मे उदायी कुण्डियायन हुआ। बाल्यावस्था मे ही प्रव्रज्या लेकर मैंने धर्माराधन किया और अन्त मे उस शरीर को छोड़कर क्रम से एणेयक, मल्लराम, माल्यमण्डित, रोह, भारद्वाज और गौतमपुत्र अर्जुन इन छ मनुष्यों के शरीरों में प्रवेश किया और क्रमश २२, २१, २०, १९, १८, १७ वर्ष तक उनमें रहा। अन्त मे मैंने गौतमपुत्र अर्जुन का शरीर छोड़ कर गोशालक मखलिपुत्र के शरीर मे यह सातवाँ शरीरान्तर प्रवेश किया और इसमे कुल १६ वर्ष रहने के उपरान्त मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा।"

डा० हॉर्नले कहते हैं—गोशालक ने यह कल्पना अपनी जाति को छिपाने के लिये की थी, पर हमारी समझ में गोशालक इतना मूर्ख नहीं था कि अपने अपलाप के लिये वह ऐसी असम्भावित कल्पना करने का साहस करता अथवा ऐसा करने पर भी उसके अनुयायी उसे सत्य मान लेते। हम तो समझते हैं कि आजीविक मतवालों की मान्यता ही कुछ ऐसी होगी कि उदायी कुण्डियायन के पद पर आनेवाला पुरुष शरीरान्तर प्रविष्ट स्वय उदायी कुण्डियायन ही होता है। इस मान्यतानुसार गोशालक मखलिपुत्र भी उदायी कुण्डियायन का सातवाँ पदाचार्य होने से सप्तम शरीर-प्रविष्ट उदायी कुडियायन मान लिया गया होगा और इसी बुत्ते पर उसने अपने लिये महावीर

का शिष्य गोशालक नहीं, पर उदायी कुडियायन होने की बात कही होगी।

यदि हमारी उक्त कल्पना में कुछ यौक्तिकता मानी जा सकती है तो यह मानना अनुचित नहीं है कि आजीविक संघ का आदि प्रवर्तक उदायी कुडियायन नाम का पुरुष था और गोशालक के स्वर्गवास समय तक उसको स्वर्गवासी हुए एक सौ तेंतीस वर्ष हो चुके थे। तब-तक उसके पद पर ऐणेयक, मल्लराम, माल्यमंडित, रोह, भारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन और गोशालक मंखलिपुत्र—ये सात पदधर हो चुके थे जिन्होंने क्रमश २२, २१, २०, १९, १८, १७ और १६ वर्ष तक आचार्य-पद भोगा था।

आजीविकों के धार्मिक आचार कैसे थे, यह जानना सहज नहीं। इस समय उनका खुद का कोई ग्रन्थ या आचार-पद्धति विद्यमान नहीं है और जैन तथा बौद्ध सूत्रों मे इनके आचारविषयक जो वर्णन मिलते हैं वे अतिसंक्षिप्त और अव्यवस्थित हैं। इस दशा में आजीविक मत के आचारमार्ग का निरूपण करना कोरी अटकलबाजी ही होगी। फिर भी जैन और बौद्ध साहित्य में इस मत के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है, उसीके आधार पर हम इनकी आचारपद्धति का निरूपण करेंगे।

३ धार्मिक आचार

जैन सूत्र स्थानाङ्ग मे लिखा है—"आजीविकों के चार प्रकार के तप हैं—उग्र तप, घोर तप, रसनिर्यूहना तप और जितेंद्रिय प्रतिलीनता तप।" इन तपों का यथार्थ स्वरूप क्या था, वह कहना कठिन है। पर इनके नामों से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये बड़े ही दुष्कर तप होंगे। इन्हीं तपों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते हुए आजीविक भिक्षुओं का वर्णन जैन औपपातिकसूत्र में मिलता है, जो इस प्रकार है—

'ग्राम, नगर, पुर, सनिवेशों में जो आजीविक होते हैं वे इस प्रकार के होते हैं—द्विगृहान्तरित, त्रिगृहान्तरित, सप्तगृहान्तरित (क्रमसे दो, तीन और सात घरों मे भिक्षार्थ जानेवाले और न मिलने पर उपवास करनेवाले), उत्पलवृन्तिक (कमलों के बोटों का भोजन करनेवाले), गृहसामुदानिक (घरों के क्रम से भिक्षा लेनेवाले), विद्युदन्तरित

(बीच में बिजली के चमकने पर भिक्षावृत्ति से निवृत्त होनेवाले) और उष्ट्रिका श्रमण (मिट्टी के बड़े बर्तन के भीतर बैठे रहनेवाले)।

'इस प्रकार की वृत्तिवाले आजीविक बहुत वर्षों तक श्रामण्य पाल कर अन्त में आयुष्य पूर्ण कर अच्युत कल्प तक देवपद प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी वे आराधक नहीं होते।'

ऊपर मुजब कष्टकारी व्रत रखते हुए भी आजीविक हरी वनस्पति, कच्चा अन्न और फल आदि का आहार कर लेते थे। इसी कारण महावीर ने एक बार इनके शास्त्र पर हमला करते हुए कहा था—"आजीविक-समय का तो अर्थ ही यह है कि सचित्त पदार्थों का भोजन करना—सब प्राणियों की हिंसा, छेदन भेदन और विनाश कर आहार करना।"

आजीविक भिक्षुओं का वेष केवल नग्नता के रूप में था। जिस समय गोशालक नालन्दा की तन्तुवायशाला में चातुर्मास्य रहा था, उस समय उसके पास वस्त्र थे पर चातुर्मास्य के बाद जब महावीर वहाँ से कोल्लाग सन्निवेश की तरफ विहार कर गये तब वह भी नग्न हो उनकी खोज में निकल पड़ा और कोल्लाग में उनका शिष्य होकर महावीर के साथ विचरने लगा था।

बौद्ध शास्त्रों में भी आजीविक भिक्षुओं को नग्न ही बताया है और इसी कारण उनके लिये वहाँ सर्वत्र 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया है।

डा० हार्नले की कल्पना है कि गोशालक का अनुकरण करके महावीर ने भी इस नाग्न्य आचार को स्वीकृत किया होगा। हम डाक्टर महाशय की इस कल्पना का समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि महावीर के पास लगभग तेरह महीना ही वस्त्र रहा था। जिस समय वे दूसरा वर्षा चातुर्मास्य नालन्दा में ठहरे थे, उनके पास वस्त्र नहीं था, परन्तु गोशालक तबतक वस्त्रधारी था जो चातुर्मास्य के बाद महावीर का शिष्य होने के समय अचेलक बना था। इस दशा में महावीर ने नहीं किन्तु गोशालक ने ही महावीर का अनुकरण करके अपने वस्त्रों का त्याग किया था, यह निश्चित है।

आजीविकों के आचार का कुछ वर्णन बौद्ध मज्झिमनिकाय में

उपलब्ध होता है। वहाँ छत्तीसवें प्रकरण में निर्ग्रन्थसघ के साधु सचक के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशालक मखलिपुत्र तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस सकिच के अनुयायियों द्वारा पाले जानेवाले आचारों का वर्णन कराया है।

आजीविकों के सम्बन्ध में सचक कहता है—"वे सब वस्त्रों का परित्याग करते हैं। सब शिष्टाचारों को दूर रखकर चलते हैं। अपने हाथों में भोजन करते हैं। भिक्षा के लिए आने अथवा राह देखने सबधी किसी की बात नहीं सुनते। अपने लिये आहार नहीं बनवाने देते। जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो उसमें से उसे ग्रहण नहीं करते। देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा जाता और चूल्हे पर पकता हुआ आहार ग्रहण नहीं करते। एक साथ भोजन करते हुए युगल से तथा सगर्भा, दूधमुँहे बच्चेवाली और पुरुष के साथ सभोग करती हुई स्त्री से आहार नहीं लेते। जहाँ आहार कम हो, जहाँ कुत्ता खड़ा हो और जहाँ मक्खियाँ भिनभिनाती हों वहाँ से आहार नहीं लेते। मत्स्य, माँस, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नहीं करते। उनमें से कुछ केवल एक घर भिक्षा माँगते हैं और एक मुट्ठी अन्न को ग्रहण करते हैं। अन्य सात घरों में भिक्षा माँगते हैं और सात मुट्ठी अन्न का स्वीकार करते हैं। कोई एक, कोई दो और कोई सात अन्नोपहार से निर्वाह करते हैं। कोई दिन में एक बार, कोई दो दो दिन बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के उपवास करते हैं।'

इसी प्रकार का आजीविकों का आचार-वर्णन दीघनिकाय में भी किया गया है, पर वहाँ पर यह वर्णन कश्यप के मुख से कराया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र के उपोद्घात में प्रो० जाकोबी ने आजीविक और निर्ग्रन्थों के आचारों की एकता बताई है, पर वास्तव में इन दोनों सम्प्रदायवालों के आचारों में बहुत बड़ा अन्तर था। यद्यपि मज्झिमनिकाय में आजीविकों के कठिनतम तप और भिक्षा के नियमों का वर्णन है

तथापि सब आजीविक भिक्षुओं द्वारा सदाकाल ये ही नियम पालन किये जाते थे, यह मान लेना भूल होगी। सभव है, आजीविक भिक्षुओं में से अमुक भाग अवस्था विशेष में अमुक समय तक के लिये इन कड़े नियमों का अनुसरण करता हो, पर इतने ही सादृश्य से इनका आचार निर्ग्रन्थों के आचार के तुल्य मान लेना ठीक नहीं।

निर्ग्रन्थों और आजीविकों मे मुख्य आचार-भेद सचित्त-अचित्त संबधी था। निर्ग्रन्थ कुछ भी सचित्त वस्तु का ग्रहण और भक्षण तो क्या स्पर्श तक नहीं करते थे, पर आजीविकों के लिये यह बात नहीं थी। वे सचित्त (हरी, अखडित वनस्पति, वनस्पति के बीज अर्थात् अनाज वगैरह) और आकरोत्पन्न शीतल जल का स्वीकार और सेवन कर लेते थे।

इसके सिवाय दूसरी भी अनेक शिथिलतायें आजीविकों के आचार मे थीं। बौद्ध विनयपिटक में अमुक आजीविकों के छाता ओढ कर चलने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि आजीविक भिक्षुओं में जिस प्रकार उग्र तपस्यायें प्रचलित थीं उसी प्रकार हद दर्जे की शिथिलता भी। निर्ग्रन्थों की स्थिति इससे भिन्न थी। उनमें हद दर्जे की कष्टकर प्रतिज्ञायें थीं, पर शैथिल्य का प्रवेश तक नहीं था। उनमे जिनकल्पिक, स्थविर कल्पिक आदि निर्ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न दर्जे नियत थे और सब नियमित मर्यादाओं मे चलते थे।

आजीविक भिक्षुओं के तो क्या, आजीविकोपासक गृहस्थों के आचार भी बहुत मामूली ढग के होते थे। वृत्तिवान् जैन श्रमणोपासक जितने नियम उपनियमों से अपने को प्रतिज्ञाबद्ध करते थे उतने आजीविकोपासक नहीं। उनमें जो जो धार्मिक वृत्तिवाले होते, वे निम्नलिखित व्रत स्वीकार करते थे—

१ मातापिता की सेवा।

२ पचफल प्रत्याख्यान अर्थात् गूलर, वड़, वेर, सतर और पीपल के फलों का त्याग।

३ प्याज, लहसुन और कद मूल का त्याग।

४ अलाञ्छित और बिना नाथे हुए बैलों से जीविका चलाना।

५ त्रस (चलते फिरते) जीवों को बचाकर जीवन निर्वाह करना।

भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में भगवान् महावीर कहते हैं कि ये बारह आजीविकोपासक हैं—ताल, तालपलंब, उन्विह, संविह, अवविह, उदय, नामुदय, णमुदय, अणुवालय, संखवालय, अयपुल, और कायरय। ये अरिहंत को देवता माननेवाले, मातापिता की सेवा करनेवाले, गूलर, बड़, बेर, सतर और प्लक्ष (पीपल) इन पाँच फलों के त्यागी, प्याज लहसुन और कंद मूल को नहीं खानेवाले, अनिर्लाञ्छित और अनाथित बैलों से और त्रस प्राणों को बचाकर आजीविका चलाते हैं। जब आजीविकोपासक भी इस प्रकार निरवद्य जीवन गुजारते हैं तो श्रमणोपासकों का तो कहना ही क्या ? उन्हें तो इन पन्द्रह ही कर्मादानों को न स्वयं करना चाहिये, न कराना चाहिये, न करते हुए का अनुमोदन करना चाहिये।

इसी सूत्र में अन्यत्र श्रमणोपासकों के व्रत विषयक विविध विकल्पों का वर्णन करके भगवान् महावीर कहते हैं कि इस प्रकार विविध विकल्पों से व्रत पालनेवाले श्रमणोपासक होते हैं, आजीविकोपासक ऐसे नहीं होते।

जैन श्रमणोपासकों के सामायिक और पौषध व्रत का आजीविक किस प्रकार मखौल उड़ाते थे इसका पता भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में वर्णित आजीविकों के प्रश्नों से लगेगा।

एक समय भगवान् महावीर राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे हुए थे। तब इन्द्रभूति गौतम ने आकर उनसे कहा—'भगवन्! आजीविक लोग निर्ग्रन्थ स्थविरों से पूछते हैं कि सामायिकव्रत में स्थित श्रमणोपासक की किसी चीज की चोरी हो जाय तो व्रत पूर्ण होने के बाद वह उसकी तलाश करे या नहीं ? यदि करे, तो वह अपनी चीज की तलाश करता है यह कहा जायगा या दूसरे की चीज की ? और सामायिकस्थित श्रमणोपासक की भार्या से कोई पुरुष गमन करे तो वहाँ क्या कहना चाहिये, श्रमणोपासक की भार्या से गमन या और कुछ ?' इत्यादि।

ऊपर के दोनों प्रश्न आजीविकों के थे जिनका गौतम ने भगवान् महावीर से पूछकर खुलासा किया था।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्ग्रन्थों और आजीविकों के आचार भिन्न भिन्न थे। यही नहीं, कभी कभी वे एक दूसरे के साम्प्रदायिक आचारों पर कटाक्ष तक किया करते थे।

४ धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त

आजीविक मत के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय मे भी थोडी बहुत जानकारी जैन और बौद्ध सूत्रों से ही मिलती है। गोशालक ने अपने मुख से स्वमत के जो धार्मिक सिद्धान्त भगवान् महावीर के सामने प्रकट किये थे, उनका सविस्तर वर्णन भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में है, जो 'गोशालक' वाले प्रकरण में दिया गया है।[1]

इसके अतिरिक्त आजीविकों के नियतिवाद का भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है।

उपासकदशाग के छठे अध्ययन मे एक देव और श्रमणोपासक कुण्डकौलिक के सवाद मे नियतिवाद की चर्चा है। पौषध व्रत मे बैठे हुए श्रमणोपासक कुडकौलिक की नाम मुद्रिका और उत्तरीयवस्त्र उठा कर आकाशस्थित देव कहता है—'हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! गोशालक मखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति बडी सुन्दर है। उसमें न उत्थान है, न कर्म है, न बल है, न वीर्य है और न पुरुषपराक्रम क्योंकि उसके मत मे सर्वभाव नियत हैं। श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति अच्छी नहीं। उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष पराक्रम कारण माने गये हैं, क्योंकि उनके मत मे सर्वभाव अनियत हैं।

इसी सूत्र के सातवें अध्ययन मे आजीविकोपासक सद्दालपुत्र और महावीर का वार्तालाप है। अपने मिट्टी के बर्तन इधर उधर करते हुए सद्दालपुत्र से भगवान् महावीर पूछते हैं—'सद्दालपुत्र! यह बर्तन कैसे बना? पुरुषपराक्रम से या उसके बगैर?' उत्तर मे सद्दालपुत्र कहता है—'ये मृतिकाभाण्ड नियतिबल से बनते हैं, पुरुषपराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियतिवश होते हैं। जिसका जैसा होना नियत

[1] देखिए पृष्ठ १२७-१३४।

है वह वैसे ही होता है । उसमे पुरुषपराक्रम कुछ भी परिवर्तन
कर सकता, क्योंकि सर्वभाव नियत होते हैं ।'
बौद्ध दीर्घनिकाय मे गोशालक के सिद्धान्तों का साराश इस
है—

'प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट का अथवा दूर का कोई कारण
है । वे बगैर निमित्त अथवा कारण के भ्रष्ट होते हैं । प्राणियों की
ता के लिये निकट या दूर का कोई कारण नहीं है। वे बगैर निमित्त
ारण के ही पवित्र होते हैं । कोई भी अपने खुद के अथवा दूसरों
यत्नों पर आधार नहीं रखता । सक्षेप में साराश यही है कि कुछ
ुरुष प्रयास पर अवलबित नहीं है, क्योंकि शक्ति, पौरुष अथवा
पराक्रम जैसी कोई चीज ही नहीं है । प्रत्येक सविचार (उच्चतर
), प्रत्येक सेन्द्रियवस्तु (अधमतर कोटि के प्राणी), प्रत्येक प्रजनित
(प्राणीमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु (सर्व वनस्पति)
ान, प्रभावहीन और शक्तिहीन है । इनकी भिन्न भिन्न अवस्थायें
वश या स्वभाववश होती हैं और षड् वर्गोंमें से एक अथवा
: की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख दु ख के भोक्ता बनते हैं ।
आजीविक कैसे कट्टर नियतिवादी होते थे, इस बात को प्रमाणित
: के लिये ऊपर के जैन और बौद्ध वर्णन ही पर्याप्त हैं, तथापि हम
ी एक और योजना यहाँ उद्धृत करेंगे जिससे यह जाना जा
ा कि वे कैसे नियतिवादी धार्मिक सिद्धान्तोंपर विश्वास रखनेवाले
थे । बौद्ध दीर्घनिकाय मे आजीविकों के सिद्धान्तों मे लिखा है—
चौदह लाख मुख्य प्रकार के जन्म हैं । फिर वे छ हजार (अथवा
मुजब साठ हजार) और छ सौ दूसरे हैं। कर्म के पाँच
प्रकार हैं, (पचेन्द्रिय के अनुसार) फिर पाँच भी हैं और
न, वचन, काया मुजब) तीन भी हैं, और पूरा कर्म और आधा
, इस प्रकार दो भी है (पूरा अर्थात् मन वचन काया से किया
कर्म और आधा अर्थात् केवल मन से किया हुआ कर्म)।
ारण के बासठ प्रकार हैं। अन्तरकल्प बासठ होते हैं।
य्यों में छ वर्ग (अभिजाति) हैं। मानव जीवन की

अवस्थायें हैं। चार हजार नौ सौ प्रकार के आजीव हैं। चार हजार नौ सौ प्रकार के परिव्राजक हैं। नागलोग मे आबाद उनचास प्रदेश हैं। दो हजार शक्तियाँ हैं। तीन हजार पापमोचन स्थान हैं। छत्तीस धूलराजियाँ हैं। सञ्ज्ञी आत्माओं मे से सात उत्पत्तियाँ हैं, असञ्ज्ञी प्राणियों में से सात उत्पत्तियाँ हैं और (ईख) की दो गाँठों के बीच में से सात उत्पत्तियाँ हैं। सात प्रकार देवों के हैं। सात मनुष्यों के हैं। सात पिशाचों के हैं। सात सरोवरों के हैं। सात बड़े और सात सौ छोटे जलप्रपात हैं। सात आवश्यक और सात अनावश्यक स्वप्न हैं। चौरासी लाख महाकल्प हैं जहाँ बाल और पण्डित दोनों समान रीति से ससार मे भटक-भटक कर अन्त मे अपने दु खों का अन्त करेंगे। यद्यपि बाल अमुक शील, व्रत, तप और ब्रह्मचर्य द्वारा अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करने की आशा करेंगे और पण्डित इन्हीं साधनों द्वारा परिपक्व हुए कर्मों से छूटने की आशा करेंगे, परन्तु दो मे से एक भी कृतकार्य नहीं हो सकेंगे। मानो नाप नाप कर दिये हों, ऐसे सुख दु खों को संसार में कोई नहीं बदल सकता। इनमें न वृद्धि हो सकती है, न हानि। जैसे रस्सी के बंडल को उकेरने पर उसकी लंबाई तक ही उकेरा जायगा ज्यादा नहीं, वैसे ही बाल और पंडित दोनों समान रीति से नियत समय तक ससार भ्रमण करेंगे और उसके बाद ही उनके दु खों का अन्त होगा।'

अन्तिम नियतिवाद के उपदेश को छोड कर यही योजना मज्झिमनिकाय और संयुक्तनिकाय में भिक्खु पकुधकच्चायन की और तिब्बती दुल्व में अजितकेशकंबल की होने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि केवल आजीविकों के ही नहीं दूसरे भी तत्कालीन दार्शनिकों के सैद्धान्तिक विचार इसी प्रकार के होंगे।

इस योजना मे उल्लिखित मनुष्यों की षड् अभिजातियों का स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचन मे दिये हुए छ लेश्याओं के स्वरूप से मिलता जुलता है और पाँच इन्द्रियों के द्वारा किया गया प्राणियों का पाँच मे विभाग भी जैन प्रवचन की शैली से मिलता है। इसके अतिरिक्त 'सव्वे जीवा सव्वे सत्ता' इत्यादि शब्द रचना भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से अक्षरश मिलती है।

आजीविक आत्मवादी, पुनर्जन्मवादी और निर्वाणवादी होते थे, तो इनके सिद्धान्तों से ही निश्चित है, पर उनके मत में आत्मा का रूप क्या था, यह जानना कठिन है।

बौद्ध मज्झिमनिकाय में लिखा है कि बुद्ध के विरुद्ध छहों भिक्षु- समान रीति से यह प्रतिपादन करते थे कि 'प्रबुद्ध आत्मा' निर्वाण बाद अपना अस्तित्व जारी रखती है, तथापि इस अस्तित्व के खास र पर इनमें मतभेद था। गोशालक का मत था कि आत्मा 'रूपी' और महावीर की मान्यता थी कि यह 'अरूपी' है।

जैनसूत्र सूत्रकृताङ्ग मे तीन सौ त्रेसठ प्रवादियों के क्रियावादी, क्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी—ये चार विभाग किये इनमें से दूसरे अक्रियावादियों के मूल आठ भेद स्थानाङ्गसूत्र में हैं जिनमें सातवां भेद नियतिवादियों का है।

जैन नन्दीसूत्र मे दृष्टिवादाग के वर्णन मे ग्यारह परिकर्मों का निरू- करके लिखा है कि चार परिकर्म चतुष्कनय सबधी हैं और सात राशिक सबधी। सूत्रगत के निरूपण मे बाईस सूत्रों के नाम निर्देश के लिखा है कि ये बाईस सूत्र छिन्नच्छेदनयिक हैं, जो जैन दर्शन के का अनुसरण करते हैं। ये ही बाईस सूत्र अच्छिन्नच्छेदनयिक हैं जो जीविक सूत्र की परिपाटी का अनुसरण करते हैं। ये ही बाईस सूत्र नयिक हैं जो त्रैराशिक सूत्र की परिपाटी का अनुसरण करते हैं ये ही बाईस सूत्र चतुष्कनयिक हैं जो जैन प्रवचन का अनुगमन ते हैं। इस प्रकार सब मिलकर अठासी सूत्र होते हैं।

र्युक्त वर्णन मे त्रैराशिक और आजीविकों का उल्लेख है और वह भी ही नहीं पर उनके मतानुसारी बाईस बाईस सूत्रों की सूचना के । टीकाकारों के कथनानुसार ये त्रैराशिक भी गोशालक के ही य थे और सत् असत् सदसत्, नित्य अनित्य नित्यानित्य इत्यादि त्र तीन राशियों की मान्यता के कारण वे त्रैराशिक कहलाते थे।

सूत्रकृताङ्ग की टीका मे आचार्य शीलाकसूरि ने भी त्रैराशिकों गोशालक के शिष्य लिखा है। परन्तु त्रैराशिक गोशालक के शिष्य थे, कथन मे प्रमाण क्या है सो हम नहीं कह सकते। इसके विपरीत

त्रैराशिक जैन संघ में से निकले थे ऐसा प्रमाण जैनागम कल्पसूत्र में मिलता है। आर्यमहागिरि के प्रशिष्य रोहगुप्त के वर्णन में सूत्रकार लिखते हैं—"एत्थ तेरासिया निग्गया" अर्थात् यहाँ से त्रैराशिक निकले।

आर्यमहागिरि आर्यस्थूलभद्र के बड़े शिष्य थे और जिनकल्पिकों का अनुकरण करते हुए वे अचेलक होकर विचरते थे। उनका अनुसरण करनेवाले उनके कतिपय शिष्य भी वैसा ही करते थे। आश्चर्य नहीं, त्रैराशिक मत का प्रवर्तक रोहगुप्त भी उसी कोटि का हो और उसे आजीविकों की तरह नग्न रहते देख उसके विरोधियों ने 'गोशालक शिष्य' इस नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रमणसघ से बहिष्कृत होने के बाद रोहगुप्त स्वय ही आजीविकों के सघ मे मिल गया हो। कुछ भी हो, जहाँ तक हमारा ख्याल है, त्रैराशिकों की उत्पत्ति जैनसघ से मानना अधिक युक्तिसंगत है।

उक्त नन्दीसूत्र के वर्णन मे बाईस 'अछिन्नच्छेदनयिक' सूत्र आजीविकों की सूत्र परिपाटी का अनुसरण करनेवाले कहे हैं। यद्यपि 'अछिन्नच्छेदनय' का अर्थ टीकाकारों ने स्पष्ट नहीं लिखा, परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं इसका तात्पर्य अशुद्ध नैगम, सग्रह और व्यवहार नय से है। यदि हमारी यह कल्पना ठीक मानी जाय तो यह अनुमान कर लेना अनुचित नहीं होगा कि आजीविक द्रव्यार्थिक नयों को माननेवाले थे। उनकी कतिपय दूसरी बातों से भी इस अनुमान का समर्थन होता है।

इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर पर्यायार्थिक नयों के अधिक आग्रही थे, यह बात जमालि के विरोध के कारण को विचारने से स्वय समझ मे आ सकती है। महावीर के 'करेमाणे कडे' के विरुद्ध जमालि ने 'कडे कडे' यह प्ररूपणा की थी। वस्तुत दोनों कथनों में भिन्न भिन्न नयों की अपेक्षा थी। महावीर की दृष्टि 'ऋजुसूत्र' नामक पर्यायार्थिक नय पर थी और जमालि की 'व्यवहार' नामक द्रव्यार्थिक नय पर।

महावीर ने जमालि को एक मात्र इसी दृष्टि-भेद के कारण निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रत्यनीक मान कर सघ से बहिष्कृत कर दिया था। इससे

यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि महावीर को पदार्थ प्ररूपण में अशुद्ध नयों का आसरा लेना पसद नहीं था अर्थात् प्रमेय का जिज्ञासित स्वरूप जुदाकर न समझानेवाले नयों से पदार्थ निरूपण करना महावीर पसद नहीं करते थे। इससे सिद्ध है कि उनका झुकाव ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत इन चार नयों की तरफ अधिक था। यही कारण है कि नन्दीसूत्रकार ने छिन्नच्छेदनयिक सूत्रों को स्वसमयपरिपाट्यनुसारी कहा है और अच्छिन्नच्छेदनयिक सूत्रों को आजीविकसूत्र परिपाट्यनुसारी।

सूत्रकृताङ्ग की टीका मे त्रैराशिकों की मान्यताओं के वर्णन मे लिखा है कि 'वे आत्मा की तीन अवस्था मानते हैं—समला, शुद्धा और अकर्मा।'

जिस तरह मलिन जल उभालने से शुद्ध होता है और उसमे के रजकण नीचे बैठ जाने पर वह बिलकुल निर्मल हो जाता है, इसी तरह कर्ममल से लिप्त आत्मा तप-सयम से शुद्ध होती है और सर्वकर्मांशों से मुक्त होने पर अकर्मा। पर जैसे निर्मल हुआ जल भी वायु आदि से रजकण गिरने से पुन समल हो जाता है, उसी प्रकार अकर्मक आत्मा भी अपने तीर्थ की उन्नति अवनति को देख रागद्वेषवश हो फिर समल हो जाती है और अपने तीर्थ की उन्नति करती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त गोशालक शिष्य त्रैराशिकों का होना लिखा है, पर एक तो त्रैराशिक गोशालक के ही शिष्य थे इस बात का कुछ प्रमाण नहीं है। दूसरा उन्हें गोशालक के मतानुयायी मान लेने पर भी इससे यह सिद्ध होना कठिन है कि गोशालक की भी यही मान्यता थी क्योंकि गोशालक के स्वर्गवास के बहुत पीछे त्रैराशिक सप्रदाय निकला था।

पूर्वोक्त नन्दीसूत्र के उल्लेखानुसार पूर्वश्रुत मे आजीविक और त्रैराशिक मतानुसारी सूत्रपरिपाटी का वर्णन होने से डा० हार्नले का

आजीविक और दिगम्बर

कथन है कि जिन आजीविक और त्रैराशिकों का नन्दी मे उल्लेख है वे गोशालक से बदल कर महावीर के पास गये हुए आजीविक थे। ये दोनों सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ

सम्प्रदाय से, पृथक् नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि वर्तमान दिगम्बर जैन सघ उन्हीं आजीविक और त्रैराशिकों का उत्तराधिकारी है। इसके प्रतिपादन में वे कहते हैं —

(१) महावीर के साथ गोशालक का झगड़ा हुआ उस समय जो आजीविक भिक्षु महावीर से जा मिले थे उन्होंने अपना नाग्न्याचार कायम रक्खा था।

(२) आजीविक और त्रैराशिकों के मत का पूर्वश्रुत में वर्णन होने से ये निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के वर्तुल के बाहर के नहीं हो सकते।

(३) आजीविक नग्न होते थे और दिगम्बर भी नग्न होते हैं।

(४) आजीविक एक दण्ड रखते थे और दिगम्बर भी रखते हैं।

(५) तामिल भाषा मे आजीविक शब्द का अर्थ दिगम्बर होता है।

(६) शीलाङ्काचार्य के लेख से आजीविक और दिगम्बर एक साबित होते हैं।

(७) दसवीं सदी के कोषकार हलायुध ने दिगम्बरों को आजीविक लिखा है।

(१) डा० महोदय के 'महावीर से जा मिलनेवाले आजीविक भिक्षु निर्ग्रन्थ सघ मे मिलने के बाद भी नग्न ही रहे थे' इस कथन मे कुछ भी प्रमाण नहीं है।

(२) पूर्वश्रुत मे उल्लेख होने से ही आजीविक और त्रैराशिकों को निर्ग्रन्थ सघ के वर्तुल के भीतर मान लेना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वश्रुत दृष्टिवाद का एक भाग होने से उसमे अन्य दार्शनिकों के मत का उल्लेख होना कोई नयी बात नहीं है। दृष्टिवाद मे प्रत्येक दर्शन की आलोचना प्रत्यालोचना होना स्वाभाविक है। आजीविक और त्रैराशिकों के सिद्धान्त अधिकाश मे जैन सिद्धान्तों से मिलते जुलते थे इस वास्ते सूत्र विभाग में इनके मतानुसारी सूत्रों का होना कुछ अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं है और इस कारण से ही इनको निर्ग्रन्थ सघ में मान लेना ठीक नहीं।

(३) आजीविक और दिगम्बर दोनों नग्न होने से भी एक नहीं

हो सकते। आजीविकों की ही तरह पूरणकश्यप और उसके अनुया
भी नग्न रहते थे, तो क्या नग्नता के नाते इनको भी उन दोनों
अभिन्न मान लिया जायगा ? कभी नहीं। वर्तमान समय में निरज
आदि अनेक वैष्णव साधुओं की जमातें नग्न रहती हैं फिर भी व
कभी नहीं कह सकते कि दिगम्बर जैन साधु इनसे अभिन्न हैं।

(४) दिगम्बर जैनों के एक दण्ड रखने के विधान की बात व
हम सत्य नहीं मान सकते। जहाँ तक हमें ज्ञात है दिगम्बर जैन सा
किसी भी तरह का दण्ड नहीं रखते और न ऐसा करने का उन
शास्त्रों में विधान ही है।

(५) तामिल भाषा में आजीविक शब्द का अर्थ 'दिगम्बर' कर
से भी आजीविक और दिगम्बर जैन एक नहीं हो सकते, क्योंकि उ
प्रदेश में आजीविकों का अधिक प्रचार था और वे निरन्तर नग्न ह
रहते थे इस कारण वे वहाँ दिगम्बर भी कहलाते होंगे। परन्तु इ
शब्दार्थ मात्र से दिगम्बर जैन और आजीविक अभिन्न सिद्ध नहीं ह
सकते। नग्न रहने से हर कोई दिगम्बर कहा जा सकता है पर इससे
वह दिगम्बर जैन ही है यह मान लेना युक्तिसगत नहीं।

(६) शीलाकाचार्य ने आजीविक का पर्याय दिगम्बर किया तो
इससे भी उनकी नग्नता मात्र प्रकट होती है, न कि दिगबर जैनों से
अभिन्नता।

(७) हलायुध ने अभिधानरत्नमाला में दिगम्बर जैनों को आजी-
विक कह दिया, इससे भी वे अभिन्न सिद्ध नहीं किये जा सकते। कोष
कार कुछ प्रामाणिक इतिहासकार नहीं होते कि वे जो कुछ लिखें प्रमाण
सिद्ध ही लिखें। अपने समय में जिस शब्द का जो अर्थ किया जाता हो
उसे उस अर्थ में लिख देना, इतना ही कोषकारों का कर्तव्य होता है।
हलायुध के समय में दिगम्बर जैनों को जैनेतर लोग आजीविक नाम से
भी पहचानते होंगे इस कारण कोषकार ने उन्हें आजीविक भी लिख
दिया, पर इतने ही से वे आजीविक नहीं हो सकते।

ऊपर हमने देखा कि डा० हार्नले के दिये हुए प्रमाणों में एक भी
प्रमाण ऐसा नहीं जो दिगम्बर जैनों को ही आजीविक अथवा त्रैराशिक

सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त दिगम्बरों को त्रैराशिक मानने मे किसी प्रकार का दार्शनिक मान्यता विपयक सादृश्य भी नहीं है। यदि दिगम्बर जैन ही त्रैराशिक होते तो इनमे भी सत् असत् सदसत्, नित्य अनित्य नित्यानित्य इत्यादि त्रैराशिक समत तीन राशि की और तीन नय की मान्यता होती, पर ऐसा कुछ भी नहीं है।

श्वेताम्बर जैनसघ के अनेक नये पुराने ग्रन्थों में दिगम्बर सम्प्रदाय का उल्लेख और वर्णन है, पर कहीं भी इनको श्वेताम्बरों ने 'आजीविक' अथवा 'त्रैराशिक' नहीं कहा। भाष्यों और चूर्णियों में सर्वत्र इनको 'बोडिय' (बोटिक) इस नाम से व्यवहृत किया है। दसवीं सदी के बाद के ग्रन्थों मे आशाम्बर, दिगम्बर, दिक्पट इत्यादि नामों का इनके लिये प्रयोग हुआ है। कहीं भी आजीविक अथवा त्रैराशिक ये शब्द दिगम्बर जैनों के लिये प्रयुक्त नहीं हुए। यदि वे एक होते तो सबसे पहले श्वेताम्बर जैन ही उनको गोशालक शिष्य कहकर तिरस्कृत करते, क्योंकि उनके सबसे अधिक निकटवर्ती वे ही थे। पर वैसा कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने दिगम्बर और आजीविकों का भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ ओघनिर्युक्ति-भाष्य की एक गाथा का अवतरण देंगे जिसमे आजीविक और दिगम्बरों का अलग-अलग उल्लेख है।

साधु वर्षा चातुर्मास्य के लिए ग्राम में प्रवेश करें उस समय होनेवाले अपशकुनों का वर्णन करते हुए उक्त भाष्यकार कहते हैं—

'चक्कयरमि भमाडो, भुक्खामारो य पडुरगमि।
तच्चन्निअ रुहिरपडन, बोडियमसिए धुव मरण ॥१०७॥

अर्थात् (ग्राम में प्रवेश करते समय) चक्रधर भिक्षु सामने मिले तो चातुर्मास्य मे भटकना पडे, पाडुरग आजीविक भिक्षु सामने मिले तो भूख और मार सहन करना पड़े, बौद्ध भिक्षु के सामने मिलने पर खून गिरे और बोटिक दिगम्बर जैन तथा असित-भौत नामक भिक्षुओं के सामने मिलने पर निश्चित मरण हो।

उपर्युक्त गाथा मे आजीविकों के लिये 'पांडुरग' और दिगम्बरों के

लिये 'बोडिय' नाम प्रयुक्त हुए हैं। यदि वे दोनों एक ही होते तो उनका भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती।

इन सब बातों का विचार करने पर यह बात निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर जैन मूल निर्ग्रन्थ सघ का ही एक विभाग है। आजीविक या त्रैराशिकों से इसका कुछ भी सबन्ध नहीं।

अब हम आजीविकों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे।

आजीविकों का इतिहास

बौद्ध महावश मे लका के राजा 'पाड्डुकाभय' के आजीविकों के लिये एक मकान बनवाने का उल्लेख है। यदि महाचशकार का यह कथन ठीक हो तो ई० स० पूर्व पाँचवीं सदी के अतिम चरण तक आजीविक लका तक पहुँच गये थे, यही कहना चाहिये।

उपलब्ध साधनों मे आजीविकों के सबन्ध मे सबसे प्राचीन उल्लेख तो गया के पास बर्बर पहाड़ की एक गुफा की दीवार पर खुदे हुए अशोक के एक लेख मे है। इसमे लिखे मुजब यह लेख महाराजा अशोक के राज्य के तेरहवें वर्ष मे खोदा गया था। इस लेख का भाव यह है—'राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीविकों को अर्पण की।'

दूसरा उल्लेख इसी महाराज अशोक के शासन स्तभों मे के सातवें स्तम्भ पर राज्य के २८ वें वर्ष मे खुदे हुए लेख मे आता है जो इस प्रकार है—'मैंने योजना की है कि मेरे धर्म महामात्र बौद्ध सघ के, ब्राह्मणों के, आजीविकों के, निर्ग्रन्थों के और वास्तविक भिन्नतावाले कुछ पाषण्डों के कार्य में व्याप्त हो जायँगे।'

तीसरा प्राचीन उल्लेख नागार्जुन की गुफा की दीवारों पर खुदे हुए अशोक के पुत्र दशरथ के लेख मे आता है, जो इस प्रकार है—'यह गुफा महाराज दशरथ ने राजगद्दी पर आने के बाद तुरन्त आचन्द्रार्क निवास के लिये सम्मान्य आजीविकों को अर्पण की।'

पहले जो आजीविकों के पास कालकाचार्य के निमित्त शास्त्र पढने की बात कही गई है, उससे सिद्ध है कि विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी मे दक्षिण भारत मे आजीविकों का खासा प्रचार था।

'आजीविकों का एक विचित्र वृत्तान्त सदजीरो सुगुइर (Sadajiro Suguira) 'हिन्दू लोजिक ऐज प्रीजर्व इन चाइना एण्ड जापान' नामक छोटे ग्रन्थ मे आता है।

उपोद्‌घात के पृष्ठ सोलह पर ग्रन्थकार कहता है—'चीनी और जापानी ग्रन्थकर्त्ता बार-बार इन महासम्प्रदायों में (अर्थात् सुप्रसिद्ध छ भारतीय सम्प्रदायों में) दो विशेष सम्प्रदायों का समावेश करते हैं जो 'निकेन्दनी' और 'अशिविक' के नाम से पहिचाने जाते हैं और एक दूसरे से बिलकुल मिलते जुलते हैं। ये दोनों मानते हैं कि पापी जीवन का दण्ड जल्दी या देरी से चुकाना ही पड़ता है और इससे बचना अशक्य होने से जैसे भी हो यह जल्दी ही चुकाना अच्छा है, जिससे कि भावी जीवन आनन्द में निर्गमन हो सके। इस प्रकार इनके विचार तापसिक थे। उपवास, मौन, अचलासन और आकंठ अपने को दबाये रखना ये इनकी तपस्या के बोधक थे। सम्भवत ये सम्प्रदाय जैन अथवा किसी अन्य हिन्दू सम्प्रदाय की शाखायें थीं।'

उक्त लेख में उल्लिखित 'निर्ग्रेन्दनी' और 'अशिविक' क्रमश निर्ग्रन्थव्रती और आजीविक हैं, इसमे कुछ भी सशय नहीं है।

बृहज्जातक के प्रव्रज्यायोग प्रकरण में वराहमिहिर ने जो सात भिक्षु वर्ग बताये हैं उनमें आजीविक भी शामिल हैं।

विक्रम की सातवीं सदी की कृति निशीथचूर्णि में 'आजीविक' शब्द का परिचय देते हुए चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर लिखते हैं— 'आजीवक गोशालक शिष्य होते हैं जो पडरभिक्षुक भी कहलाते हैं।'

ओघनिर्युक्ति-भाष्यकार भी आजीविकों का पाण्डुरग नाम से व्यवहार करते हैं जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

अनुयोगद्वार चूर्णि में 'पडरग' शब्द का पर्याय बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं—"पडरगा सा (सस) रक्खा" अर्थात् 'पडरग' का अर्थ 'सरजस्क' भिक्षु है।

दसवीं सदी के प्रसिद्ध जैन टीकाकार आचार्य शीलाक ने एकदण्डियों को शिवभक्त बताया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार भट्टोत्पल ने बृहज्जातक की टीका

मे 'आजीविकों' का अर्थ 'एकदण्डी' किया है और उन्हें 'नारायण का भक्त लिखा है।

उपर्युक्त प्रमाणों और नामोल्लेखों से जो निष्कर्ष निकलता है उसका सार यह है कि बृहज्जातक के उल्लेख से पाया जाता है कि वराहमिहिर के समय अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध तक आजीविक विद्यमान थे और वे 'आजीविक' नाम से ही पहचाने जाते थे।

निशीथचूर्णि और ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार के समय विक्रम की सातवीं शताब्दी में आजीविक 'गोशालक शिष्य' के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी 'पाण्डुरभिक्षु' अथवा 'पाण्डुरगभिक्षु' कहलाने लगे थे।

अनुयोगद्वारचूर्णि मे 'पडुरग' शब्द का पर्याय 'सरजस्क' लिखा है। इससे हमे उनका 'पाण्डुरग' यह नाम प्रचलित होने का कारण भी समझ में आ जाता है। आजीविक भिक्षु नग्न रहते थे, इस कारण सभव है कि शीतनिवारणार्थ शैव सन्यासियों की तरह इन्होंने भी अपने शरीर पर भस्म या किसी तरह की सफेद धूल (रजस्) लगाना शुरू कर दिया हो और इससे वे पाडुरग (भूरे रगवाले) या 'पाडुराङ्ग' (धूसर शरीरवाले) कहलाने लगे हों। कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि इन नामों के साथ ही आजीविक नये धर्म सम्प्रदायों के निकट पहुँच चुके थे और इसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिये था। विक्रम की आठवीं सदी में पहुँच कर आजीविक अपना अस्तित्व खो बैठे। वे हमेशा के लिये शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में मिल कर उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गये। आचार्य शीलाङ्क इनको शैव और भट्टोत्पल नारायणभक्त बताते हैं उसका यही कारण है।

दक्षिण भारत मे तथा अन्यत्र आज तक निरजनी आदि नग्न सन्यासियों की जमातें जो दृष्टिगोचर होती हैं, हमारे ख्याल से ये उसी नामशेष आजीविक सम्प्रदाय के अवशेष हैं।

अब हम एक शका का निराकरण कर के इस लेख को पूरा करेंगे।

'विक्रम की आठवीं शताब्दी मे ही आजीविक सम्प्रदाय नामशेष हो गया था' हमारे इस कथन पर प्रश्न हो सकता है कि यदि आठवीं शताब्दी में ही आजीविकों की समाप्ति हो गई होती तो विक्रम की

तेरहवीं सदी के चौथे और चौदहवीं सदी के पहले चरण में चोलराजा राज के द्वारा पेरुमाल के मन्दिर की दीवारों पर खुदवाये गये सवत् १२९५-१२९६, १३०० और १३१६ के शिलालेखों मे आजीविकों पर कर लगाने का उल्लेख कैसे होता ?

उत्तर यह है कि उक्त लेखों मे आजीविकों पर कर लगाने का जो उल्लेख है, वह गोशालकशिष्य आजीविकों के लिये नहीं किन्तु आजीविकों के सादृश्य से पिछले समय मे 'आजीविक' नामप्राप्त 'दिगम्बर' जैनों के लिये है।

दक्षिण भारत आजीविक और दिगम्बर जैन दोनों ही का मुख्य विहार क्षेत्र था। यही नहीं, दोनों ही सम्प्रदायवाले दिगम्बर और अवैदिक भिक्षु थे। इस कारण सर्वसाधारण मे उन दोनों का भेद समझना सहज नहीं था। लोग आजीविकों को दिगम्बर समझ लेते थे और दिगम्बरों को आजीविक भी। परन्तु जब से खरे आजीविक आजोविक मिटकर पण्डुरगादि नामों से प्रसिद्ध हो वैष्णवादि सम्प्रदायों में मिल गये तबसे आजोविक नाम केवल दिगम्बर जैनों के लिये ही रह गया। धनञ्जय दिगम्बर जैनों के आजीविक नाम से प्रसिद्ध होने की जो बात कहता है उसका कारण भी इससे समझ मे आ जाता है क्योंकि उस समय से बहुत पहले ही वास्तविक आजीविकों का अस्तित्व मिट चुका था और नग्न भिक्षुओं के लिये सुप्रसिद्ध 'आजोविक' नाम का प्रयोग नग्न भिक्षुओं के नाते दिगम्बर जैन साधुओं के लिये रूढ हो गया था। राजा राज के लेखों मे दिगम्बर जैनों के लिये जो 'आजीविक' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका यही कारण है।

आजीविक मत सम्बन्धी मुख्य बातों का यथोपलब्ध वर्णन ऊपर कर दिया। गोशालक के जीवन वृत्तान्त और 'मखलिपुत्र' नाम के सम्बन्ध में ऊपर ऊहापोह नहीं किया, क्योंकि जीवन वृत्तान्त चरित्र खड मे 'गोशालक' नामक परिच्छेद में आ गया है और 'मखलिपुत्र' नामकी चर्चा कुछ महत्त्व नहीं रखती। इस विषय में हमारे विचार डा० हार्नले के विचारों से भिन्न हैं।

६ उपसंहार

जैन सूत्रों में गोशालक की जाति और आजीविका के सम्बन्ध में जो लिखा है उसे हम यथार्थ मानते हैं। प्राचीन जैन सूत्रों में जहाँ तहाँ तमाशगीरों की नामावली आती है वहाँ सर्वत्र 'मख' नाम भी आया करता है। इस वास्ते 'मख' शब्द का टीकाकारों ने जो अर्थ किया है उसमें शंका करने का कोई कारण नहीं दीखता। गोशालक का जितना परिचय जैनों को था उतना बौद्धों को नहीं। इस वास्ते बौद्धों का यह कथन कि 'मखलि' यह गोशालक का नाम था, कुछ भी प्रमाण नहीं रखता। 'मखलि' यह गोशालक के बाप या जाति का नाम था। इसीलिये उसके नाम के साथ सर्वत्र 'मखलिपुत्र' यह विशेषण बोला जाता था। बौद्धों ने इस विशेषण के एक देश 'मखलि' का गोशालक के लिये ही प्रयोग कर डाला और पिछले लेखकों ने उसका संस्कृत रूप 'मस्करिन्' बनाकर उसे 'परिव्राजक' शब्द का पर्याय बना लिया। डा० हार्नले का अभिप्राय है कि 'मखल' जैसा कोई शब्द नहीं जिससे 'मखलि' शब्द सिद्ध हो। इसलिये 'मस्करिन्' का प्राकृत रूप 'मखलि' अथवा 'मक्खलि' मानकर उसे गोशालक का नाम मानना ही ठीक है, क्योंकि गोशालक और उसके अनुयायी एक दण्ड रखते थे जो संस्कृत भाषा में 'मस्कर' कहलाता था और जिसके धारण करने से गोशालक 'मस्करी' कहलाता था।

जहाँ तक हम समझते हैं 'मक्खलिपुत्त' गोशालक के सम्बन्ध में डा० महोदय की यह कल्पना प्रामाणिक नहीं। गोशालक या उसके समय के आजीविक भिक्षु वंश-दण्ड रखते थे, यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती।

उस समय में जो एकदण्डी सन्यासियों का सम्प्रदाय था उसका आजीविकों से कोई वास्ता नहीं था, यह बात सूत्रकृताङ्ग की टीका में वर्णित आर्द्रक मुनि के वृत्तान्त और दूसरे अनेक वर्णनों से सिद्ध है। गोशालक 'मस्करी' श्रमण कहलाता था यह सत्य, पर उसका कारण 'मस्कर' नहीं, उसके बाप की अथवा जाति का नाम 'मखलि' था।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, गोशालक के स्वर्गवास के बाद जैनों की तरह आजीविकों में भी दण्ड रखने की प्रथा चली थी और वह दण्ड भी मुख्यतया वंश का ही होता था।

पिछले समय के विद्वानों को आजीविक 'मस्करी' क्यों कहलाते हैं इसका वास्तविक ज्ञान न होने से वे वश को ही 'मस्कर' मानकर 'मस्करयोगात् मस्करी' इस प्रकार की व्याख्या करने लगे। यही कारण है कि भाष्यकार पतञ्जलि जैसे प्रौढ विद्वान् ने इस व्याख्या पर अरुचि प्रदर्शित की है।

कापिल, योगी, बौद्ध आदि अनेक अवैदिक सम्प्रदायों की ही तरह आजीविक सम्प्रदाय भी सैकड़ों वर्षों से वैदिक धर्म की वृहत्कुक्षि मे समाया हुआ है तथापि इसके बहु व्यापक सस्कार भारतवर्ष से कभी मिटनेवाले नहीं।

दाक्षिणात्य वैष्णव सम्प्रदायों का जो दया के सिद्धान्त की तरफ अधिक झुकाव है उसका भी कुछ श्रेय आजीविक सम्प्रदाय के हिस्से जायगा और इन सबसे अधिक व्यापक 'यद्भाव्य तद्भविष्यति' वाला सिद्धान्त आज भी कितने ही भारतवासियों के हृदय पर जमा हुआ है, जो आजीविकों की ही अमर देन है।

षष्ठ परिच्छेद

जिनकल्प और स्थविरकल्प

भगवान् महावीर के श्रमणगण मे आचार मार्ग दो थे—एक स्थविरकल्प और दूसरा जिनकल्प।

सभी मनुष्य पहले 'स्थविरकल्प' मे दीक्षित होते थे। पर विशिष्ट सहनन और श्रुतसपत्ति पाने के उपरान्त उनमे से जो श्रमण अधिक उग्र चर्या धारण करना चाहते वे 'स्थविरकल्प' से निकल कर 'जिनकल्प' का स्वीकार करते थे और तब से वे 'जिनकल्पिक' कहलाते थे।

श्वेताम्बर जैनों के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों मे जिनकल्पिक की व्याख्या करते हुए उसकी योग्यता के विषय मे लिखा गया है कि जो वज्रऋषभनाराचसहननवाला और साढे नवपूर्व के ऊपर तथा दशपूर्व के भीतर श्रुत पढा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' (हाथ मे भोजन करने वाले) और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(१) पाणिपात्र भी उपधिभेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे।

(२) पात्रधारी भी उक्त दो, तीन, चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्र निर्योग के रखने से क्रमश नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि के कारण चार प्रकार के होते थे। इस प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार 'जिनकल्पिकों' के मूल दो और और उत्तर आठ भेद होते थे।

दिगम्बर जैनाचार्य देवसेन कृत 'भावसग्रह' मे जिनकल्पिकों का वर्णन नीचे मुजब उपलब्ध होता है—

"तीर्थंकरों ने 'कल्प' दो प्रकार का कहा है—'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प'। जिनकल्प उत्तम संहननधारी के लिये कहा है। जिन-कल्प में रहे हुए मुनि पैर मे लगा कांटा या नेत्र में गिरि रज को स्वय नहीं निकालते, दूसरों के निकालने पर वे मौन रहते हैं। जलवृष्टि आदि के कारण विहार मार्ग रुक जाने पर वे छ मास तक निराहार कायोत्सर्ग ध्यान में रहते हैं। वे एकादशाङ्ग सूत्रों के धारक, धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्यानेवाले, सपूर्ण कषायत्यागी, मौनव्रती और गुहावासी होते हैं। बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह रहित नि स्नेह नि स्पृह होकर जिनकी तरह विचरते हैं, अतएव वे जिनकल्पस्थित श्रमण कहलाते हैं।"

अब हम इन्हीं जिनकल्पिकों का वर्णन दिगम्बर विद्वान् वामदेव के 'भावसंग्रह' के आधार पर लिखेंगे।

'अब जिनकल्प नामक वृत्तान्त कहते हैं जिससे कि भव्य आत्माओं को मुक्ति का सङ्गम प्राप्त होता है। जिनकल्पिक शुद्ध सम्यक्त्व युक्त, इन्द्रिय और कषायों को जीतनेवाले, एकादशाङ्ग श्रुत को एक अक्षर की तरह जाननेवाले होते हैं। पैर में लगा कांटा और आँखों मे गिरी हुई रज को वे स्वय नहीं दूर करते, दूसरों के दूर करने पर वे मौन रहते हैं। वे प्रथम सहनन(वज्रऋषभनाराच)वाले और निरन्तर मौनी होते हैं। पर्वत की गुफाओं मे, जङ्गलों मे अथवा नदी के तट पर रहते हैं। वर्षाकाल में मार्ग जीवाकुल होने पर छ मास तक नि स्पृह और निराहार कायोत्सर्ग-ध्यान में खडे रहते हैं। मोक्षसाधन मे एकनिष्ठावाले, रत्नत्रय से शोभित, नि संग और निरन्तर धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं। ये मुनि 'जिन' की तरह अनियतवासी होकर विचरते हैं, इसी कारण से आचार्यों ने इनको 'जिनकल्प' इस नाम से कहा है।

स्थविरकल्पिक।

श्वेताम्बर जैन आगमों में स्थविरकल्पिकों का जो वर्णन मिलता है, उसे हम दो भागों में बाँटेंगे और उनको क्रमश 'सूत्रकालीन' तथा 'भाष्यकालीन' इन नामों से पहचानेंगे।

सूत्रकालीन स्थविरों का वर्णन इस प्रकार है—

"जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी

चतुर्थ वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर माँगने चाहिये और जैसे मिलें वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, न धुले रंगे वस्त्रों को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्प वस्त्रवान् होकर फिरे। यही वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे या कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रख कर बाकी त्याग दे अथवा बिलकुल अचेल बन जाय। इस प्रकार करता हुआ वह अपने को हलका बनाता है और इससे एक प्रकार की तप साधना होती है। जो बात भगवान् ने कही है उसे यथार्थ समझना चाहिये।

"जो भिक्षु एक पात्र और दो वस्त्रों के साथ रहता है उसे तीसरे वस्त्र की याचना नहीं करनी चाहिये।

"जो भिक्षु एक पात्र और एक वस्त्र के साथ रहता है उसे दूसरा वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

"जो भिक्षु अचेलक होकर रहता है यदि वह यह समझे कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, तेज स्पर्श, दशमशकस्पर्श और दूसरा कोई भी भयकर स्पर्श सहन कर सकता हूँ, पर लज्जा प्रतिच्छादन को नहीं छोड़ सकता तो वह कटिबन्धन रख सकता है। अचेलक होकर विचरने में तृण, शीत, ताप और दशमशक का स्पर्श अथवा कोई अन्य भयकर स्पर्श भी आ पड़े तो उसे सहन करे। अचेलक में लघुता समझ कर उक्त परीषह सहन करे।

"जो भी दो वस्त्रों से, तीन वस्त्रों से, बहुवस्त्रों से अथवा अचेलकता से अपना निभाव करते हैं वे एक दूसरे की निन्दा नहीं करते क्योंकि वे सभी जिनाज्ञा में चलते हैं।"

अब हम भाष्यकालीन अर्थात् विक्रम की दूसरी तीसरी सदी के स्थविरों के वेष और उपकरणों का वर्णन करेंगे—

भाष्यकाल मे स्थविरों के उपकरणों मे कुछ वृद्धि हो गई थी। यद्यपि तीन वस्त्र, कटिबन्ध और एक पात्र रखने की रीति पहले से ही चली आती थी पर उसमें खास परिवर्तन यह हुआ था कि पहले जो

कटिबन्ध नामक एक छोटा चिथडा कमर पर लपेटा जाता था और जिसके दोनों अचल गुह्य भाग ढाँकने के निमित्त आगे की तरफ लटके रहने के कारण 'अग्रावतार' भी कहलाता था, उसका स्थान अब चोल-पट्टक ने ग्रहण कर लिया था। पहले प्रतिव्यक्ति एक ही पात्र रक्खा जाता था पर आर्यरक्षितसूरि ने वर्षाकाल मे एक 'मात्रक' नामक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर 'मात्रक' भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली मे भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई। परिणाम स्वरूप स्थविरों के कुल १४ उपकरणों की सख्या हुई जो इस प्रकार है —

१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्रस्थापन, ४ पात्रप्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८, ९ दो सौत्र वस्त्र (चादरें) १० ऊनी वस्त्र (कम्बल), ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्रिका, १३ मात्रक और १४ चोलपट्टक।

यह उपधि 'औघिक' अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमे जो कुछ उपकरण बढाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधि में सस्तारक, उत्तरपट्टक, दडासन और दडक ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकल के श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।

आचार्य देवसेन अपने 'भावसग्रह' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं —"जिन ने साधुओं के लिये स्थविरकल्प भी कहा है। वह इस प्रकार है—पचवस्त्रत्याग, अकिंचनता, प्रतिलेखन, पच महाव्रतों का धारण करना, खडे भोजन, एक बार भोजन, हाथ मे भोजन (वह भी समय पर भक्ति पूर्वक दिया हुआ), भिक्षा की याचना न करना, दो प्रकार के तप में उद्यम करना, सदाकाल छ प्रकार का आवश्यक करना, भूमिशयन, केशलोच और जिनवर के जैसा प्रतिरूप ग्रहण करना।

दिगम्बराचार्यों का स्थविरकल्प

"सहनन के गुण और दु षमकाल के प्रभाव से आजकल स्थविर-

कल्पस्थित साधु पुर, नगर और ग्रामवासी हो गये हैं और उन्होंने वह उपकरण भी ग्रहण किया है जिससे कि चारित्र का भग न होता हो। योग्य होने पर पुस्तकदान भी स्वीकार करते हैं। समुदाय से विहार, यथाशक्ति धर्मप्रभावना, भव्य जीवों को धर्मोपदेश, शिष्यों का पालन तथा ग्रहण स्थविरकल्पिकों का आचार है। यद्यपि सहनन तुच्छ, काल दु षम और मन चपल है तथापि धीर पुरुष महाव्रतों का भार उठाने मे उत्साहवार् हैं।

"पूर्वकाल मे उस शरीर से हजार वर्ष मे जितने कर्मों का नाश करते थे, आजकल के हीनसहननी एक वर्ष मे उतने कर्मों की निर्जरा करते हैं।"

अब हम महावीर के शासन मे 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' नामक दो शाखाए निकलने के कारण पर विचार करेंगे।

कुछ यूरोपीय और भारतवर्षीय विद्वानों का यह ख्याल है कि महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही उनके शिष्यों में दो विभाग हो गये थे। पर वास्तव मे यह बात नहीं है। जिन बौद्ध उल्लेखों के आधार पर वे ऐसा ख्याल करते हैं वे उल्लेख वस्तुत महावीर की जीवित अवस्था मे उनके शिष्य जमालि द्वारा खड़े किये गये मतभेद के सूचक हैं। यह बात हम ने 'वीरनिर्वाण सवत् और जैन कालगणना' नामक पुस्तक मे प्रमाणपूर्वक समझा दी है। जहाँ तक हम समझते हैं इस मतभेद का बीज 'आचाराङ्गसूत्र' का वह उल्लेख है कि जिसमें साधु को अचेलक रहने मे लाभ बताया है।

मतभेद का अङ्कुर

महावीरनिर्वाण के बाद चौंसठ वर्ष तक उनके शिष्यों में स्थविरकल्पिक और जिनकल्पिक दोनों तरह के साधु रहे, पर बाद में जिन कल्प का आचरण बद पड गया और लगभग डेढ सौ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविरकल्प मे रहनेवाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे, तथापि शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र और एक पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति भद्रबाहु के पट्टधर आर्य स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही।

आर्य स्थूलभद्र के शिष्यों में से सब से बडे आर्य महागिरि ने पिछले

समय मे अपना साधुगण आर्य सुहस्ती को सौंप दिया और आप वस्त्र-पात्र का त्याग कर जिनकल्पिक साधुओं का सा आचार पालने लगे। यद्यपि वे स्वय जिनकल्पिक होने का दावा नहीं करते थे तथापि उनका झुकाव वस्तुत जिनकल्प की ही तरफ था।

उस समय के सब से बडे श्रुतधर होने के कारण आर्य महागिरि के इस आचरण का किसी ने विरोध नहीं किया, बल्कि जिनकल्प की तुलना करनेवाले कहकर उनके सतीर्थ्य आर्य सुहस्ती जैसे युगप्रधान ने उनकी प्रशसा की, पर आगे जाते यह प्रशंसा महॅगी पडी। आर्य महागिरि तो वीरनिर्वाण सवत् २६१ में स्वर्गवासी हो गये, पर उन्होंने जो जिनकल्प का अनुकरण किया था उसकी प्रवृत्ति वद नहीं हुई। उनके कतिपय शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया। परिणामस्वरूप आर्य महागिरि और सुहस्ती सूरि के शिष्य गण मे अन्तर और मनमुटाव बढने लगा और अन्त मे खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। महागिरि की परम्परावाले आचाराङ्ग के अचेलकत्व प्रतिपादक उस उल्लेख से अपनी प्रवृत्ति का समर्थन करते थे, तब विरोध पक्ष वाले उस उल्लेख का अर्थ जिनकल्पिकों का आचार होना बताते थे और स्थविरों के लिये वैसा करना निषिद्ध समझते थे। वे कहते थे कि 'बिलकुल वस्त्र न रखना और हाथ मे भोजन करना जिनकल्पिकों का आचार है, स्थविरकल्पिकों को उसकी तुलना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब इस समय उत्तम सहनन न होने से जिनकल्प पाला ही नहीं जाता तो उसका स्वाग करने से क्या लाभ?' इस प्रकार दोनों की तनातनी बढ़ती जाती थी। सम्भवत आर्य महागिरि का शिष्य रोहगुप्त और प्रशिष्य आर्य गग भी बाद मे जिनकल्पिक पक्ष में मिल गये थे जो कि तीन राशियों के और दो क्रियाओं के अनुभव की प्ररूपणा करने के अपराध में सघ से वहिष्कृत किये गये थे। यद्यपि रोहगुप्त, गागेय वगैरह के मिल जाने के कारण वह पक्ष कुछ समय के लिये विशेष आग्रही बन गया था, पर अन्त मे वह निर्बल हो गया। आर्य महागिरि के शिष्य प्रशिष्यों के स्वर्गवास के बाद दो तीन पीढ़ी तक चल कर वह नामशेष रह गया।

इस प्रकार आचाराङ्ग के एक उद्देश रूप बीज से सचेलकता अचेलकता के मतभेद का अकुर उत्पन्न हुआ और कुछ समय के बाद मुरझा गया। यद्यपि इस तनातनी का असर स्थायी नहीं रहा, तथापि इतना जरूर हुआ कि पिछले आचार्यों के मनमें आर्य महागिरि के शिष्यों के सबध में वह श्रद्धा नहीं रही जो वैसे श्रुतधरों के ऊपर रहनी चाहिये थी। यही कारण है कि वालभी युगप्रधान पट्टावली मे आज हम महागिरि के शिष्य बलिसह और स्वाति जैसे बहुश्रुतों का नाम नहीं पाते। उधर आर्य सुहस्ती की स्थविर-परम्परा प्रतिदिन व्यवस्थित और प्रबल हो रही थी और आर्य वज्र तक इसी प्रकार उन्नति करती रही, पर आर्य वज्र के समय मे दो बार पडे हुए दीर्घकालीन दुर्भिक्षों के कारण जैन श्रमणसघ बहुत छिन्न-भिन्न हो गया। वज्र प्रभृति सैकड़ों स्थविर दुष्काल के कारण अनशन करके परलोक सिधार गये। शेष जो बचे थे वे भी एक दूसरे से बहुत दूर चले गये थे। यद्यपि वज्र के बाद आर्यरक्षित, जो कि सर्व सम्मति से सघस्थविर नियत हुए थे, अततक सघ-स्थविर रहे, पर आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद स्थविरों मे दो दल हो गये।

जो श्रमणगण दुष्काल के कारण पूर्व एव उत्तर में दूर तक चले गये थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद आर्य नन्दिल को अपना नया सघ-स्थविर नियत कर लिया। जो श्रमणगण दक्षिण, पश्चिम और मध्य भारत मे विचरते थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद उनके शिष्य पुष्यमित्र को सघ स्थविर माना जो आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी थे। इस प्रकार विक्रम की दूसरी सदी मे श्रमण सघ की यद्यपि दो शाखायें हो गई थीं तथापि उनके आचारमार्ग मे कुछ भी शिथिलता नहीं आने पाई थी। सभी श्रमणगण आचारङ्गसूत्र के अनुसार एक एक पात्र और मात्र शीतकाल मे ओढने के लिये एक, दो या तीन वस्त्र रखते थे। चोलपट्टक का अभी तक प्रचार नहीं हुआ था, पर कटिबन्ध (अग्गोयर–अग्रावतार) का लगभग सार्वत्रिक प्रचार हो गया था। यद्यपि बस्ती के बाहर उसे कोई रखता और कोई बिलकुल नग्न रहता पर बस्ती मे जाते समय सभीको उसका उपयोग करना पड़ता था। शीतनिवारणार्थ जो एक कम्बल और एक दो सूती वस्त्र रक्खे जाते थे वे भी ठडी,

समय मे ही ओढे जाते थे, शेष काल मे ओढने की प्रवृत्ति नहीं थी।

आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास वस्तियों मे होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले वस्ती में जाते समय बहुधा जिस कटिबन्ध का उपयोग होता था वह वस्ती में बसने के बाद निरन्तर होने लगा। धीरे-धीरे कटि-वस्त्र का भी आकार-प्रकार बदलना गया। पहले मात्र शरीर का अगला गुह्य अग ही ढकने का विशेष ख्याल रहता था, पर बाद मे सम्पूर्ण नग्नता ढांक लेने की जरूरत समझी गयी और उसके लिये वस्त्र का आकार प्रकार भी कुछ बदलना पड़ा। फलत उसका नाम 'कटिबन्ध' मिटकर चोलपट्टक (चुल्लपट्ट—छोटा वस्त्र) पड़ा। इस प्रकार स्थविर-कल्पियों मे जो पहले ऐच्छिक नग्नता का प्रचार था उसका धीरे धीरे अन्त हो गया।

आर्य महागिरि के समय से जिनकल्प की तुलना के नाम से कति-पय साधुओं ने जो नग्न रहने की परम्परा चालू की थी वह उस समय के बहुत पहले ही बद हो चुकी थी। आचाराङ्ग के उस अचेलकता प्रति-पादक उल्लेख को जिनकल्प-प्रतिपादक करार दिया जा चुका था और उस समय के ग्रन्थकार चोलपट्टक की गणना स्थविरकल्पियों के मूल उपकरणों मे कर चुके थे।

स्थविरकल्प की जिस परिस्थिति का ऊपर उल्लेख किया गया है उसी परिस्थिति में मथुरा के निकटस्थ 'रहवीर'[1] नामक गॉव मे रह कर आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने फिर जिनकल्प की चर्चा खडी की और स्वय जिनकल्प बनकर चिर काल से मुरझाये हुए जिनकल्प और स्थविरकल्प के मतभेद के अङ्कुर को नवपल्लवित किया।

मतभेदाङ्कुर की नवपल्लवता

१—'रहवीर' गांव कहाँ था, इसका श्वेताम्बर ग्रन्थों में कुछ भी खुलासा नहीं है, तथापि उसे हमने मथुरा के निकट बताया है। इसके दो कारण हैं—

(१) मथुरा के ककाली टीले में से जैन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य आर्य 'कण्ह' की एक अर्ध नग्न मूर्त्ति निकली है जो प्राय विक्रम की द्वितीय शताब्दी के

पाठकों के ज्ञानार्थ हम आवश्यकमूलभाष्य और उसकी चूर्णि में कहा हुआ शिवभूति का वृत्तान्त ज्यों का त्यों यहाँ लिख देते हैं ताकि इस विषय में श्वेताम्बरों की मौलिक मान्यता जानी जा सके।

"महावीर को सिद्ध हुए छ सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर में बोटिकों का दर्शन उत्पन्न हुआ। रथवीरपुर नगर था। वहाँ 'दीपक' नाम का उद्यान था। आर्य कृष्ण नाम के आचार्य वहाँ पधारे।

"वहाँ सहस्रमल्ल शिवभूति नामक एक आदमी रहता था। एक समय उसकी स्त्री ने अपनी सास से शिकायत करते हुए कहा—'वे नित्य आधी रात के समय आते हैं, तब तक मैं जागती हुई भूखी बैठी रहती हूँ। सास ने कहा—आज द्वार बंद कर सो जा, मैं जागूँगी। वह सो गई। आधी रात के समय उसने द्वार खटखटाया। तब माता ने फटकार कर कहा— इस समय जहाँ खुले द्वार दिखाई दे वहाँ चला जा। वह लौट गया और तलाश करने पर साधुओं का उपाश्रय खुला पाया। उसने साधुओं को वन्दन करके कहा—मुझे प्रव्रज्या दीजिये। पर साधुओं ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उसने स्वय अपना लोच कर दिया, तब उसे साधु का वेष दिया गया और उसके साथ साधु वहाँ से चले गये।

"कालान्तर मे साधु फिर वहाँ आये। राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य कम्बल दिया। आचार्य ने कहा—साधुओं को इसकी क्या जरू-

---

प्रारम्भ में निर्मित हुई थी। तथा मथुरा के आसपास और उसके पश्चिम प्रदेश मे बहुत पूर्वकाल में 'कृष्ण गच्छ' अथवा 'कृष्णर्षि गच्छ' नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बराम्नाय का एक प्राचीन गच्छ भी प्रचलित हुआ था जो विक्रम की पन्द्रहवीं सदी तक चलता रहा। कालसाम्य का विचार करने पर हम समझते हैं कि ये मूर्तिवाले और गच्छ के आदिपुरुष वे ही आर्य कृष्ण होंगे जिनके शिष्य शिवभूति ने जिनकल्प का स्वीकार किया था।

(२) दिगम्बराचार्यों ने नियमपूर्वक शौरसेनी भाषा का सब से अधिक आदर किया है जो कि मथुरा के आसपास की प्राचीन काल की भाषा है। इससे भी हमारे अनुमान का समर्थन होता है कि दिगम्बर शाखा का मूल उद्भवस्थान वही शूरसेन देश है जिसकी राजधानी मथुरा थी।

रत है ? तू ने यह क्यों लिया ? यह कहकर बगैर पूछे ही कनल को फाड कर उसकी निषद्यायें (निशीथियें) कर दीं। इससे शिवभूति बहुत नाराज हुआ।

"एक दिन जिनकल्पिक साधुओं का वर्णन हो रहा था कि जिनकल्पिक दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र और पात्रधारी। इस समय शिवभूति ने पूछा—आजकल इतनी उपधि क्यों रखी जाती है ? जिनकल्प क्यों नहीं किया जाता ? आचार्य ने कहा—नहीं किया जा सकता। इस समय उसका विच्छेद हो गया है। शिवभूति बोला—विच्छेद कैसे हो जाय ? मैं करता हूँ। परलोकार्थी को यही करना चाहिये। उपधि-परिग्रह क्यों रखना चाहिये ? परिग्रह में कषाय, मूर्छा, भय आदि बहुत दोष हैं। शास्त्र में भी अपरिग्रहत्व ही कहा है। जिनेश्वर भगवान् भी अचेलक ही थे। इसलिये अचेलकता ही अच्छी है। गुरु ने कहा—तब तो शरीर का भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि किसी को इसपर भी कषाय मूर्छादि हो जाते हैं। शास्त्र में अपरिहग्रत्व कहा है, पर उसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु को धर्मोपकरण पर भी मूर्छा नहीं करनी चाहिये। जिन भी एकान्त अचेलक नहीं थे। शास्त्र में कहा है कि सभी जिनवर एक देवदूष्य के साथ दीक्षित हुए थे। इस प्रकार स्थविरों ने शिवभूति को समझाया, पर कर्मोदय के वश वह वस्त्रों को छोड़ कर चला गया। उत्तरा नामकी उसकी एक बहन थी। वह उद्यान स्थित शिवभूति के वदनार्थ गयी और उसको देखकर उसने भी अपने वस्त्र छोड दिये। वह भिक्षार्थ गाँव में गई। उसे देखकर एक गणिका ने, यह सोचकर कि इसे देखकर लोग हम से भी विरक्त हो जायगे उसके उर प्रदेश पर एक वस्त्र बाध दिया। यद्यपि उसकी इच्छा वस्त्र रखने की नहीं थी, पर शिवभूति ने कहा—'रहने दे, यह तुझे देवता ने दिया है।

"उसने कौंडकुण्ड[1] और वीर नामक दो शिष्य किये और तब से शिष्य परम्परा चली।

१—भाष्य का पाठ "कोडिन्नकोट्टवीरा" है जिसका चूर्णिकार ने 'कोडिन्न' और 'कोट्टवीर' इस प्रकार पदच्छेद किया है और इन्हें शिवभूति का शिष्य लिखा है, परन्तु हमारे विचार में 'कोडिन्नकोट्ट' यह कोण्डकुण्ड का अपभ्रंश

"बोटिक शिवभूति और उत्तरा ने अपनी तर्क बुद्धि से रथवीरपुर मे इस मिथ्यादर्शन को उत्पन्न किया है।

"बोटिक शिवभूति से बोडियलिङ्ग की उत्पत्ति हुई और कोडिन्न-कोट्टवीर परम्परास्पर्शक उत्पन्न हुए।"

दिगम्बर सम्प्रदाय का उत्पत्ति विषयक श्वेताम्बर ग्रन्थों में यही मौलिक वृत्तान्त है। बाद के ग्रन्थकारों ने जो कुछ भी इस विषय मे लिखा है सब इसी वृत्तान्त के आधार पर लिखा गया है।

पञ्चकल्पचूर्णि में शिवभूति का नाम 'चण्डकर्ण' बताया है और वहाँ इसके पिता के सम्बन्ध मे भी कुछ वृत्तान्त लिखा है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उसे भी यहाँ लिखे देते हैं।

"राजा का एक शीर्परक्षक (अङ्गरक्षक एडीकाग) था। वह साधुओं के पास धर्म सुन कर श्रावक हो गया। उसकी वही आजीविका थी इसलिये उस तलवार को छोड़ काष्ठ की तलवार रखता। उसके मित्र ने राजा से कह दिया कि वह काष्ठ की तलवार रखता है। राजा ने उसे तलवार दिखाने को कहा। इस पर श्रावक ने सम्यग्दृष्टि देवता का स्मरण नमस्कार करके तलवार खींची और म्यान से लोहे की तलवार निकली। राजा ने उस पुरुष की तरफ देखा तो वह सकुचा गया, तब श्रावक ने राजा के पैरों मे पड़कर सत्य बात कह दी। उसके चडकर्ण नामा पुत्र था जिसने दीक्षा लेकर बोटिकों को उत्पन्न किया।"

श्वेताम्बराचार्यों के लिखे हुए शिवभूति के वृत्तान्त के अक्षरश सत्य होने का भले ही हम दावा न करें, तथापि उनके पिता का राजा का अगरक्षक होना, उनकी सहस्रमल्ल और चण्डकर्ण जैसी उपाधियाँ

है और 'वीर' यह वीरनन्दी, वीरसेन या इससे मिलते जुलते नामवाले आचार्य का नाम है। भाष्य में इन्हें शिवभूति का शिष्य नहीं लिखा किन्तु 'परम्परास्पर्शक' (भाष्य के शब्द—परंपराफासमुप्पण्णा) लिखा है। इससे स्पष्ट है कि ये शिवभूति के दीक्षा शिष्य नहीं, परम्परा शिष्य थे। अधिक प्रसिद्ध होने के कारण या दिगम्बर शाखा में महत्त्वपूर्ण कार्यकर होने के कारण भाष्यकार ने शिवभूति के अनन्तर इनका नामोल्लेख किया है।

और दीक्षा लेने के बाद राजा की तरफ से अमूल्य कम्बल की भेंट इत्यादि ऐसी बातें हैं कि शिवभूति के राजकर्मचारी होने और कुटुम्ब के अपमान से घर छोड़ चल निकलने की बात को सत्य मानने में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। साथ ही ऐसे राजमान्य मनुष्य को राजा की तरफ से मिली हुई भेंट के सम्बन्ध में गुरु का उपालम्भ और उस चीज का नाश कर देना, यह भी अवश्य अपमानजनक घटना है। इस घटना से उत्तेजित शिवभूति का गुरु से विरुद्ध होना, और वह भी वस्त्र के ही सम्बन्ध मे, बिलकुल स्वाभाविक है।

शिवभूति ने आर्य कृष्ण से उपधि न रखने के सम्बन्ध में जो दलीलें की हैं उनका सार इतना ही है कि उपधि कषाय, मूर्छा और भय इत्यादि का कारण है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उपधि रखने से मुक्ति ही नहीं होती। इसके विपरीत वे आर्या उत्तरा को वस्त्र रखने की सम्मति देते हैं, क्योंकि साधु को अचेलक होने के विषय मे तो शास्त्र का आधार था पर स्त्री को वैसा करने के सम्बन्ध में कल्पाध्ययन की स्पष्ट निषेधाज्ञा थी। शिवभूति इस बात से अनभिज्ञ हों यह सभव नहीं था और इसीलिये उन्होंने उत्तरा को अचेलक न होने की आज्ञा दी थी। इस विषय मे गणिका द्वारा उसे वस्त्र देने की जो बात कही गयी है, सभव है वह द्वेष का परिणाम मात्र हो।

यद्यपि शिवभूति ने वस्त्र पात्र न रखने का उत्कृष्ट जिन कल्प स्वीकारा था तथापि आगे जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का उत्कृष्ट मार्ग अधिक समय तक चलना कठिन है। अतएव उन्होंने साधुओं के आपवादिक लिङ्ग का भी स्वीकार किया।

पाठकगण हमारी इस बात को कोरी कल्पना न समझें, क्योंकि इसी सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों से यह बात प्रमाणित होती है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के धुरन्धर आचार्य आर्यशिव जो कि स्वय हस्तभोजी थे अपने 'भगवतीआराधना' ग्रन्थ मे लिखते हैं—"जो औत्सर्गिक लिङ्ग में रहनेवाला हो उसके लिए तो वह है ही, पर आपवादिक लिङ्गवाले को भी संथारा लेने के समय औत्सर्गिक लिङ्ग (नग्नता) धारण करना श्रेष्ठ है।

"जिसको विहारचर्या में मानसिक, वाचिक और कायिक दोष निश्चितरूप से लगे हों वह भी सस्तारक के समय औत्सर्गिक लिङ्ग धारण कर ले।"

सस्तारक के समय कारण से विशेष आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं—"यदि स्थान योग्य न हो, सस्तारक लेनेवाला महर्द्धिक या लज्जाशील हो, म्लेच्छ लोगों की बस्ती हो, स्वजन वहाँ विद्यमान हों तो आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है।"

"स्त्री भी परिमित उपधि रखती हुई उनके लिये जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिङ्ग कहा है उसमें रहे।"

यहाँ पर यह भी बता देना चाहिये कि आर्य शिव अचेलकता, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन इन चार बातों को औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं। आपवादिक लिङ्ग मे किन किन बातों की छूट होती थी, इसका यद्यपि उन्होंने खुलासा नहीं किया तथापि महर्द्धिक और लज्जाशील को आपवादिक लिङ्ग की छूट देने से यह बात स्वय सिद्ध हो जाती है कि इस आपवादिक लिङ्ग मे वस्त्र की छूट अवश्य होती थी[1]। स्त्री

---

[1] दर्शनसार की चौवीसवीं गाथा की टीका में दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागरसूरि ने भी आपवादिक लिङ्ग में वस्त्रादि रखना ही स्वीकार किया है—

"सहजुप्पण्ण रूव, दट्ठु जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो सजमपडिवण्णो, मिच्छादिट्ठी हवइ एसो ॥२४॥"

"टीका—मिच्छादिट्ठी हवइ एसो-मिथ्यादृष्टिर्भवत्येष। अपवादवेष धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थ। कोऽपवाद वेष [2] कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वोपद्रव यतीना कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टी सादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिक कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चतीत्युपदेश कृत। सयमिनां इत्यपवादवेष। तथा नृपादिवर्गोत्पन्न परमवैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहित उत्पन्नमेहनपुटदोष लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादलिंग प्रोच्यते। उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम्। सामान्योक्तो विधिरुत्सर्ग। विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्।" (दर्शनप्राभृत टीका पृ० २१) उपर्युक्त टीका के पाठ में श्रुतसागर सूरि ने दो बातें कही हैं।

पहली यह कि पिछले समय में दिगम्बर भट्टारकों में जो वस्त्र पहनने की प्रवृत्ति चली उसका आरम्भ माडवगढ में भट्टारक वसन्तकीर्ति से हुई थी।

को परिच उपधि के उपरान्त औत्सर्गिक अथवा आपवादिक लिङ्ग रखने की आज्ञा से यह भी सिद्ध है कि पहले दिगम्बर सम्प्रदायवाले धार्मिक योग्यता के नाते स्त्री और पुरुषों मे कुछ भी अन्तर नहीं मानते थे। यद्यपि स्त्री को सर्वथा नग्न रहने का निषेध था तथापि उनकी आत्मोन्नति की योग्यता पुरुषों से हीन नहीं मानी गई थी जैसा कि पिछले आचार्यों ने माना है। पिछले आचार्यों ने स्त्रियों में पचम गुणस्थानक से आगे बढने की योग्यता ही नहीं मानी, फिर वह चाहे मास-मास के उपवास करनेवाली और चारित्र पालनेवाली आर्या (साध्वी) ही क्यों न हो। पिछले दिगम्बर ग्रन्थकारों के मत से वह उतनी ही आत्मोन्नति करेगी जितनी कि एक देशविरति गृहस्थ श्रावक कर सकता है, परन्तु हम समझ सकते हैं कि भगवती आराधनाकार आचार्य शिव आर्या और साधु की योग्यता मे कोई अन्तर नहीं समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने आर्याओं के मरण को 'बाल पण्डित मरण' न मानकर 'पण्डित मरण' माना है।

यद्यपि प्राचीन दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थों में श्रमण और आर्याओं की उपधि मे क्या क्या उपकरण रहते थे, इसका कुछ निर्णय नहीं देखा जाता, तथापि उक्त आपवादिक लिङ्ग के विधान से और इसी ग्रन्थ के कतिपय अन्य उल्लेखों से यह निश्चित है कि वे वस्त्र और पात्र रखते अवश्य थे, पर इस प्रवृति को वे 'उत्सर्ग मार्ग' न कह कर 'अपवाद मार्ग' कहते थे।

पाठकों के विलोकनार्थ हम उन उल्लेखों को यहाँ उद्धृत करेंगे जिनसे कि दिगम्बर सम्प्रदाय में भी साधुओं के लिये पात्रों का रखना अनिवार्य ठहरता है।

साधु द्वारा किये जानेवाले कायिक विनय का वर्णन करते हुए शिवार्य कहते हैं—'आसन देना, उपकरण देना, उचित शरीर का स्पर्श

दूसरी बात टीकाकार ने यह कही कि राजादिवर्ग का मनुष्य वैराग्यशील हो, जो लिंगशुद्धि रहित हो, जिसकी पुरुषेन्द्रिय विकृत हो अथवा जो लज्जाशील हो या ठंडी आदि सहन करने में असमर्थ हो वह वैसा कर सकता है, अर्थात् अपवाद लिंग रूप टाट, (चटाई) वस्त्र आदि से अपनी लज्जा और शीत दूर कर सकता है।

करना (विश्राम के लिये पगचपी वगैरह करना), समयोचित कार्य करना, भोजन लाना, सथारा करना, उपकरणों की प्रतिलेखना करना इत्यादि शरीर से साधुवर्ग का जो उपकार किया जाता है वह 'कायिक विनय है।'

भगवती आराधना की ३१० वीं गाथा में तो स्पष्ट रूप से आहार औषधादि द्वारा साधु अन्य साधु का वैयावृत्त्य करे ऐसा विधान किया है।

पाठकगण के विलोकनार्थ हम उस मूल गाथा को ही यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

"सेज्जागासणिसेज्जा-उवधिपडिलेहणा उवगाहिदे।
आहारोसहवायण-विकिंचणुव्वत्तणादीया॥" ३१०॥

अर्थात् निवासस्थान, आसन, उपधि और औपग्रहिक उपकरणों की प्रतिलेखना करना, आहार, औषध, वाचना देना, मलमूत्र आदि को बाहर परठना (फेंकना), शरीर मर्दन आदि करना वैयावृत्त्य (सेवा-बन्दगी) कहलाता है।

यही गाथा कुछ परिवर्तन के साथ वट्टकेरस्वामी के मूलाचार ग्रन्थ मे पञ्चाचाराधिकार मे भी आती है, जहाँ उसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दी लिखते हैं—"आहारेण—भिक्षाचर्यया, औषधेन—शुठिपिप्पल्यादिकेन, शास्त्रव्याख्यानेन, च्युतमलनिर्हरणेन, वन्दनया च, शय्यावकाशेन, निषद्योपधिना, प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकार कर्तव्य। एतैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति।" (मूलाचार पृ० ३०८)

उसी भगवती आराधना की गाथा ६६५-६६८ मे सलेखना करनेवाले साधु की सेवा सबधी व्यवस्था बताते हुए शिवार्य कहते हैं—"लब्धिवान् और सरल प्रकृतिक चार मुनि उसके योग्य निर्दोष आहार लावें तथा चार वैसा ही निर्दोष पानी लावें, चार मुनि क्षपक के लिये प्रस्तुत किये हुए आहार पानी के द्रव्यों की सावधानी से रक्षा करें और चार वैयावृत्त्य कर मुनि क्षपक के मलमूत्र आदि को परठे (बाहर ले जाकर छोड़ें) और समय पर उपधि, शय्या सथार आदि की प्रतिलेखना करें।"

इसी ग्रन्थ की गाथा ६९२ में ग्रन्थकार कहते हैं—'तेल और कसैले द्रव्य से क्षपक को बार बार कुल्ले कराने चाहिए ताकि उसकी जीभ और कान बलवान् और मुख तेजस्वी हो।'

ये ही ग्रन्थकार गाथा ७०२ और ७०३ में कहते हैं—"यदि क्षपक की इच्छा हो तो उसकी समाधि के लिये सब प्रकार का आहार लाकर उसे खिलाना चाहिए और फिर एक एक कम करते हुए पहले के आहार पर ले आना और क्रमश भोजन का त्याग करवा कर उसे पानी पर ले आना चाहिये"।

मूलाचार के समाचाराधिकार की "गच्छे वेज्जावच्च" इस १७४ वीं गाथागत 'वेज्जावच्च' शब्द की व्याख्या करते हुए वसुनन्दी श्रमणाचार्य लिखते हैं—"वेज्जावच्च—वैयावृत्त्य कायिकव्यापाराहारादिभिरुप ग्रहणम्।" अर्थात् वैयावृत्त्य का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहार आदि से उपकार करना है।

आचार्य वट्टकेर मूलाचार के समयसाराधिकार की ६१ वीं गाथा में कहते हैं—'साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय मे ठहरना, बैठना, सोना, पढ़ना और आहार नीहार करना (भोजन करना और टट्टी जाना) नहीं चाहिये'।

प्रिय पाठकगण! जो आचार्य गुणाधिक उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, समनोज्ञ, गण, कुल और सघका आहार औषधादि से विनय वैयावृत्य करने की साधुओं को आज्ञा करते थे, क्षपक के लिये चार-चार साधुओं को आहार पानी लाने और मलमूत्र को दूर त्यागने के लिये नियत करने का विधान करते थे, उसको सब प्रकार का भोजन लाकर देने और तेल आदि के कुल्ले कराने की सलाह देते थे और जो आचार्य साधुओं के लिए साध्वियों के स्थान मे आहार पानी करने का निषेध करते थे क्या उनके सम्बन्ध में भी यह कह सकते हैं कि वे पात्र रखने के विरोधी थे? हम जानते हैं कि वे स्वय हाथों में भोजन करनेवाले थे तथापि साधुओं को ऊपर मुजब उपदेश देते थे। इसका अर्थ यही है कि उनके समय मे अपवादमार्ग से वस्त्र पात्र रक्खे जाते थे।

यदि ऐसा न होता तो इन पात्रसाध्य कार्यों के विधान का अर्थ ही नहीं होता और 'गृहस्थ के ही घर में साधु भोजन करे' पहले एकान्त नियम होता तो साध्वी के उपाश्रय मे आहार करने निषेध की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

ऊपर कहा गया है कि शिवभूति ने प्रारम्भ मे अपने आचरण जिनकल्प का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया था, पर आगे जाने उन्हें अनुभव ने सिखाया कि वर्तमान समय मे जिनक को चलाना आसान नहीं है। एक व्यक्ति कैसा भी आचर कर सकता है पर वैसे ही आचरणवालों की परम्परा जा रखना सरल नहीं। परिणामस्वरूप अपने मार्ग को उन्होंने आचा छोड़ मूल स्थविरमार्ग मे परिगणित किया और इस उत्सर्गमार्ग न पाल सके उनके लिये उसी सूत्र के अनुसार कुछ वस्त्र-पात्र रर की व्यवस्थावाला अपवाद मार्ग भी नियत किया।

परिणाम

यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था प वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। कारण स्पष्ट है। प्राची स्थविरसघ का उन दिनों वहाँ पूर्ण प्राबल्य फैला हुआ था और मथुर के आसपास के ९६ गाँवों मे तो जैनधर्म राजधर्म के रूप मे मान जाता था। इस स्थिति में शिवभूति या उनके अनुयायियों का वहां टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया, जहाँ आजीविक सम्प्रदाय के प्रचार के कारण पहले ही नग्न साधुओं की तरफ जन साधारण का सद्भाव था। वहाँ जाने पर इस सम्प्रदाय की भी अच्छी कदर हुई और धीरे-धीरे वह पगभर हो गया। यद्यपि सम्प्रदायवालों ने अपने सम्प्रदाय का नाम 'मूलसघ' रक्खा था, पर दक्षिण मे जाने के बाद वे 'यापनीय' और 'खमण' इन नामों से अधिक प्रसिद्ध हुए।

प्राचीन स्थविर परम्परा मे प्रतिदिन शैथिल्य के भाव बढ रहे थे। वस्ती में रहना तो उन्होंने पहले ही शुरू कर लिया था, अब धीरे धीरे उनमें चारित्रमार्ग की अन्य शिथिलताएँ भी प्रवेश कर रही थीं। यद्यपि सुविहित गीतार्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न कर

रहे थे, शिथिलाचारियों का 'पासत्था' आदि नामों से परिचय दे उनके चेप से बचने के लिये वे साधुओं को उपदेश दे रहे थे, फिर भी निम्नगामी शैथिल्य प्रवाह रोका नहीं जा सका। विक्रम की पाँचवीं और छठी सदी तक 'पासत्था' आदि नामों से पहचाने जानेवाले शिथिलाचारियों के गाँव-गाँव मे अड्डे जमने लगे और उग्रविहारी सुविहितों की संख्या कम होने लगी। इस स्थिति से नवीन स्थविर (दिगम्बर) परम्परा ने पर्याप्त लाभ उठाया। परिमित वस्त्र-पात्र की छूट के कारण उनके यहाँ साधुओं की संख्या खूब बढ़ती गई और प्राचीनकालीन नग्नतादि उत्कृष्ट क्रियाओं के कारण गृहस्थवर्ग भी प्रतिदिन उनकी तरफ झुकता गया। परिणाम यह हुआ कि विक्रम की पाँचवीं सदी के आसपास जाकर इस परम्परा ने अपना स्वतन्त्र संघ स्थापित कर दिया और प्राचीनस्थविरपरम्परा के पूर्व नाम 'मूलसंघ' को अपने लिये व्यवहृत किया।

यद्यपि यह नया 'मूलसंघ' तबतक उन्हीं जैन आगमों से अपना काम चलाता था, तथापि महावीर का गर्भापहार, उनका विवाह आदि अनेक बातें वह नहीं भी मानता था और इस कारण वह धीरे-धीरे अपना नया साहित्य निर्माण किये जाता था।

प्राचीन स्थविर परम्परा के अधिक साधुओं के शिथिल और नित्य वासी हो जानेपर भी उसमे त्यागी सुविहित श्रुतधरों की भी कमी न थी। नवीन परम्परा की उत्कृष्टता अथवा उन्नति के कारण नहीं, पर उसके नये विचार और कतिपय सिद्धान्तभेद के कारण उन्होंने इसका फिर प्रतिवाद करना शुरू किया और परिणामस्वरूप दोनों परम्परावालों मे तनातनी बढ़ने लगी। छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द[1],

---

[1] आचार्य कुन्दकुन्द का समय हमने विक्रम की छठी सदी माना है। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

(१) कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिये रचा था। डॉ॰ पाठक के विचार से यह शिवकुमार ही कदम्बवंशी शिवमृगेश थे जो संभवत विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के ही व्यक्ति हो सकते हैं।

देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शनविषयक स्वतन्त्र साहित्य की रचना

---

(२) प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् प० नाथूरामजी प्रेमी ने नियमसार की एक गाथा खोज निकाली है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' परमागम का उल्लेख किया है। यह 'लोकविभाग' ग्रथ संभवतः सर्वनन्दी आचार्य की कृति है, जो कि वि० सं० ५१२ में रची गयी थी। इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त दो कारणों के अतिरिक्त कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेक उल्लेख ऐसे हैं जो उनको विक्रम की पांचवीं सदी के बाद का ग्रन्थकार सिद्ध करते हैं। उनमें से कुछ उल्लेख ये हैं—

(१) समय प्राभृत की गाथा ३५० तथा ३५१ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—"लोगों के विचार में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तब श्रमणों (जैन साधुओं) के मत में षड्निकाय के जीवों का कर्ता आत्मा है।"

"इस प्रकार लोक और श्रमणों के सिद्धान्त में कोई विशेष नहीं है। लोगों के मत में कर्ता 'विष्णु' है और श्रमणों के मत में 'आत्मा'। कहने की जरूरत नहीं है कि 'विष्णु' को कर्तापुरुष माननेवाले 'वैष्णव' सम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णुस्वामी से ई० स० की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते।

(२) कुन्दकुन्द ने 'बोधप्राभृत' की गाथा ६–८ और १० में क्रमशः 'आयतन', 'चैत्यगृह' और 'प्रतिमा' की चर्चा की है। जहाँ तक हमने देखा है, इन बातों की चर्चा चैत्यवास के साथ सम्बन्ध रखती हुई पायी गई है। अतएव इन चर्चाओं से पाया जाता है कि कुन्दकुन्द का अस्तित्व-समय "चैत्यवास" काल के पहले का नहीं हो सकता।

(३) 'भावप्राभृत' की १४९ वीं गाथा में कुन्दकुन्द ने 'शिव' 'परमेष्ठी' 'सर्वज्ञ' 'विष्णु' 'चतुर्मुख' आदि कतिपय पौराणिक देवों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी जाना जाता है कि वे पौराणिक काल में हुए थे, पहले नहीं।

की जिसमें वस्त्र-पात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने

---

(४) 'भावप्राभृत' की १६२ वीं गाथा में वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का और 'मोक्षप्राभृत' की ४ थी गाथा में तथा 'रयणसार' की १३४ से १४५ पर्यन्त की गाथाओं में उन्होंने 'बाह्य' 'आभ्यन्तर' और 'पर' इन त्रिविध आत्माओं की चर्चा की है, जो विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में प्रचलित होनेवाले विषय हैं।

(५) 'लिंग प्राभृत' की गाथा ९-१०-१६ और २१ वीं में साधुओं की आचार विषयक जिन शिथिलताओं की निन्दा की है उनको देखने से यही मानना पड़ता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि साधुओं में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी। उनमें गृहस्थों के जैसी अन्य प्रवृत्तियों के उपरान्त जमीन जागीर लेने और खेतीवाड़ी कराने तक की शिथिलता प्रविष्ट हो गयी थी। यह समय निश्चित रूप से विक्रमीय पाँचवीं सदी के बाद का था।

(६) 'रयणसार' की १८ वीं गाथा में सात क्षेत्र में दान करने का उपदेश करने के उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा २८ वीं में कुन्दकुन्द कहते हैं—"पंचमकाल में इस भारतवर्ष में यन्त्र मन्त्र-तन्त्र परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनों के ही कारण दान दिया जाता है, मोक्ष के हेतु नहीं।'

इससे यह साबित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि इस देश में तांत्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा सांसारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरूरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में हुई थी।

(७) 'रयणसार' की गाथा ३२ वीं में जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दनविषयक द्रव्यभक्षण करनेवाले को नरक-दुःख का भोगी बताकर कुन्दकुन्द कहते हैं—"पूजादानादि का द्रव्य हरनेवाला पुत्रकलत्रहीन, दरिद्र, पशु, गूंगा, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है।"

इसी प्रकार अगली ३३-३६ वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करनेवालों को विविध दुर्गतियों के दुःखभोगी होना बतलाया है। इससे

वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असंभव था। इसी तरह केवली का कवलाहार मानने पर उसके लाने के लिये पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खंडन नहीं करने पाते।

सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यों की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मंदिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना आचार मार्ग छोड़ कर गृहस्थोचित चैत्य कार्यों में लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की पाँचवीं सदी से साधु चैत्यों में रहकर उनकी व्यवस्था करने लग गये थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने अपने गच्छसम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था में सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उनपर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने "चैत्यवासप्रवृत्तिसमय" के नाम से उद्घोषित किया है। यही समय दिगम्बर सम्प्रदाय में "भट्टारकीय-समय" के नाम से पहचाना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ठीक इसी समय की प्रवृत्तियों का खण्डन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे पाँचवीं सदी के पूर्व के व्यक्ति नहीं थे।

(८) 'रयणसार' की १०५ तथा १०८ से १११ तक की गाथाओं में कुन्दकुन्द ने साधुओं की अनेक शिथिल प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, जिनमें राजसेवा, ज्योतिषविद्या, मन्त्रों से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता आदि बातों का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबियाँ साधु समाज में छठी और सातवीं सदी में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो रही थीं। पाँचवीं सदी में इनमें से बहुत कम प्रवृत्तियाँ साधुसमाज में प्रविष्ट होने पायी थीं और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रन्थों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थकार हैं। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियों के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी सदी के ग्रन्थकार होते तो छठी सदी की प्रवृत्तियों का उनके ग्रन्थों में खण्डन नहीं होता।

इन नये सिद्धान्तों की योजना से उन्हें अपनी परम्परागत आपवादिक लिङ्ग प्रवृत्ति को स्वयं उठा देना पड़ा, क्योंकि ऐसा किये बिना वे विरोधिपक्ष का सामना कर नहीं सकते थे।

कुन्दकुन्दाचार्य आदि के इन नये सिद्धान्तों से इस परम्परा को कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि भी।

लाभ यह हुआ कि ऐसी ऐकान्तिक अचेलकवृत्ति से दक्षिण देश में, जहाँ पहले से ही आजीविक आदि नग्न सम्प्रदायवालों का मान और प्रचार था, इनके अनुयायी गृहस्थों की सख्या काफी बढ़ गई और इस कारण साधु समुदाय में भी वृद्धि हुई।

हानि यह हुई कि इनके नये सिद्धान्तों को इस परम्परा के सभी अनुयायियों ने स्वीकार नहीं किया और परिणाम स्वरूप यह परम्परा जो पहले केवल 'मूलसघ' के नाम से पहचानी जाती थी अब से अनेक भागों मे बँट गई और उसके अनेक सघ बन गये, 'यापनीयसघ',

---

(९) कुन्दकुन्द ने अपने ग्रथों में अनेक स्थान पर "गच्छ" शब्द का प्रयोग किया है जो विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद का पारिभाषिक शब्द है। श्वेताम्बरों के प्राचीन भाष्यों तक में 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हाँ, छठी सातवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में 'गच्छ' शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहाँ तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी चौथी शताब्दी के साहित्य में "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

(१०) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रथ में कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे जितना कि अधिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में, जो कि सवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी इस मान्यता में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले 'भटार' (भट्टारक) शब्द लिखा गया है। इससे सिद्ध है कि यह ताम्रपत्र भट्टारक काल में लिखा गया है जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरू होता है। इस दशा में ताम्रपत्रवाला सवत् कोई अर्वाचीन सवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिये।

'काष्ठासघ' 'माथुरसघ' वगैरह नामों से प्रसिद्ध हुए और एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दसवीं के अन्त तक के चार सौ वर्षों मे दोनों स्थविर परम्पराओं मे अनेक दिग्गज विद्वान् उत्पन्न हुए।

पहली परम्परा के विद्वानों मे सिद्धसेनगणि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, मल्लवादी, जिनदासगणिमहत्तर, हरिभद्रसूरि, बप्पभट्टिसूरि, शीलाङ्काचार्य आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय परम्परा में भी समन्तभद्र, अकलङ्कदेव, विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, देवसेनभट्टारक आदि अनेक नामी विद्वान् हो गये। इन सभी विद्वानों ने अपनी अपनी कृतियों द्वारा अन्य दार्शनिक विद्वानों का सामना तो किया ही पर साथ ही साथ अपने विरुद्ध जैन परम्परा के सिद्धान्तों का खण्डन करने मे भी कुछ उठा नहीं रक्खा। इसी समय से एक दूसरे को दिगम्बर श्वेताम्बर कहने का भी प्रारम्भ हुआ।

हम ऊपर कह आये हैं कि पहले पहल आवश्यक भाष्यकार ने नूतन स्थविर परम्परा वालों को 'बोडिया' नाम से सम्बोधित करके इनके मत को 'मिथ्यादर्शन' कहा था और इसका उत्तर भी अनेक दिगम्बर विद्वानों ने दे दिया था, पर भट्टारक देवसेन ने अपने दर्शन सार और भावसग्रह मे श्वेताम्बरों को 'धूर्त, सशयमिथ्यादृष्टि, गृहिकल्हिक, व्रतभ्रष्ट, समन्थलिंगी, मार्गभ्रष्ट' आदि विशेषणों द्वारा उसका व्याज के साथ बदला लिया और इन्हीं का अनुसरण प० वामदेव, भट्टारक रत्ननन्दी प्रभृति पिछले विद्वानों ने किया।

भट्टारक देवसेन ने श्वेताम्बरों को गालियाँ देकर ही सन्तोष नहीं माना, किन्तु आवश्यक भाष्य चूर्णि मे दिगम्बरों की जो उत्पत्ति लिखी है, उसके उत्तर में उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्तिविषयक एक कथा भी गढ दी, जो नीचे दी जाती है।

'जब विक्रम राजा को मृत्यु हुए एक सौ छत्तीस वर्ष हो

चुके तब सौराष्ट्र में 'वलभी' नगरी में श्वेतपट (श्वेताम्बर) सघ की उत्पत्ति हुई ।

'उज्जयिनी नगरी मे भद्रबाहु नामक एक अच्छे निमित्त शास्त्रवेत्ता आचार्य थे। उन्होंने निमित्तज्ञान से भविष्य जानकर अपने सघ से कहा—यहाँ बडा दुर्भिक्ष होनेवाला है, जो पूरे बारह वर्ष तक रहेगा। इसलिये अपने अपने सघ के साथ दूसरे देशों मे चले जाना चाहिये। भद्रबाहु के उक्त वचन को सुनकर सब आचार्य अपने अपने संघ के साथ जहाँ सुभिक्ष था वहाँ चले गये। परन्तु एक शान्तिनामा आचार्य जो कि बहुशिष्य परिवार युक्त था, सुन्दर सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी पहुँचा, जाने के बाद वहाँ भी बड़ा भयकर दुष्काल पड़ा। जहाँ भिखारियों ने पेट चीर भोजन निकालके खाया। इस निमित्त को पाकर सर्व साधुओं ने कम्बल, दण्ड, तुबा और ओढ़ने के लिये श्वेत वस्त्र धारण किये। ऋषियों का आचार छोड़कर दीनवृत्ति से मॉग कर भिक्षा ली और उपाश्रय मे बैठकर यथेच्छ भोजन किया।

'इस प्रकार का आचरण करते करते कितना ही काल बीतने पर सुभिक्ष हुआ तब 'शान्ति' आचार्य ने अपने सघ को बुलाकर कहा—'अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ो और इसकी निन्दा गर्हा कर फिर मुनीन्द्रों का आचार ग्रहण करो।' यह वचन सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा—'इस अति दुर्धर आचरण को कौन धारण कर सकता है? न मिलने पर उपवास, दूसरे अनेक दु सह अन्तराय, एक ही स्थान पर भोजन करना, अचेलक रहना, किसी चीज का न माँगना, ब्रह्मचर्य, जमीन पर सोना, दो दो महीने के बाद असह्य केश लोच करना, नित्य असह्य बाईस परीषहों का सहना (यह सब कठिन आचार इस समय कौन पाल सकता है? इस समय तो) जो कुछ भी आचार हम ने ग्रहण किया है वही सुखकर है, दु षमकाल में इसे छोड नहीं सकते।' तब शान्ति ने कहा—'चारित्रभ्रष्ट होकर जीवित रहना अच्छा नहीं, यह जैनमार्ग को दूषित करने वाला है। जिन भगवान् के कहे हुए निर्ग्रन्थ प्रवचन को छोड़ अन्यथा प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है।' इस पर रुष्ट होकर शिष्य ने (शान्ति के) मस्तक मे एक

उसने दण्ड से प्रहार किया, जिसकी चोट से स्थविर मरकर व्यन्तर देव हुआ।

'तब पाखण्ड को प्रकट करने वाला शिष्य श्वेतपट संघ का अधिपति हुआ और 'सग्रन्थ को भी निर्वाण हो सकता है' इस प्रकार का धर्मोपदेश करने लगा।

'अपने अपने पाखण्ड के अनुकूल शास्त्रों की रचना की और लोगों में उनका व्याख्यान करके उसी प्रकार का आचार प्रचलित किया। (इस प्रकार) निर्ग्रन्थता को दूषित कर उसकी निन्दा और अपनी प्रशंसा कर वह कपटपूर्वक बहुद्रव्य ग्रहण करके मूर्ख लोगों में अपना जीवन बिताने लगा।

'उधर शान्ति आचार्य का जीव व्यन्तरदेव उपद्रव करके कहने लगा—'जिन धर्म पाकर मिथ्यात्व को मत प्राप्त होओ'। तब डर कर जिनचन्द्र ने उसकी सर्व द्रव्य-सम्पूर्ण अष्टप्रकारी पूजा बनाई जो आज भी उसको दी हुई है। आज भी वह बलिपूजा सर्व प्रथम उसीके नाम से दी जाती है। वह श्वेतपट संघ का पूज्य-कुलदेव कहा गया।

'इस प्रकार मार्गभ्रष्ट सेवडों की उत्पत्ति कही।'

इसी आशय की श्वेताम्बरोत्पत्ति विषयक कथा ग्रन्थकार ने अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में भी लिखी है, पर वहाँ उन्होंने अपने अतिशय ज्ञान का भी परिचय दे दिया है, लिखा है 'और इस प्रकार अन्य भी आगमदुष्ट मिथ्याशास्त्रों की रचना करके 'जिनचन्द्र' ने अपनी आत्मा को प्रथम नरक में स्थापित किया।'

इसी कथा को पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के आस पास के दिगम्बर विद्वान् प० वामदेव जी ने भी अपने भावसंग्रह में लिखा है, जहाँ अन्य वृत्तान्त तो इसी प्रकार का है, पर एक बात जो उन्होंने नयी कही है उसे नीचे लिख देते हैं।

'डरे हुए जिनचन्द्र ने उपद्रव की शान्ति के लिये आठ अंगुल लम्बे एक चतुरस्र काष्ठ पर उसका संकल्प कर के पूजन किया। श्वेत वस्त्र पर स्थापन करके विधिपूर्वक पूजन करने से उस व्यन्तर ने

उपद्रवात्मक चेष्टा को छोड दिया। वह 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ जो आज भी जलगन्ध आदि से बड़ी भक्ति से पूजा जाता है।'

'बीच मे उत्तम श्वेतवस्त्र रख कर उसका पूजन किया इस कारण यह मत लोक में 'श्वेताम्बर' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ'।

विक्रम की सत्रहवीं सदी के भट्टारक रत्ननन्दी ने 'भद्रबाहु चरित्र' नामक एक ग्रन्थ बनाया है, यद्यपि इसका नाम भद्रबाहु-चरित्र है पर वास्तव में इसकी रचना श्वेताम्बर मत के खण्डन के लिये की गई है। इसमे भी श्वेताम्बरमतोत्पत्ति का वृत्तान्त दिया है, पर यह देवसेन और वामदेव के दिये हुए वृत्तान्तों से बिलकुल विलक्षण है। भट्टारकजी का दिया हुआ वृत्तान्त यहाँ पूरा पूरा उद्धृत करना तो अशक्य है, पर उसका सक्षिप्त सार दे देते हैं।

'एक समय श्रुतकेवली भद्रबाहु बारह हजार मुनि परिवार के साथ उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। उज्जयिनी का राजा चन्द्रगुप्ति आचार्य महाराज के वन्दनार्थ गया और पिछली रात में देखे हुए १६ स्वप्नों का फल पूछा। भद्रबाहुस्वामी ने राजा को उसके स्वप्नों का फल बताया जिसे सुन कर राजा को वैराग्य प्राप्त हुआ और भद्रबाहु के पास दीक्षा ले जैन मुनि हो गया।

'एक समय भद्रबाहु स्वामी जिनदास सेठ के घर आहार के लिये गये, तब घर में जाते ही वहाँ पालने में झूलते हुए दो मास के बालक ने उनसे कहा—'आओ आओ।' स्वामी ने पूछा—कितने समय तक ? बालक ने उत्तर दिया—'बारह वर्ष पर्यन्त।'

'भद्रबाहु ने स्थान पर आकर मुनिसघ को बुलाकर कहा—साधुओ! इस देश में बारह वर्ष का भयकर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, इस वास्ते सयमार्थी मुनियों के लिए अब इस देश में रहना उचित नहीं है।

'भद्रबाहु के वचन सुनकर सघ वहाँ से विहार करने को तत्पर हुआ। उज्जयिनी के धनाढ्य श्रावकों के वहाँ रहने के लिये आग्रह करने पर भी जब भद्रबाहु ने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने रामल्य स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र वगैरह साधुओं से वहाँ रहने की प्रार्थना की और उसे उन्होंने स्वीकार किया और बारह हजार साधु वहीं ठहरे।

'भद्रबाहु उज्जयिनी से बारह हजार साधुओं के साथ कर्नाटक की तरफ विहार कर गये, एक बड़ी अटवी में जाकर उन्होंने निमित्त से अपनी आयुष्य अल्प जानकर विशाखाचार्य को सघ के साथ आगे विहार कराके आप वहीं अटवी मे चन्द्रगुप्त मुनि के साथ ठहरे, अनशन किया और समाधि मरण कर स्वर्ग सिधारे। चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु के चरणों का आलेखन कर उनकी सेवा करते और कान्तारवृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए वहीं रहे।

'विशाखाचार्य सघ के साथ चोलदेश पहुँचे। उधर उज्जयिनी मे घोर दुर्भिक्ष पड़ा। एक दिन रामल्य, स्थूलभद्रादि आहार करके वन मे जा रहे थे, उनमें से एक मुनि पीछे रह गये। भीखमगों ने उनका पेट फाड़ भोजन निकाल खाया यह बात नगर में पहुँचते ही हाहाकार मच गया और श्रावकों ने एकत्र हो मुनि मडल से प्रार्थना की—'भगवन्! बड़ा विषमकाल है इस समय आप नगर में पधार जायँ तो बहुत अच्छा हो। क्योंकि ज्ञानियों के लिये वन और नगर दोनों समान है।' श्रावकों की प्रार्थना का स्वीकार हुआ तब श्रावकों ने समहोत्सव उन्हें नगर मे लाकर ज्ञाति के बन्धनानुसार भिन्न भिन्न उपाश्रयों मे ठहराया।

'प्रतिवर्ष भीषण दुर्भिक्ष पड़ रहे थे और रक भीखमगों की धाडसी आ गई थी जिनके भय से गृहस्थ लोग दिन भर किवाड़ बन्द कर रहने लगे। साधु आहार के लिये जाते तो रक उनके भी पीछे पड़ते, जिन्हें श्रावक लोग लाठियों से मारकर दूर करते, इस विपत्ति से घबरा कर श्रावक लोगों से साधुओं ने कहा—महाराज, भीखमगों से नाकों दम आ गया है और हम लोग रसोई भी इनके डर से रात्रि के ही समय करते हैं, मिहरबानी करके आप भी रात्रि के ही समय हमारे यहाँ से पात्र मे आहार ले जायँ और दिन मे उसका भोजन करें। श्रावकों के इस वचन पर सघ ने विचार कर के निर्णय किया—'जब तक विषम काल है तब तक ऐसा ही करेंगे, और उन्होंने तुम्बी का पात्र और भिक्षुक तथा कुत्तों के भय से हाथ में लाठी धारण की। गृहस्थों के घर से आहार लाकर एक दूसरे को देने लगे और मकान का द्वार बन्द कर गवाक्ष के उजाले मे भोजन करने लगे।

'एक दिन रात्रि के समय आहार के लिये गये हुए क्षीणकाय नग्न साधु को देखकर यशोभद्र की सगर्भा स्त्री राक्षस की भ्रान्ति से डर गई और उसका गर्भपात हो गया। साधु तो यों ही लौट गया पर श्रावकों में इस घटना से हाहाकार मच गया और उन्होंने साधुओं से जाकर कहा—'मुनि महाराज! समय बड़ा खराब है और आपका यह रूप भी भयकर है, इस वास्ते सुभिक्ष होने तक आप आधा वस्त्र पहनकर कंधे पर कम्बल रख रात्रि के समय आहार लेने जायँ और दिन में भोजन करें।' श्रावकों की प्रार्थना से साधुओं ने वैसा ही किया और धीरे-धीरे वे शिथिल हो गये।

'बारह वर्ष के बाद देश मे फिर सुभिक्ष हुआ और विशाखाचार्य दक्षिण देश से चलकर उत्तर देश मे क्रमश कान्यकुब्ज नगर के बाहर उद्यान मे पधारे।

'स्थूलाचार्य ने विशाखाचार्य को आया सुनकर उन्हें देखने के लिए अपने शिष्य भेजे। मुनियों ने जाकर आचार्य को वन्दन किया पर उन्होंने उन्हें प्रतिवन्दना नहीं की और कहा—'यह कौन सा नया मत निकाला है?' साधु लज्जित होकर वापस आये और सब वृत्तान्त अपने गुरु को कह सुनाया।

'रामल्य, स्थूलभद्र और स्थूलाचार्य ने सब साधुओं को इकट्ठा करके कहा—'अब हमें क्या करना चाहिये?' इस पर स्थूलाचार्य ने अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा—'इस बुरे आचार को छोड कर जिन मार्ग का स्वीकार कर छेदोपस्थापना करनी चाहिये।' साधुओं को स्थूलाचार्य की बात पसद न आयी, उन्होंने कहा—'इस सुगम मार्ग को छोड़ कर अब दुष्कर मार्ग कौन ग्रहण करेगा?' स्थूलाचार्य बोले—'यह मत अच्छा नहीं है, मूलमार्ग को छोड़ कायरों का मार्ग पकड़ना ससार भ्रमण का कारण है' इस पर कितनेक भव्यात्माओं ने तो मूलमार्ग का स्वीकार कर लिया पर कितनेक उस सत्य वचन से उलटे जलने लगे और बोले—'यह बूढ़ा क्या जानता है? इसकी बुद्धि में भ्रम हो गया है, जो इस प्रकार बकता है, परन्तु जब तक यह जीता है हमें सुख से नहीं रहने देगा' यह कह कर उन पापियों ने उन्हें दण्डों से मारकर गड्ढे में फेंक

किया। आर्तध्यान से मरकर आचार्य व्यन्तर देव हुआ और अवधि-ज्ञान से पूर्व भव देख कर उन नामधारी साधुओं को दु:ख देने लगा। तब भयभीत होकर उन्होंने मिलकर उससे अपराध की क्षमा मागी, देव ने कहा—'विपरीत मार्ग को छोड़ कर सयम मार्ग को स्वीकार करो।' साधु बोले—'यह दुर्धर मार्ग पालना तो कठिन है, पर गुरु-बुद्धि से तुम्हारी पूजा नित्य किया करेंगे' इत्यादि विनय से व्यन्तर को शान्त किया और गुरु की हड्डी लाकर उसमे गुरु की कल्पना कर नित्य पूजने लगे। आज भी क्षपक अस्थि की कल्पना से उसे 'खमणादिहडी' कहते हैं। फिर उसकी शान्ति के लिये आठ अगुल लम्बी काठ की चतुरस्र पट्टी को 'वही यह है' ऐसी कल्पना कर उसे विधिपूर्वक पूजा। तब उसने उपद्रव की चेष्टा छोड़ दी और इनका 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ, जो आज तक बड़ी भक्ति से पूजा जाता है। इस प्रकार लोक मे यह 'अर्धफालक' नामक अद्भुत मत कलिकाल के बल से फैल गया।

'जिस व्रत का इन पञ्चेन्द्रियलोलुपों ने स्वय आचरण किया था उसी प्रकार अपनी बुद्धि से सूत्र मे लिख दिया।

'इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया। एक समय वलभी के राजा लोकपाल की रानी चन्द्रलेखा, जो कि उज्जयिनी के राजा चन्द्रकीर्ति की पुत्री और अर्धफालक मतवालों की शिष्या थी, अपने पति से बोली—'कान्यकुब्ज' नगर में हमारे गुरु महाराज विचरते हैं सो आप उन्हें यहाँ बुलायें।' रानी के कथन से राजा ने जिनचन्द्रादि अर्धफालकों को वलभीपुर बुलाया। प्रवेशमहोत्सव के दिन राजा उनकी अगवानी के लिये गया, पर साधुओं को नग्न और वस्त्रधारियों से विलक्षण वेषवाला देख कर वह वापस चला आया। रानी को इस बात का पता लगते ही गुरु के पास काफी सख्या मे श्वेत वस्त्र भेजे जिन्हें उन्होंने लेकर धारण किया। फिर राजा ने उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की। श्वेतवस्त्रों के धारण करने से उसी दिन से अर्धफालक मत से 'श्वेताम्बर' मत प्रकट हुआ।

'विक्रम राजा की मृत्यु के बाद एक सौ छत्तीस वर्ष बीतने पर लोक मे श्वेताम्बर नामक मत उत्पन्न हुआ। केवली को भोजन, स्त्री

और ससंग साधुओं को उसी भव में मोक्ष, गर्भापहार आदि बातों का प्रतिपादक आगम सग्रह उसी मूढ जिनचन्द्र आचार्य ने रचा।'

इन कल्पित कथाओं को यहाँ लिख कर इन्हें हम अप्राप्त महत्त्व नहीं देते और न इनकी मीमाँसा करने का ही कष्ट उठाते, परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के बहुतेरे दिगम्बर विद्वान् भी इन्हें सत्य मानते हैं और इन्हीं बूतों पर श्वेताम्बर जैन संघ को अर्वाचीन ठहराने की चेष्टा करते हैं।

मीमासा

प्रथम तो देवसेन भट्टारक दसवीं और प० वामदेव और रत्ननन्दी भट्टारक क्रमश सोलहवीं सत्रहवीं सदी के लेखक हैं। इनके पहले के किसी भी दिगम्बरीय जैन ग्रन्थ मे इन कथाओं का उल्लेख नहीं है। इस दशा में क्रमश साढ़े आठ सौ, चौदह सौ और पन्द्रह सौ वर्ष के बाद निराधार लिखे गये ये किस्से स्वय ही महत्त्वहीन ठहरते हैं। दूसरे ये सभी लेखक इस विषय में एकवाक्य भी नहीं हैं। देवसेन दुर्भिक्ष के कारण दण्ड, कम्बल, तुम्बी और श्वेतवस्त्र धारण करने के कारण 'श्वेताम्बर' नाम पडा बताते हैं, वामदेव काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र स्थापन करके व्यन्तर देव की पूजा करने के कारण 'श्वेताम्बर' नाम पडा लिखते हैं, और रत्ननन्दी रानी चन्द्रलेखा के कहने से श्वेतवस्त्र धारण करने से 'श्वेताम्बर' मत प्रकट होना लिखते हैं।

देवसेन और वामदेव, दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु ने उज्जयिनी से जिस दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण मे विहार किया था उसी दुर्भिक्ष के समय श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताते हैं, तब रत्ननन्दी दुर्भिक्ष का वृत्तान्त प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोडते हैं और उस समय उज्जयिनी मे 'अर्धफालक' मत की उत्पत्ति हुई लिखते हैं और फिर बहुत समय के बाद वलभी में सुभिक्ष के समय मे रानी के कहने से श्वेत वस्त्रों को धारण कर 'श्वेताम्बर' हुए लिखते हैं।

देवसेन जिनचन्द्र द्वारा शान्तिव्यन्तर की सर्व द्रव्यों से अष्टविध पूजा प्रचलित होना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं, तब वामदेव और रत्ननन्दी आठ अगुल लम्बी चौरस काठ की

पट्टी पर श्वेत वस्त्र स्थापन कर पूजा करना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं।

देवसेन शान्तिव्यन्तर को श्वेताम्बरों का पूज्य कुलदेव मात्र लिखते हैं तब पिछले दोनों लेखक उसका 'पर्युपासन' नाम होना बताते हैं।

रत्ननन्दी शिष्यों द्वारा शान्ति की हड्डियों को इकट्ठा कर पूजना और यह रीति अपने समय तक चालू रहना और उसका नाम 'खमणादिहडी' प्रसिद्ध होना लिखते हैं जिसका कि प्रथम दो लेखकों ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार इन लेखकों के परस्पर विरुद्ध कथन से ही इन कथाओं का बाह्य कलेवर तो स्वयं जर्जरित हो जाता है, परन्तु 'स्थान' और 'समय' इन दो बातों मे ये सभी लेखक एक मत हैं, अर्थात् सब विक्रमराजा की मृत्यु के बाद १३६ वर्ष बीतने पर वलभी नगरी मे श्वेताम्बर मत का उत्पन्न होना बताते हैं।

अब हम यह देखेंगे कि लेखकों की ये बातें अपने उद्भव मे कुछ आधार भी रखती हैं या नहीं।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के द्वितीय चरण मे वलभी मे 'मतोत्पत्ति' बताना निराधार है, क्योंकि उस समय वलभी का अस्तित्व था इसमे कोई प्रमाण नहीं है, वलभी कनकसेन के समय विक्रम की तीसरी शताब्दी में बसी थी, यह बात इतिहास प्रसिद्ध है।

वलभी नगरी और शान्तिसूरि इन दो नामों के उल्लेख से हम समझते हैं कि इन कथाओं का सम्बन्ध विक्रम की छठी शताब्दी के प्रथम चरण मे वलभी में घटी हुई किसी घटना के साथ होना चाहिए।

वीर सवत् ९८० (विक्रम सवत् ५१०) मे वलभी मे माथुर और वालभ्य नाम से प्रसिद्ध दो श्वेताम्बर जैन सघों का सम्मेलन हुआ था और दोनों सघों ने दोनों वाचनाओं का समन्वयपूर्वक एकीकरण किया था। इस सम्मेलन में माथुर सघ के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे और वालभ्य सघ के प्रमुख कालकाचार्य और उपप्रमुख गधर्व वादि वेताल शान्तिसूरि।

हम ऊपर कह आये हैं कि वालभ्य संघ नग्नता धारण करने वालों के विषय में बहुत अनुदार था और इसी कारण महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे स्थविरों के नाम भी अपनी युगप्रधानावली में रखने की उदारता नहीं कर सका। आश्चर्य नहीं कि इसी सम्मेलन में दिगम्बरों के साथ भी मेल जोल करने सम्बन्धी कोई प्रस्ताव उपस्थित हुआ हो, पर वालभ्य संघ तथा खासकर शान्तिसूरि के शिष्यों ने उसे सफल न होने दिया हो और इस कारण दिगम्बर परम्परा-वालों ने शान्तिसूरि और उनके शिष्यों को कोसा हो।

सभी दिगम्बर लेखक श्वेताम्बरमत-प्रवर्तक का नाम 'जिनचन्द्र' लिखते हैं और वर्तमान जैन आगम उसी जिनचन्द्र के बनाये हुए बताते हैं। हम समझते हैं कि दिगम्बरों का यह 'जिनचन्द्र' और कोई नहीं, आचार्य 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' हैं, जिनका समय विक्रम की छठी और सातवीं सदी का मध्य भाग था।

जिनभद्र उस समय की श्वेताम्बर परम्परा के युगप्रधान आचार्य ही नहीं वरन् कट्टर साम्प्रदायिक सिद्धान्तकार भी थे। इन्होंने विशेषा-वश्यकभाष्यादि अनेक भाष्य और अन्य प्रकरण ग्रन्थों की रचना की है। दिगम्बर विद्वान् इनको इतना कोसते हैं इसका यही कारण है कि इन्होंने दिगम्बरों का बड़ी कट्टरता पूर्वक खंडन करके श्वेताम्बर परम्परा को पुष्ट किया था।

भट्टारक देवसेन उपद्रव की शान्ति के लिये शान्ति व्यन्तर की पूजा करने की जो बात कहते हैं, वह वास्तव में श्वेताम्बर जैन परम्परा में प्रसिद्ध 'शान्तिस्नात्र' की सूचना है। श्वेताम्बरों में बहुत पुराने समय से 'जिन भगवान् का जन्माभिषेक महोत्सव' करने की प्रवृत्ति चली आती थी जो पिछले समय में 'शान्तिस्नात्र' और 'शान्तिपूजा' इन नामों से प्रचलित हुई थी जो आज तक इन्हीं नामों से प्रसिद्ध है। इसमें भग-वान् आदिनाथ, अजितनाथ, शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का २७ बार अथवा १०८ बार अभिषेक और पूजन किया जाता है। इसके प्रारम्भ में ग्रह और दिक्पालों को बलिदान भी किया जाता है। मालूम होता है भट्टारक देवसेनजी ने इसी शान्तिपूजा का नाम

सुनकर द्वेषवश 'शान्तिव्यन्तर' और उसकी पूजा की कल्पना गढ ली है।

प० वामदेवजी 'आठ अगुल लबी चतुष्कोण काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र बिछाकर शान्तिव्यन्तर की पूजा करने की बात कहते हैं। यह कथन वस्तुत श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित योग क्रिया का सूचक है। श्वेताम्बर मुनि सूत्रों के योग-सम्बन्धी काल, ग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापन आदि क्रियायें करते समय करीब आठ अगुल लम्बी और चार पाँच अगुल चौड़ी एक काठ की पट्टी अपने सामने रखते हैं और उस पर श्वेतवस्त्रिका भी बिछाते हैं। उसके आगे जो विधि की जाती है उसमें हस्तक्रिया भी ऐसी ही होती है, जिसे अनभिज्ञ आदमी नमस्कार ही समझ ले। प० वामदेवजी ने इस प्रकार की योग क्रिया करते हुए श्वेताम्बर मुनियों को कहीं देखकर यह मान लिया है कि यह शान्तिव्यन्तर की पूजा करते हैं।

प० वामदेवजी 'पर्युपासन' यह नाम कहाँ से उठा लाये इसका कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि इस नाम का या इसके मिलते जुलते नाम का श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे कोई भी देव नहीं माना गया है।

भट्टारक रत्ननन्दी की हड्डियों को पूजने की कल्पना ने तो पहले के दोनों लेखकों को मात कर दिया। श्वेताम्बर जैन साधु अपने पास जो स्थापनाचार्य रखते हैं उन्हीं को लक्ष्य करके रत्ननन्दी की यह कल्पना है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के साधुओं में अपने आचार्य की स्थापना रखने की प्राचीन प्रवृत्ति है। स्थापना मे आचार्य की मूर्ति या चित्र नहीं किन्तु पाँच कौड़े रखते हैं। जिनका आकार घुटने के ऊपर की हड्डी से कुछ मिलता जुलता सा होता है, भट्टारक जी महाराज ने इन्हें कहीं देख लिया और तुरन्त लिख दिया कि 'ये शान्तिसूरि की हड्डियाँ हैं।' वे जो यह कहते हैं कि 'आज भी वे 'खमणादिहडी' इस नाम से प्रसिद्ध हैं' सो शायद यह कल्पित नाम नन्दी क्रिया मे 'खमासमणहत्थेण' इस शब्द के ऊपर से अथवा गुरु को वन्दन करने के लिए जो 'खमासमणों,' शब्द बोलते हैं उसके ऊपर से यह 'खमणादिहडी' नाम गढ लिया गया है।

इस प्रकार श्वेताम्बरोत्पत्ति के विषय मे दिगम्बराचार्यों ने जो कथाएँ गढ़ी हैं उनका शरीर भानमती के पिटारे की तरह इधर उधर की नयी पुरानी बातों से भरा गया है। विक्रम संवत् १३६ मे श्वेताम्बरों के उत्पन्न होने का जो कथन है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि लगभग इसी अर्से मे शिवभूति ने जिनकल्प की हिमायत की थी और स्थविरों के निषेध करने पर भी वे जिनकल्पी बनकर गच्छ से निकल गये थे। सम्भव है कि नग्नता का सक्रिय विरोध करने के लिये स्थविरकल्प के नाम से चली आती हुई ऐच्छिक नग्नता का प्रचार भी उसके बाद रोक दिया गया हो और अपने विरुद्ध वस्त्रधारियों की इस प्रवृत्ति को पिछले दिगम्बराचार्यों ने 'श्वेताम्बरमतोत्पत्ति' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। ऐसा होना सभव भी है, क्योंकि श्वेताम्बरों ने दिगम्बरों के मत की उत्पत्ति लिखी थी तो दिगम्बरों को भी उसका कुछ न कुछ उत्तर तो देना ही था।

आधुनिक विद्वानों के विचार—

हम प्रारम्भ मे ही कह आये हैं कि महावीर के शिष्यों का मुख्य भाग वस्त्रधारी होता था, तथापि सहनन, श्रुतज्ञान आदि की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त कितने ही जिनकल्प का स्वीकार कर नग्नावस्था मे भी रहते थे और इस परिस्थिति के कारण प्राचीन जैन जैनेतर शास्त्रों मे जैनश्रमणों के सम्बन्ध में नग्नतासूचक उल्लेख मिल जायँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार के उल्लेखों को देखकर कुछ यूरोपीय अथवा भारतवर्षीय विद्वानों ने लिख दिया कि 'प्राचीन समय में जैनश्रमण नग्न होते थे' तो इसमें आश्चर्य नहीं है। हम खुद भी तो कहते हैं कि जैन श्रमणों में कुछ नग्न भी होते थे, पर इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि सभी जैन श्रमण नग्न होते थे, वस्त्रधारी होते ही नहीं थे ?

बौद्धों की अर्वाचीन जातक कथाओं मे निर्ग्रन्थ श्रमणों को 'नग्न निर्ग्रन्थ' लिखा देखकर कोई कह दे कि 'प्राचीन निर्ग्रन्थ भी नग्न होते थे' तो ऐसे आंशिक ज्ञानवालों के कथन से प्राचीन श्रमणों की नग्नता साबित नहीं हो सकती। जिन्होंने बौद्धों के सब से प्राचीन पालिग्रन्थों

और प्राचीन जैन सूत्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया है ऐसे विद्वानों की सम्मति ही इस विषय में अधिक विश्वसनीय हो सकती है।

डाक्टर हर्मन जेकोबी इसी प्रकार के विद्वान हैं और इन्होंने जैन-सूत्रों की प्रस्तावना में प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण एक वस्त्र रखते थे। इसीलिए बौद्ध लोग उन्हें 'एक साटक' कहा करते थे।

कतिपय कट्टर साम्प्रदायिक आधुनिक दिगम्बर डा० हार्नले जैसे विचारकों के किसी एकदेशीय अभिप्राय को पढ़कर उसे आप्त वाक्य से भी अधिक मान बैठते हैं और कहने लगते हैं कि देखो, हार्नले साहब के कथन से श्वेताम्बर संघ की उत्पत्तिविषयक दिगम्बर जैन कथानकों की सत्यता झलक जाती है। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि हार्नले साहब ने उस कथानक की सत्यता में न तो कोई प्रमाण दिया है और न उसकी कसौटी ही की है। उन्होंने भद्रबाहु श्रुतकेवली के दक्षिण में जाने और बाद में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बतानेवाला दिगम्बर जैनों का अर्वाचीन कथानक बिना विचारे ही अक्षरश सत्य मानकर दुष्काल में मगध में रहने वाले मुनियों के वस्त्रधारण करने के कारण दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों का विभाग होना बता दिया। यदि उन्होंने इस कथानक को कसौटी पर चढाया होता, तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि यह कथानक जो वृत्तान्त उपस्थित करता है उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है। श्रवण बेल्गुल के एक प्राचीन लेख से इस कथानक की पोल खुल चुकी है कि दक्षिण में जाने वाले 'भद्रबाहु श्रुतकेवली' के नाम से प्रसिद्ध प्रथम भद्रबाहु नहीं किन्तु द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु थे, जो विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। इस पर भी यदि दिगंबर विद्वान् डा० हार्नले को आप्त मानने का आग्रह करते हों तो लीजिये हम भी इन्हीं हार्नले साहब के वचनों का प्रमाण उद्धृत कर दिखाते हैं।

आजीवक नामक अपने निबन्ध में डा० हार्नले कहते हैं—'जब सब तापस एक मत थे कि शरीर के उपरान्त कुछ भी दूसरी मिलकत तापस को न रखनी चाहिये, तब महावीर ने भिक्षान्न लेने के लिये भिक्षापात्र रखने की छूट रक्खी' (जै० सा० स० ३५०)

उसी निबन्ध में डा० हार्नले कहते हैं—'यह सम्भवित जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थ समाज मे सामान्य नियम लंगोटी पहनने का था और केवल नग्नता का सम्प्रदाय गोशालक की टोली में ही प्रवर्तमान था।' (जैन साहित्य संशोधक पृ० ३५०)

डा० हार्नले अपने उसी निबन्ध मे आगे जाकर कहते हैं—'आजीविक पक्ष के जो मनुष्य अपनी तरफ सक्रिय सहानुभूति रखते थे उनको लेकर गोशालक (महावीर से) दूर हो गया, इस प्रकार जुदा पड़ने वालों का समूह बड़ा था। या तो वह अपने नेता गोशालक की मृत्यु के बाद जीवित रहा था यह मान लेने का कोई कारण नहीं है। जो गोशालक की नीति के विरुद्ध आचार-विचारों के समर्थक नहीं थे वे आजीविक पक्ष के मनुष्य निर्ग्रन्थ संघ मे ही रहे, परन्तु सम्पूर्ण नग्नता, भिक्षापात्र का त्याग, अहिंसा विषयक अपूर्ण सावधानी, दण्ड की विशिष्ट संज्ञा और सम्भवत' अन्य बातों सम्बन्धी अपने विचारों को रक्खे रहे। इन भेदों के कारण आजीविक पक्ष और निर्ग्रन्थ समूह के बीच अवश्य ही कुछ संघर्षण तो था ही, पर खास करके वह आजीविकों के प्रति सहानुभूति रखने वाले भद्रबाहु के समय मे बाहर आया। ई० स० पहले की तीसरी सदी के पूर्व भाग मे वह पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ और तेरासि (त्रैराशिक) के नाम से परिचित पक्ष निश्चित रूप से हमेशा के लिये जुदा पड़ा और उसका विशिष्ट संघ बना जो अब 'दिगम्बर' कहलाता है। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन विभागों के मूल का उद्गम जैन धर्म के मूल प्रारम्भ तक मे ज्ञात होता है, कारण कि इसका अस्तित्व परोक्ष रीत्या दो परस्पर विरोधी विभागों के प्रतिनिधि स्वरूप महावीर और गोशालक नाम के दो सहचर अग्रेसरों के वैमनस्य के आभारी हैं।' (जै० सा० सं० ३५६)

दिगम्बर विद्वान् अपने आचार्यों द्वारा गढी हुई भद्रबाहु विषयक कल्पित कथा को सत्य ठहराने के लिये 'प्रख्यात यूरोपीय विद्वान्' कहकर जिनके अभिप्राय को गर्वपूर्वक उद्धृत करते हैं, उन्हीं डाक्टर हार्नले के उपर्युक्त उल्लेख हैं जिनमे वे महावीर को भिक्षापात्र की छूट रखनेवाला, उनके निर्ग्रन्थों को लंगोटी पहनने वाला और आधुनिक

दिगम्बर संघ को भद्रबाहु के समय में निर्ग्रन्थ सघ से जुदी पड़ी हुई गोशालक सन्तति होना बताते हैं। क्यों विद्वानो! प्रख्यात यूरोपीय विद्वान् के इन विचारों को भी आप अक्षरश सत्य मानेंगे न?

इसी प्रकार डा० जे० स्टीवेन्सन और मि० एम० एस० रामस्वामी ऐयगर ने ईसा की प्रथम शताब्दी मे श्वेताम्बर-दिगम्बरों के पृथक् होने की जो बात कही है, उसका आधार भट्टारक देवसेन की वह कथा है जो कि उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय मे गढ़ी है। यदि ये विद्वान् इस कथा को कसौटी पर चढा कर जाँच करते तो विक्रम सवत् के निर्देश आदि से अपने आप इसकी नूतनता और कृत्रिमता प्रकट हो जाती।

हमने ऊपर इस कथा की जो मीमांसा की है, उससे विचारक समझ सकते हैं कि इस कथा में कुछ भी वास्तविकता नहीं है और जब आधारभूत वृत्तान्त ही कृत्रिम है, तो उसके आधार पर व्यक्त किये गये आधुनिक विद्वानों के अभिप्रायों का मूल्य कितना हो सकता है? विचारक पाठकगण स्वय निर्णय कर सकते हैं।

एनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटेनिका के किसी लेखक ने श्वेताम्बर जैन सघ की पुस्तकलेखन सबधी घटना का रहस्य न समझ कर उसे श्वेताम्बरों की उत्पत्ति मानने की भूल कर ली और उस भूल को प्रमाण के तौर पर उद्धृत करके दिगम्बर विद्वानों ने कह दिया कि देखो! इसमे श्वेताम्बरों की उत्पत्ति पाँचवीं सदी मे होना लिखा है। परन्तु उन्हें यह तो समझ लेना चाहिये था कि जब दिगम्बराचार्य स्वय भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हुई लिखते हैं तब यह पाँचवीं सदी बतानेवाला लेखक किस प्रकार प्रामाणिक हो सकेगा, परन्तु जिन्हें येन केन प्रकारेण श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता ही सिद्ध करना है, उन्हें इन बातों से क्या मतलब?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

ऊपर हमने यह बताने का यत्न किया है कि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय मे प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसमें वे सफल नहीं हुए, बल्कि उन्हीं के लेखों से श्वेताम्बर परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

अब हम यह देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करनेवाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नहीं।

बौद्धों के प्राचीन पालिग्रन्थों मे आजीविकमत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है जिसमे मनुष्यों की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छ: अभिजातियाँ बतायी गई हैं, इनमें से दूसरी नीलाभिजाति में बौद्धभिक्षुओं और तीसरी लोहिताभिजाति मे निर्ग्रन्थों का समावेश किया है। इस स्थल में निर्ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त बौद्धसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं—"लोहिताभिजाति नाम निगंथा एकसाटकाति वदति" । अर्थात् एक-चौथड़ेवाले निर्ग्रन्थों को वह लोहिताभिजाति कहता है। (अगुत्तरनिकाय भाग ३ पृष्ठ ३८३)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थों के लिये जो यहाँ 'एक चौथड़ेवाले' यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी अतिप्राचीन बौद्ध लेखकों ने जैन निर्ग्रन्थों के लिये 'एकसाटक' विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय मे भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिकों ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

कट्टर साम्प्रदायिक दिगम्बर यह 'एकसाटक' विशेषण उदासीन निर्ग्रन्थ श्रावकों के लिये प्रयुक्त होने की सम्भावना करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि बौद्ध त्रिपिटकों मे 'निगन्थ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है, श्रावकों के लिये नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निगठस्स नाथपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रावक) अथवा 'निगठसावक' (निर्ग्रन्थों के श्रावक) इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निगथ' शब्द का। इसलिये 'निग्गठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।

बौद्धसूत्र मज्झिमनिकाय मे निर्ग्रन्थ-सघ के साधु सच्चक के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससकिच के अनुयायियों में पाले जाने वाले आचारों का वर्णन कराया है।

सचक कहता है—'ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलक), सर्व शिष्टाचारों से दूर रहते हैं (मुक्ताचार), आहार अपने हाथों में ही चाटते हैं (हस्तापलेखण) इत्यादि।

समझने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सचक स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करनेवाला होता तो वह आजीविक भिक्षुओं का 'हाथ चाटनेवाले' आदि कहकर उपहास कभी नहीं करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे।

बौद्ध दीर्घनिकाय के पासादिक सुत्त में महावीर के निर्वाण के बाद उनके साधुओं में झगड़ा होने की बात कही गई है और लिखा है कि निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र के जो उज्वल वस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक थे वे भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के साधुओं से विरक्त हो गये। ग्रन्थ के मूल शब्द ये हैं—'येपि निगण्ठस्स नायपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना तेपि निगण्ठेसु नाय-पुत्तियेसु निब्बिण्णरूपा।" इसमें प्रयुक्त 'ओदातवसना' शब्द का अर्थ किसी अंग्रेज विद्वान् ने 'श्वेतवस्त्रधारी' ऐसा किया। इस पर से बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे विद्वानों ने मान लिया कि श्वेतवस्त्रधारी महावीर के श्रावक होते थे। इसलिये बौद्धग्रन्थों का 'एकसाटक' निर्ग्रन्थ भी श्वेतवस्त्रधारी जैनश्रावक ही होगा। परन्तु वे यह तो देखें कि यहाँ पर साक्षात् 'श्रावक' शब्द का उल्लेख हुआ है। यदि 'निगण्ठ' शब्द श्रावकवाची होता तो यहाँ 'सावक' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों होती ?

दूसरे अवदात शब्द का अर्थ भी श्वेत नहीं, उज्वल अथवा स्वच्छ होता है। उज्वल श्वेत भी हो सकता है और अन्यवर्ण भी। अंग्रेज कोई केवली नहीं हैं, जो उनके कहने से अवदात का अर्थ श्वेत ही माना जाय और अन्यवर्ण न माना जाय।

बलिहारी है ऐसे कट्टरपंथी विद्वानों की जो अपने पूर्वबद्ध विचारों के समर्थन के लिये सत्य वस्तु का गला घोंटने में और असत्य वस्तु को मूर्तिमान् बनाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते।

दिगम्बर लेखक कहा करते हैं कि श्वेताम्बरमत प्रवर्तक जिनचन्द्र

ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमें स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहार और महावीर का गर्भापहार आदि नयी बातें लिखीं। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते, क्योंकि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध पहले पहल दिगम्बराचार्य कुन्द-कुन्द ने ही किया है जो कि विक्रम की छठी सदी के विद्वान् ग्रन्थकार हैं। इनके पहले के किसी भी ग्रन्थकार ने इन बातों का निषेध नहीं किया। इसलिये इन बातों की प्रामाणिकता स्वय सिद्ध है।

रही गर्भापहार की बात, सो यह मान्यता भी लगभग दो हजार वर्ष से भी प्राचीन है, ऐसा कथन डा० हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों का है और यह कथन केवल अटकल ही नहीं, ठोस सत्य है। इस पर भी इस विषय में जिनको शका हो वे मथुरा के कंकाली टीला मे से निकले हुए 'गर्भापहार' का शिलापट्ट देख लें, जो कि आजकल लखनऊ के म्यूजियम मे सुरक्षित है। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रों में जिस प्रकार का इस विषय का चित्र मिलता है ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिशला और पंखा झेलनेवाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा में सोते हुए और हिरन जैसे मुखवाले हरि-नैगमेषी देव को अपने हस्तसपुट मे महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्यूजियम मे (न० जे० ६२६ वाली शिला की तलाश करें)।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' सम्बन्धी वृत्तान्त दर्शक तीन शिलापट्ट ककाली टीले में से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्युजियम में सुरक्षित हैं। इन पर नं० १०४६ एफ् ३७ तथा १११५ हैं। उपर्युक्त दोनों प्रसगों से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहाँ मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञात होगा कि महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रों मे ही मिलता है। दिगम्बरों के ग्रन्थों मे इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रसगों के प्राचीन लेखों और चित्रपट्टों से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों में वर्णित 'गर्भा-

पहार' और 'आमलकी क्रीड़ा' का वृत्तान्त दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है। इस प्रकार श्वेताम्बर जैन शास्त्रोक्त वृत्तान्तों के प्रामाणिक सिद्ध होने से उन शास्त्रों की प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वय सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैन सघ के मान्य कल्पसूत्र में पुस्तक लिखने के समय की स्मृति में वीरनिर्वाण सवत् ९८० और ९९३ के उल्लेख हैं और इस सूत्र की 'थेरावली' में भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरु परम्परा का वर्णन है। इन दो बातों के आधार पर दिगम्बर विद्वान् यह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है, पर वे यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि इसी कल्पसूत्र की थेरावली में वर्णित कतिपय 'गण,' 'शाखा' और 'कुलों' का निर्देश राजा कनिष्क के समय मे लिखे गये मथुरा के शिलालेखों में भी मिलता है। पाठकों के अवलोकनार्थ उनमें से दो एक लेखो को यहाँ उद्धृत करते हैं।

(१) "सिद्ध। स० २० ग्रामा १। दि१० + ५। कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वरारितो, शाखातो, शिरिकातो भत्तितो, वाचकस्य, आर्य्यसघसिंहस्य निर्व्वर्त्तन दचिलस्य ···वि—लस्य कोठुविकिय, जयवालस्य, देवदासस्य, नागदिनस्य च नागदिनाये च मातुश्राविकाये दिनाये दान। इ। वर्द्धमानप्रतिमा[१]।"

(२) "सिद्ध महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये सवत्सरे नवमे ॥ ९ ॥ मासे प्रथ१ दिवसे ५ अस्यां पूर्वाये कोटियतो गणतो, वाणियतो, कुलतो, वइरितो सारातो, वाचकस्य नागनदिसनिर्वर्तनं ब्रह्मधूतुये भटिमित्रस्स कुडुबिनिये विकटाये श्रीवर्द्धमानस्य प्रतिमा कारिता सर्वसत्वान हित सुखाये।"

ऊपर के दोनों शिलालेखों मे जिन गण, शाखा और कुल का उल्लेख हुआ है वे आर्य सुहस्ति के पट्ट शिष्य सुट्ठियसुप्पडिबुद्ध अपरनाम कोटियकाकन्दक से निकले थे। देखो, 'कल्पथेरावली' का निम्नलिखित पाठ—

---

१ यह लेख कनिंगहामकृत 'आर्कोलोजिकल सर्वे आफ इडिया' के अक आठवें में चित्र १३—१४ में प्रकट हुआ है।

"थेरेहिंतो सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडिय काकन्दएहिंतो वग्घावच्चसगुत्तेहिंतों इत्थ ण कोडियगणो नाम गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइ एवमाहिज्जति। से किंव साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जति तजहा—

उच्चानागरी १ विज्जाहरी य २ वइरी य ३ मज्झिमिल्ला य ४। कोडियगणस्स राया, हवति चत्तारि साहाओ ॥ १ ॥ से तं साहाओ ॥ से किं त कुलाइ? कुलाइ एवमाहिज्जति तं जहा—

पढमित्थ वभलिज्ज १, निइय नामेण वत्थलिज्ज तु २, तइय पुण वाणिज्ज ३, चउत्थय पण्हवाहणय ४ ॥ १ ॥

(कल्पसूत्र मूल दे० ला० पा० ५५)

विचारकगण ऊपर दिये हुए लेखों और कल्पसूत्र के गण, शाखा और कुलों का मिलान करें और सोचें कि जैन श्वेताम्बर-परम्परा कितनी प्राचीन होनी चाहिये और जिसकी बातें लगभग दो हजार वर्ष के शिलालेखों से सत्य प्रमाणित होती हैं, वह कल्पसूत्र कितना प्रामाणिक होना चाहिए।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखों और चित्रपट्टों का उल्लेख किया है वे सब मथुरा ककाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन स्तूप में से सरकारी शोधखातावालों को उपलब्ध हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगमग्रन्थ आचाराङ्ग-निर्युक्ति मे तथा निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों मे इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों के रचनाकाल में यह जैनों का अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारों के समय मे यह 'देवनिर्मित स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। व्यवहार-चूर्णि मे इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप में से उक्त लेखों से भी सैकड़ों वर्षों के पुराने अन्य अनेक लेख, तीर्थंकरों को मूर्तियाँ, पूजापट्टक, प्राचीन पद्धति की अमावतार-वस्त्रवाली जैन श्रमणों की मूर्तियाँ और अन्य अनेक स्मारक मिले हैं, जो सभी श्वेताम्बर परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के सरकारी अजायबघरों में सरक्षित हैं। इन अति प्राचीन स्मारकों में दिगम्बरों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई पदार्थ अथवा उनके चतुर्दश

पूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, अंगधर या उनके बाद के भी किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ या संघ का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। जैन श्वेताम्बरपरम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिये हमारा उपर्युक्त थोड़ा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था वह दक्षिण में जाकर 'यापनीय संघ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि कर्नाटक देश में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग उसके साधुओं में कुछ चैत्यवास का असर हो गया था और वे राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लग गये थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिङ्ग के नाम से वस्त्रपात्र की छूट थी। उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाने वाले श्वेताम्बर आगमग्रन्थों को भी इन उद्धारकों ने अप्रामाणिक ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण करना शुरू किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान थे उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया[1]।

आधुनिक दिगम्बर जैन परम्परा की अर्वाचीनता—

यद्यपि शुरू ही शुरू में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीय संघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल ही नहीं हुआ और शामिल होने वालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक भ्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया तथा धीरे धीरे दिगम्बर संघ द्राविड़ संघ

१ कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपनी गुरुपरंपरा का ही नहीं अपने गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझकर अपने गुरु प्रगुरुओं का नाम निर्देश नहीं किया होगा।

आदि कई भागों में टूट गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं गया। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते जाते थे और विक्रम की नवीं सदी के अकलकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त तो वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों का लोप और इन नये ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया[1]।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तों की नींव विक्रम की छठी शताब्दी मे आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली।

हमारे उक्त विचारों का विशेष समर्थन नीचे की बातों से होगा—

(१) परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी सदी में मथुरा और वलभी और छट्ठी सदी के प्रथम चरण मे माथुर और वालभ्य सघ की सम्मिलित सभा मे वलभी में व्यवस्थित किये और लिखे गये हैं। उनमें के स्थानाङ्ग तथा औपपातिक सूत्र मे और आवश्यक निर्युक्ति मे सात निह्नवों के नाम और उनके नगरों का उल्लेख किया गया है, जो मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसघ से बाहर किये गये थे। इनमें अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल है

---

१ कर्मप्रकृति, प्राभृत और कषायप्राभृत जो कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्त ग्रन्थ थे। आज कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, इतना ही नहीं, बल्कि उनकी प्राचीन टीकाओं का भी आज कहीं अस्तित्व नहीं रहा। इसका कारण क्या होना चाहिये? कुन्दकुन्द के पहले के अन्य ग्रन्थ तो रह जायँ और मौलिक सिद्धान्त जिनका यह सम्प्रदाय 'परमागम' कहकर बहुमान करता है आज न रहें। इसका अवश्य ही कारण होना चाहिये और जहाँ तक हम समझते हैं, इसका कारण एकान्त नग्नवादिता आदि नये सिद्धान्त हैं। जब तक कुन्दकुन्द आदि के एकान्त नग्नतावाद का और स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्ति के निषेधवाद का सार्वनिक प्रचार नहीं हुआ था तब तक उन प्राचीन सिद्धान्तों का जिनमें इन ऐकान्तिक वादों का विधान न होगा—इन सम्प्रदायवालों ने अनुसरण और सरक्षण किया और जब से कुन्दकुन्द का एकान्तवाद सर्वमान्य हो गया तब से उन प्राचीन सिद्धान्तों की उपेक्षा की गयी और परिणाम स्वरूप वे कालान्तर में सदा के लिये नष्ट हो गये।

जो वीर संवत् ५८४ (विक्रम संवत् ११४) में संघ से बहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परंपरा में केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा वस्त्रधारी की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवों की श्रेणि में दर्ज न करने का कोई कारण नहीं था, परंतु ऐसा नहीं हुआ। इससे जान पड़ता है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर-विरोधी-सिद्धान्त प्रतिपादक वर्तमान दिगंबर परंपरा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

(२) विक्रम की सातवीं सदी के पहले के किसी भी लेखपत्र में वर्तमान दिगंबर-परंपरा संमत श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, अङ्गपाठी आचार्यों, गणों, गच्छों और संघों का नामोल्लेख नहीं मिलता।

(३) दिगंबर परंपरा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलियाँ उसके पास विद्यमान हैं वे सभी बारहवीं सदी के पीछे की हैं और उनमें दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम बिलकुल अविश्वसनीय है। बल्कि यह कहना चाहिये कि महावीर निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है वह केवल कल्पित है। पाँच चतुर्दशपूर्वधर, दस दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, एकांगपाठी, अंगैकदेशपाठी आदि आचार्यों के जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं है। इनके विषय में पट्टावलियाँ एक मत भी नहीं हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, अंगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यों का नाम क्रम और समय क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कहीं कुछ नाम लिखे हैं और कहीं कुछ। समय भी कहीं कुछ लिखा है और कहीं कुछ। कहीं भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नहीं मिलती।

इन बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली लेखकों ने, विक्रम की पाँचवी छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावली दी है, वह केवल दन्तकथा मात्र है और अपनी परम्परा की जड को महावीर तक ले जाने की चिन्ता से अर्वाचीन आचार्यों ने इधर उधर के नामों को आगे पीछे करके अपनी परम्परा के साथ

जोड़ दिया है। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् प० नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना में लिखते हैं—"दिम्बर सम्प्रदाय में अगधारियों के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध हैं, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।" परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय में महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध है वह भी उस समय संग्रह की गई थी जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे। क्योंकि पट्टावली-संग्रहकर्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यों की परम्परा जानने का भी साधन नहीं था तो उनके भी पूर्ववर्ती अङ्गपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था, यह निश्चित है।

४—श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण मे जाने के सम्बन्ध मे जो कथा दिगम्बर ग्रन्थों मे उपलब्ध होती है वह विक्रमकी दसवीं सदी के पीछेकी है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे, यह बात श्रवण बेलगोला की पार्श्वनाथ-बस्ति के लगभग शक संवत् ५२२ के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के दर्शनसार, भावसंग्रह आदि ग्रन्थों से सिद्ध हो चुकी है। अतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता-विषयक विद्वानों के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। दिगम्बर विद्वानों ने जो जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई हैं वास्तव मे उन सबका सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है।

५—बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विशाखावत्थु, धम्मपद अट्ठकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है वे ग्रन्थ उस समय के हैं जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। 'डायोलोग्स ऑव् बुद्ध' नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थों में

वर्णित कुछ आचार 'भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तक में (पृष्ठ ६१–६५) दिये गये हैं, जिनमे 'नग्न' रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसाद की दृष्टि मे ये आचार प्राचीन जैन साधुओं के हैं, परन्तु वास्तव मे यह बात नहीं है। मज्झिमनिकाय में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक सघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससकिच के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निग्गथश्रमण सचक ने वर्णन किया था।

६—दिगम्बरों के पास प्राचीन साहित्य नहीं है[1]। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं जो कि विक्रम की छठी सदी की कृति हैं।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति[2] के लिये अयोग्य मानना, जैनों के सिवा दूसरों के घर जैन साधुओं के लिए अहार लेने का निषेध, आह्वनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्या, तर्पण, आचमन और परिग्रहमात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के पौराणिक कालीन होने की साक्षी देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमों में जबकि पुस्तकों को उपधि मे नहीं गिना और उनके रखने मे प्रायश्चित विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि

---

१ यतिवृषभ की 'तिलोय पण्णत्ति', शिवार्य की 'भगवती आराधना' आदि कुछ ग्रंथ कुन्दकुन्द के पूर्व के होने सभवित हैं, परन्तु यह साहित्य इतना कम और एकदेशीय है कि इससे दिगम्बर सम्प्रदाय का निर्वाह होना कठिन है।

२ स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट और कट्टरतापूर्ण विरोध पहले पहल कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों में दिखाई देता है।

साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

ऊपर कई बार यह उल्लेख किया गया है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय भी पहले उन्हीं आगमों को प्रमाण मानता था जिन्हें आजतक श्वेताम्बर जैन मानते आये हैं, परन्तु छठी शताब्दी से जबकि बहुत सी बातों मे अन्तर पड़ गया और खासकर स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि बातों की एकान्त निषेध-प्ररूपणा के बाद उन्होंने इन आगमों को अप्रामाणिक कह कर छोड़ दिया है और नई रचनाओं से अपनी परम्परा को विभूषित किया।

श्वेताम्बर जैन आगम और दिगम्बर ग्रन्थ

वर्तमान आगमों की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय में हम यहां कुछ भी नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पहले ही जैन आगमों के प्रगाढ़ अभ्यासी डाक्टर हर्मन जेकोबी जैसे मध्यस्थ यूरोपीय स्कालरों ने ही इन आगमों को वास्तविक 'जैनश्रुत' मान लिया है और इन्हीं के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने मे वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे दिगम्बर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे 'भगवान् महावीर' नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखते हैं—"जर्मनी के डा० जेकोबी सदृश विद्वानों ने जैन शास्त्रों को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य ससार के समक्ष प्रकट भी किया। ये श्वेताम्बराम्नाय के अङ्ग ग्रन्थ हैं और डा० जेकोबी इन्होंको वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं।"

हम यह दावा नहीं करते कि जैनसूत्र जिस रूप में महावीर के मुख से निकले थे उसी रूप में आज भी हैं और न हमारे पूर्वाचार्यों ने ही यह दावा किया है, बल्कि उन्होंने तो किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों मे अंगसूत्र व्यवस्थित किये और लिखे गये यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रों की भाषा और शैली मे हजार आठ सौ वर्ष में कुछ भी परिवर्तन न हो यह सभव भी नही है। यद्यपि सूत्र मे प्रयुक्त प्राकृत उस समय की सीधी सादी लोक भाषा थी, परन्तु

समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल होती गई और उसे समझने के लिये व्याकरणों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ मे व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने, परन्तु पिछले समय मे ज्यों-ज्यों प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा मे बदलता गया त्यों-त्यों व्याकरणों ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी सौत्र प्राकृत पर भी उसका असर पड़े बिना नहीं रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रों की भाषा नयी सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रों मे एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को बार बार लिख कर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रन्थ इसी शैली मे लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमों के पुस्तकारूढ होने के समय यह शैली कुछ अंशों मे बदल कर सूत्र संक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल मे व्यवस्थित रूप से हो चुकी थी उसे अन्य स्थल में संक्षिप्त कर दिया गया और जिज्ञासुओं के लिये उसी स्थल मे सूचना कर दी गई कि यह विषय अमुक सूत्र अथवा स्थल मे देख लेना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें जो उस समय तक शास्त्रीय मानी जाने लगी थीं, उचित स्थान मे यादो के तौर पर लिख दी गईं जो आजतक उसी रूप में दृष्टिगोचर होती हैं और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती हैं।

जैन सूत्रों मे जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी रूपरेखा ऊपर मुजब है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में कुछ भी रद्दोबदल नहीं हुआ। दिगम्बर-संघ उक्त कारणों से ही इन आगमों को अप्रामाणिक नहीं कह सकता था। इसलिये उसने आगम विषयक कई सात नयी परिभाषाएँ बाँधी और उनके आधार पर वर्तमान आगमों को अप्रामाणिक करार दिया। उदाहरण के तौर पर हम एक परिभाषा का यहाँ विवेचन करेंगे।

प्राचीन पद्धति के अनुसार जैनसूत्रों की 'पद' संख्या निश्चित करके लिख दी गयी है। यह 'पद' संख्या श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों मे नीचे मुजब भिन्न भिन्न है —

	श्वेताम्बर सम्मत पदसंख्या	दिगम्बर सम्मत पदसंख्या
१—आचाराङ्गसूत्र	१८०००	१८०००
२—सूत्रकृताङ्ग	३६०००	३६०००
३—स्थानाङ्ग	७२०००	४२०००
४—समवायाङ्ग	१४४०००	१६४०००
५—व्याख्याप्रज्ञप्ति	२८८०००	२२८०००
६—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	५७६०००	५५६०००
७—उपासकदशाङ्ग	११५२०००	११७००००
८—अंतकृद्दशाङ्ग	२३०४०००	२३२८०००
९—अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग	४६०८०००	९२४४०००
१०—प्रश्नव्याकरणाङ्ग	९२१६०००	९३१६०००
११—विपाकसूत्राङ्ग	१८४३२०००	१८४०००००
	जोड़=३६८४६०००	जोड़=४१५०२०००

हमने उपर्युक्त श्वेताम्बरीय पदसंख्या नन्दीटीकानुसार दी है और दिगम्बर पदसंख्या गोम्मटसारानुसार। दोनों में ४६५४००० पदों का अन्तर है। दिगम्बरों ने इतने पद अधिक माने हैं, परन्तु दोनों सम्प्रदायों में खास विशेषता तो 'पद' की व्याख्या में है।

श्वेताम्बर टीकाकार 'पद' का अर्थ 'अर्थ बोधक शब्द' अथवा 'जिसके अन्त में विभक्ति हो वह पद' यह करते हैं, जो कि व्यावहारिक है, परन्तु दिगम्बराचार्यों ने प्रस्तुत पद की जो परिभाषा बाँधी है, वह एकदम अलौकिक है। वे कहते हैं—'सूत्रों का पद' वह कहलाता है, जिसमें सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षर हों।' गोम्मटसार की निम्नलिखित गाथा देखिये—

"सोलह सय चउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खय चैव।
सत्तसहस्सट्ठसया, अट्ठासीदीय पदवण्णा ॥ १ ॥"

इस हिसाब से दिगम्बरों के एक ही श्रुत पद के बत्तीस अक्षरात्मक

इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छ' सौ और साढ़े इक्कीस (५१०८८४६२१॥) श्लोक होते हैं। क्या कोई कहेगा कि इतने श्लोक वाला एक श्रुतपद भी पढ़ने को कोई मनुष्य समर्थ हो सकता होगा? कभी नहीं। सच बात तो यह है कि उक्त 'पद परिभाषा' एक निरी कल्पना है और वह इसलिये गढी गई है, कि श्रुतज्ञान को इतना बड़ा समुद्र बताकर उसके लिखने की अशक्यता सिद्ध की जाय और श्वेताम्बरों से कह दिया जाय कि 'तुमने जो आगम लिखे हैं, वे असली नहीं हैं। असल आगम इतने बड़े होते हैं कि उन्हें कोई लिख ही नहीं सकता।' परन्तु दिगम्बरों की इस लोकोत्तर कल्पना को मनुष्यों की दुनिया मे रहनेवाला तो कोई भी विचारक मानने को तैयार नहीं होगा। एक यही नहीं, ऐसी अनेक नयी परिभाषाओं की सृष्टि करके परम्परागत जैन आगमों को अप्रामाणिक ठहराने और उनपर से लोगों की श्रद्धा हटाने की चेष्टाएँ की गई हैं।

अब हम यह देखेंगे कि कबतक तो दिगम्बर शाखा ने जैन आगमों को माना और कब इनको मानने से इनकार किया।

ऊपर कहा जा चुका है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय का पूर्वनाम 'यापनीय सघ' था, जो श्वेताम्बरीय परम्परा के आचार-विचार का अनुसरण करनेवाला और कतिपय जैन आगमों को भी माननेवाला था। परन्तु पिछले दिगम्बराचार्य यापनीय-सघ विषयक अपना पूर्व सम्बन्ध भूल गये और नग्नता के समर्थक होते हुए भी श्वेताम्बरीय आगम और आचार विचारों के कारण उसे 'खचर' तक की उपमा देने में न सकुचाये। देखिये षट्प्राभृत की टीका मे श्रुतसागर के निम्नोद्धृत वाक्य—

"यापनीयास्तु वेसरा इवोभय मन्यन्ते, रत्नत्रय पूजयन्ति, कल्प च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्ष, केवलिजिनाना कवलाहार, परशासने सग्रन्थानां मोक्ष च कथयन्ति।"

ऊपर के उल्लेख में यापनीयों को खचर की उपमा देने में श्रुतसागरसूरि ने जो अनेक कारण बताये हैं उनमे 'कल्पवाचना' भी एक है। श्वेताम्बर-परम्परा में वार्षिक पर्व के अवसर पर 'कल्पवाचना' की रीति ठेठ से चली आती है। यही रीति यापनीयों मे भी थी।

इससे सिद्ध होता है कि शिवभूति ने अपनी नग्नपरम्परा अवश्य चलाई थी, पर उन्होंने प्राचीन आगमों को नहीं ठुकराया था।

भगवती आराधना नामक एक प्रसिद्ध दिगम्बरीय परम्परा के ग्रन्थ मे श्वेताम्बरीय निर्युक्तियों तथा भाष्यों की पचासों गाथाएँ आज तक ज्यों की त्यों अथवा नाम मात्र के फेरफार के साथ उपलब्ध होती हैं। स्थलसकोच के कारण इन सब गाथाओं की यहाँ चर्चा करना अशक्य है। मात्र दृष्टान्त के तौर पर दो एक गाथाओं के विषय में यहाँ कुछ लिखेंगे।

श्वेताम्बर मान्य कल्पनिर्युक्ति की दशकल्पप्रतिपादिका निम्नलिखित गाथा भगवती आराधना के १८१ वें पृष्ठ पर दृष्टिगोचर होती है—

"[1]आचेलक्कु[2]देसिय, सेज्जा[3]यर-राय[4]पिंड, [5]परियम्मे [6]किदिकम्मे [7]वद्जेट्ठ [8]पडिक्कमणे, [9]मास [10]पज्जोसवणकप्पो ॥ ४२७ ॥

उक्त गाथा मे १ आचेलक्य, २ औद्देशिकपिंड, ३ शय्यातरपिण्ड, ४ राजपिण्ड, ५ कृतिकर्म (वन्दन), ६ महाव्रत, ७ ज्येष्ठ्य, ८ प्रतिक्रमण, ९ मास और १० पर्यूषण, इन दस कल्पों का उल्लेख है, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मे अति प्रसिद्ध हैं और पूर्वकाल में दिगम्बर-शाखा में भी ये ही दस कल्प प्रचलित होंगे। इस गाथा के स्वीकार से ऐसा मालूम होता है। परन्तु पिछले नये दिगम्बर सम्प्रदाय मे से उक्त कल्पों में से कुछ कल्प लुप्त होगये हैं। यों तो इनमें से बहुत से कल्पों की व्याख्या टीकाकारों ने यथार्थ नहीं की, परन्तु नवें और दसवें कल्प की तो उन्होंने काया ही पलट दी है।

विद्वान् पाठकों के अवलोकनार्थ हम अन्तिम दो कल्पों की वसुनन्दी श्रमणाचार्य कृत व्याख्या नीचे उद्धृत करते हैं। "मासो योगग्रहणात् प्राङ्मासमात्रमवस्थान कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योग समाप्य मासमात्रमवस्थान कर्तव्य लोकस्थितिज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्मासमात्रावस्थान पश्चाच्च मासमात्रावस्थान श्रावकलोकादिसक्लेशपरिहरणाय, अथवा ऋतौ ऋतौ मासमात्र स्थातव्य मासमात्र च विहरण कर्तव्य इति मास श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहण चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नन्दीश्वरकरण च मासश्रमणकल्प ।

पज्जो—पर्या पर्युपासन निषद्यकाया पचकल्याणस्थानाना च सेवन 'पर्ये'त्युच्यते । श्रमणस्य श्रामण्यस्य वा कल्पो—विकल्प श्रमण-कल्प । (मूलाचार भा० २ पृ० १०४–१०५)

टीकाकार मासकल्प के तीन अर्थ लगाते हैं, और वे भी 'अथवा' कह कर पूर्व पूर्व को रद्द करके । पहले कहते हैं—'चातुर्मास्य के पहले एक मास जहाँ रहें वहीं वर्षाचातुर्मास्य करना और चातुर्मास्य के बाद फिर मास भर वहीं रहना उसका नाम मासकल्प है।' इस अर्थ पर निर्भर न रहते हुए वे 'अथवा' कहकर फिर कहते हैं—'एक-एक ऋतु में एक एक मास ठहरना और एक एक मास विहार करना यह मासकल्प है।' परन्तु इस अर्थ पर भी उनको पूरा विश्वास नहीं आता और तीसरा अर्थ लगाते हुए कहते हैं—'चार-चार मास में योगग्रहण और नन्दीश्वर करना मासकल्प है।'

कितनी अनिश्चित और असगत व्याख्या है ? क्या कोई कह सकता है कि छ मास तक एक स्थान पर रहना 'मासकल्प' कहा जा सकता है ? अथवा चार मास मे होने वाली कोई क्रिया 'मासकल्प' का नाम पा सकती है ?

अब 'पज्जो सवणकप्पो' शब्द की हालत सुनिये । टीकाकार 'पज्जो' शब्द को अलग करके उसका सस्कृत 'पर्या' बनाते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं 'पर्युपासना', परन्तु उन्हें यह तो सोचना था कि 'पज्जो' का सस्कृत 'पर्य' बनेगा या 'पर्या', फिर पर्या शब्द की सिद्धि में और उसका 'पर्युपासना' अर्थ करने मे किसी कोप या व्याकरण का भी आधार है या नहीं ? परन्तु इसकी क्या कहें, 'कल्प' का भी अर्थ वे 'विकल्प' करते हैं, जिसका कि यहाँ कोई प्रसग नहीं । इन बातों से क्या उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर दी है कि इन परिभाषाओं को समझने के लिये उनके पास कोई परम्परागत आम्नाय नहीं है ?

हम देख आये हैं कि शिवभूति के समय में ही कितने ही गुरुआम्नायोंसे यह शाखा वचित हो चुकी थी और शेप जो आचार विचार और आम्नाय प्रचलित थे उनमें से भी बहुत से यापनीय सघ से अलग

होते समय छूट गये। फलतः श्वेताम्बर-साहित्य से ली हुई कई गाथाओं का वे वास्तविक अर्थ नहीं पा सके और कल्पनाबल से नये नये अर्थ लगाते हुए प्राचीन स्थविर-परम्परा से बहुत दूर निकल गये।

अब हम एक अन्य गाथा का उल्लेख करेंगे जो भगवती आराधना में (पृष्ठ ३९२) दृष्टिगोचर होती है, पर वास्तव में श्वेताम्बरीय शाखा के बृहत्कल्पभाष्य की है—

"देसामासियसुत्त, आचेलक्क ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो, जह तालपलबसुत्तम्मि ॥ ११२३ ॥"

इस गाथा के चतुर्थ चरण मे प्रयुक्त, तालप्रलब सूत्र के नामोल्लेख से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि यह गाथा श्वेताम्बरीय है, क्योंकि इसमे जिस तालप्रलम्ब सूत्र का उल्लेख किया गया है वह श्वेताम्बरीय 'बृहत्कल्प' का प्रथम सूत्र है और आजतक उपलब्ध होता है।

इसी भगवती आराधाना में एक 'जहणा' नामक अधिकार है जिसमें साधु के मृत शरीर को त्यागने की विधि है। यह सारा का सारा अधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्त्यन्तर्गत 'पारिठावणियाविधि' की मूलगाथाओं और प्राकृतचूर्णि के आधार पर से कुछ फेरफार के साथ सकलित किया गया है, तथापि गुरु सम्प्रदाय न होने के कारण दिगम्बराचार्य कहीं कहीं निर्युक्तिगत गाथाओं का भाव नहीं समझ सके। पाठकों के मनोविनोदार्थ हम एक दो गाथाओं की यहाँ चर्चा करेंगे।

पारिठावणियाविधिकार विधान करते हैं, "जहाँ साधु का शव परठना (छोड़ना) हो वहाँ कुश का सथारा (पथारी) करना चाहिये। कुश के अभाव मे 'चूर्ण' अथवा 'केसर' से उस स्थान मे 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना।" इस विषय का प्रतिपादन करनेवाली गाथायें नीचे मुजब हैं—

"कुसमुट्ठीएगाए, अव्वोच्छिण्णाइ तत्थ धाराए।
सथार सथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥ ४८ ॥
जत्थ य नत्थि तणाइ, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकार च बधेज्जा ॥ ५१ ॥"
(आवश्य सूत्र पृ० ६३५)

ये ही गाथाएँ कुछ फेरफार के साथ भगवती आराधना में नीचे मुजब उपलब्ध होती हैं—

"तेण कुसमुट्ठिधाराए, अव्वोच्छिण्णाए, समणिवादाए ।
संथारो कादव्वो, सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १९८० ॥
(भ० आ० ६३५)

असदि तणे चुण्णेहिं य, केसरिच्छारिट्टिकादिचुण्णेहिं ।
कादव्वो थ ककारो, उवरे हिट्ठा तकारो से ॥ १९८८ ॥
(भगवती-आराधना ६३७)

इनमें पारिठावणिया विधिकार 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वहाँ पर वासचूर्ण अथवा केसर से 'पुतला' करना चाहिये। मौर्यकाल में 'क' और 'त' का संयोग '$\frac{+}{\lambda}$' इस प्रकार पुत्तलक के रूप में होता था। पुतला बनाना ऐसी स्पष्टोक्ति न कर इस प्रकार अन्योक्ति में पुत्तलक विधान किया। इसका कारण यह है कि पुत्तलक बनाना शिल्पी या होशियार मनुष्य का काम है। हर एक साधु इस काम में होशियार नहीं होता। परन्तु संयुक्त '$\frac{+}{\lambda}$' लिखना सभी जानते थे इसलिये 'क' के नीचे 'त' बाँधने के कथन द्वारा 'पुत्तलक' निर्माण का भाव बताने में ग्रन्थकार ने बड़ी बुद्धिमानी की है। इस उक्ति का भाव भगवती आराधनाकार की समझ में नहीं आया क्योंकि वे विक्रम की पाँचवीं छठी सदी के ग्रन्थकार थे और 'क' और 'त' का संयोग विक्रम की दूसरी सदी के पहले ही अपना 'पुत्तलक' आकार बदल चुका था। अतएव उन्होंने प्रकरण और शब्दों को बदलकर अर्थ में अस्पष्टता उत्पन्न कर दी है।

उक्त गाथा में 'तकार-ककार' के संयोग से पुत्तलक का विधान प्रतिपादन करने से पारिठावणियाविधिकार श्वेताम्बरस्थविर की प्राचीनता का भी पता चल जाता है कि वे विक्रम की दूसरी सदी के पहले के आचार्य थे।

भगवती आराधनाकार की अर्वाचीनता उन्हीं के कथन से सिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है जो कि विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद का 'गण' का स्थानापन्न

होते समय छूट गये। फलत. श्वेताम्बर-साहित्य से ली हुई कई गाथाओं का वे वास्तविक अर्थ नहीं पा सके और कल्पनाजाल से नये नये अर्थ लगाते हुए प्राचीन स्थविर-परम्परा से बहुत दूर निकल गये।

अब हम एक अन्य गाथा का उल्लेख करेंगे जो भगवती आराधना मे (पृष्ठ ३९२) दृष्टिगोचर होती है, पर वास्तव में श्वेताम्बरीय शास्त्र के बृहत्कल्पभाष्य की है—

"देसामासियसुत्तं, आचेलक्कं ति त खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ ११२३ ॥"

इस गाथा के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त, तालप्रलम्ब सूत्र के नामोल्लेख से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि यह गाथा श्वेताम्बरीय है, क्योंकि इसमे जिस तालप्रलम्ब सूत्र का उल्लेख किया गया है वह श्वेताम्बरीय 'बृहत्कल्प' का प्रथम सूत्र है और आजतक उपलब्ध होता है।

इसी भगवती आराधाना में एक 'जहणा' नामक अधिकार है जिसमें साधु के मृत शरीर को त्यागने की विधि है। यह सारा का सारा अधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्त्यन्तर्गत 'पारिठावणियाविधि' की मूलगाथाओं और प्राकृतचूर्णि के आधार पर से कुछ फेरफार के साथ सकलित किया गया है, तथापि गुरु सम्प्रदाय न होने के कारण दिगम्बराचार्य कहीं कहीं निर्युक्तिगत गाथाओं का भाव नहीं समझ सके। पाठकों के मनोविनोदार्थ हम एक दो गाथाओं की यहाँ चर्चा करेंगे।

पारिठावणियाविधिकार विधान करते हैं, "जहाँ साधु का शव परठना (छोडना) हो वहाँ कुश का सथारा (पथारी) करना चाहिये। कुश के अभाव मे 'चूर्ण' अथवा 'केसर' से उस स्थान मे 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना।" इस विषय का प्रतिपादन करनेवाली गाथायें नीचे मुजब हैं—

"कुसमुट्ठीएगाए, अव्वोच्छिण्णाइ तत्थ धाराए।
सथार सथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥ ४८ ॥
जत्थ य नत्थि तणाइ, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकार च बधेज्जा ॥ ५१ ॥"
(आवश्य सूत्र पृ० ६३५)

ये ही गाथाएँ कुछ फेरफार के साथ भगवती आराधना मे नीचे मुजब उपलब्ध होती हैं—

"तेण कुसमुट्ठिधाराए, अव्वोच्छिण्णाए, समणिवादाए।
सथारो कादव्वो, सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १९८० ॥
(भ० आ० ६३५)

असदि तणे चुण्णेहिं व, केसरिच्छारिट्टिकादिचुण्णेहिं।
कादव्वो थ ककारो, उवरे हिट्ठा तकारो से ॥ १९८८ ॥
(भगवती-आराधना ६३७)

इनमे पारिठावणिया विधिकार 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वहाँ पर वासचूर्ण अथवा केसर से 'पुतला' करना चाहिये। मौर्यकाल मे 'क' और 'त' का सयोग '$\frac{1}{\lambda}$' इस प्रकार पुत्तलक के रूप मे होता था। पुतला बनाना ऐसी स्पष्टोक्ति न कर इस प्रकार अन्योक्ति मे पुत्तलक विधान किया। इसका कारण यह है कि पुत्तलक बनाना शिल्पी या होशियार मनुष्य का काम है। हर एक साधु इस काम मे होशियार नहीं होता। परन्तु सयुक्त '$\frac{1}{\lambda}$' लिखना सभी जानते थे इसलिये 'क' के नीचे 'त' बाँधने के कथन द्वारा 'पुत्तलक' निर्माण का भाव बताने मे ग्रन्थकार ने बड़ी बुद्धिमानी की है। इस उक्ति का भाव भगवती आराधनाकार की समझ मे नहीं आया क्योंकि वे विक्रम को पाँचवीं छठी सदी के ग्रन्थकार थे और 'क' और 'त' का सयोग विक्रम की दूसरी सदी के पहले ही अपना 'पुत्तलक' आकार बदल चुका था। अतएव उन्होंने प्रकरण और शब्दों को बदलकर अर्थ मे अस्पष्टता उत्पन्न कर दी है।

उक्त गाथा मे 'तकार-ककार' के सयोग से पुत्तलक का विधान प्रतिपादन करने से पारिठावणियाविधिकार श्वेताम्बरस्थविर की प्राचीनता का भी पता चल जाता है कि वे विक्रम की दूसरी सदी के पहले के आचार्य थे।

भगवती आराधनाकार की अर्वाचीनता उन्हीं के कथन से सिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है जो कि विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद का 'गण' का स्थानापन्न

शब्द है। इसी भगवती-आराधना में साधु या आर्या का मृत शरीर उठाने के लिये पालकी (रथी) बनाने का विधान किया है जो कि वसतिवास होने के बहुत पीछे की रूढ़ि है। इसके अतिरिक्त अन्य कई शब्द और परिभाषाएँ इसमें मिलती हैं जो सब श्वेताम्बरों की हैं। दिगम्बरीय साहित्य में उनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्यमान प्राचीन ग्रन्थों मे वट्टकेराचार्यकृत 'मूलाचार' भी एक है। यद्यपि इस ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नहीं है तथापि संग्रह ग्रन्थ होने के कारण इसका समय निर्णीत करना कठिन नहीं है। इस मूलाचार के पचाचाराधिकार मे कुल २२२ गाथाएँ हैं जिनमे ६० गाथाएँ अक्षरश. भगवती आराधना की हैं। कुछ श्वेताम्बर आगमों की और कुछ ग्रन्थकार की स्वनिर्मित हैं।

'समाचाराधिकार' में कुछ गाथाएँ भगवती-आराधना की, कुछ श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति की और कुछ स्वनिर्मित हैं।

'पिण्डविशुद्धयधिकार' मे मौलिक गाथाएँ श्वेताम्बरीय पिण्ड-निर्युक्ति की ही हैं। हाँ, कहीं कहीं उनकी व्याख्या अपने सम्प्रदायानुसार अवश्य बदल दी गई है।

'पर्याप्त्यधिकार' मे कहीं-कहीं आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। दोनों 'प्रत्याख्यानसंस्तारस्तवाधिकारों' मे श्वेताम्बरीय 'पइन्नों' की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों संग्रह की गई हैं।

'समयसाराधिकार' मे आवश्यकनिर्युक्ति और दशवैकालिकसूत्र की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

मूलाचार का षडावश्यकाधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति का ही संक्षिप्त संग्रह है। इसमें कुल १९३ गाथाएँ हैं जिनमें से ७७ गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति की हैं और ८ आवश्यकभाष्य की। इनमे १५–२० गाथाएँ कुछ विकृत कर दी गई हैं और जहाँ साम्प्रदायिक मतभेद था वहाँ गाथा को अपनी मान्यता के अनुकूल बना दिया है। शेष गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य का संक्षिप्त सार लेकर स्वतंत्र निर्माण की गई हैं। परन्तु सामान्यरूप से इन सब पर शौरसेनी का असर डालने के लिये 'त' के स्थान पर 'द' अवश्य बना दिया गया है। मूला-

चार की रचना हुई उसके बहुत पहले ही जैन आगम लिखे जा चुके थे इसलिए ग्रन्थकार को कतिपय श्वेताम्बर आगम तो मिल गये पर परम्परागत अर्थाम्नाय नहीं मिला। इस कारण कई प्रकरण और परिभाषाएँ कल्पनाबल से समझने की चेष्टा करनी पड़ी जिसमे कई जगह वे सफल नहीं हुए। उदाहरण के तौर पर 'सामाचारी' प्रकरण को ही लीजिये।

प्राचीन शब्द 'सामाचारी' का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण उसके स्थान पर वट्टकेर ने 'सामाचार' शब्द गढा और उसके प्रतिपादन के लिए कुछ फेरफार के साथ निम्नलिखित आवश्यकनिर्युक्ति की गाथायें लिख दीं—

"इच्छामिच्छाकारो, तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा, छदण सनिमतणा य उवसपा ॥१२५॥
इट्ठे इच्छाकारो, मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
पडिसुणणह्मि तहत्ति य, णिग्गमणे आसिआ भणिआ ॥१२६॥
पविसते य णिसीही, आपुच्छणिया सकज्ज आरम्भे।
साधम्मिणा य गुरुणा, पुव्वणिसिद्धमि पडिपुच्छा ॥१२७॥
छदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमतणा भणिया।
तुह्ममह ति गुरुकुले, आदणिसग्गो दु उवसपा ॥१२८॥

इसमे १२५ वीं गाथा आवश्यकनिर्युक्ति की ६६६ वीं गाथा और ६६७ वीं गाथा के प्रथमचरण का सक्षेप है और बाद की १२६-१२७-१२८ इन तीन विवरण गाथाओं मे कुछ मे तो आवश्यकनिर्युक्ति का अनुसरण है और कुछ मे स्वतत्रता है। स्वतत्रता आने का कारण कुछ तो साम्प्रदायिकता और कुछ आम्नायानभिज्ञता हुई है।

सामाचारी के पहले भेद 'इच्छाकार' का पारिभाषिक अर्थ यह है कि साधु अपना कुछ भी कार्य अन्य साधु को कहे तो 'इच्छाकारेण (इच्छा से अर्थात् तुम्हारी इच्छा हो तो) अमुक कार्य करो' इस प्रकार शब्द प्रयोग करे, पर आदेश के रूप मे किसीको हुक्म न करे। आचार्य वट्टकेर या तो इस भाव को समझ ही नहीं पाये और अगर

समझे हैं तो जान बूझकर उन्होंने इसका अर्थ बदल दिया है। क्योंकि नग्न, करपात्र और निष्प्रतिकर्म साधु के लिये ऐसा कोई-कार्य ही नहीं होता जो अन्य साधु से करवाया जाय। इस विचार से उन्होंने 'इच्छाकार' का अर्थ किया 'इट्ठे इच्छाकारो' अर्थात् इष्ट का कार्य करने की इच्छा करना, परन्तु यह नहीं सोचा कि—'इच्छा करना' यह सामाचारी या सामाचार कैसे हो सकेगा ?

शुभ कार्य करने की इच्छा करना यह जीवमात्र का कर्तव्य है। ऐसे सर्वसाधारण मानसिक विचारमात्र को 'साधु सामाचार' कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार 'आवसिया' शब्द को बिगाड़ कर 'आसिआ' बना दिया है जिसके अर्थ की कुछ भी सगति नहीं होती। 'छदण' और 'निमन्तणा' का अर्थ मूलगाथा में बिलकुल अस्पष्ट है। 'छदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमतणा' ये मूल गाथा के शब्द हैं। जिनका शब्दार्थ ग्रहण किये हुए द्रव्य में छदना और अगृहीत द्रव्य मे निमत्रणा' होता है, परन्तु इन शब्दों से कुछ भी विशिष्ट अर्थ नहीं निकलता। हाँ, इस विषय का आगे जाकर कुछ स्पष्टीकरण अवश्य किया है पर वहाँ भी अर्थ संगति नहीं होती। सामान्य रीति से दोनों परिभाषाओं का अर्थ बिगाड दिया है, पर 'निमन्त्रणा' की तो और भी मिट्टी पलीद कर दी है। इस पद की निम्नोद्धृत विवरण गाथा देखिये—

"गुरु साहम्मियदव्व, पुत्थयमण्ण च गेण्हिदुं इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो, णिमतणा होई कायव्वा ॥१३८॥ (पृष्ठ १२२)

अर्थात् "गुरु और साधर्मिक-सम्बन्धी पुस्तक अथवा अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करना चाहे तो उनको विनयपूर्वक निमन्त्रण करना चाहिये।" देखिये, कैसी अर्थसगति बिगड़ गई है ? 'निमत्रणा' कुछ भी पदार्थ देने के लिये पहले की जानेवाली प्रार्थना का नाम है न कि 'याचना' का। टीकाकार ने निमन्त्रणा का अर्थ 'याचना' करके अर्थ सगति करने की चेष्टा की है पर निमन्त्रणा शब्द का ऐसा अर्थ करना कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखता।

आहार-पानी आदि श्रमणोपयोगी पदार्थ लाकर 'इसमें से इच्छा हो सो लीजिये, इस प्रकार अन्य साधु की प्रार्थना करना उसको छदना

कहते हैं और आहार-पानी आदि लेने जाते समय 'आपके लिये मैं लाऊँगा' इस प्रकार अन्य साधु को न्योता देना उसका नाम है 'निमन्त्रणा'। परन्तु दिगम्बराचार्य इन परिभाषाओं का भाव नहीं समझ सके और कल्पनाबल से जो कुछ अर्थ सूझा वही लिख दिया।

श्वेताम्बर आगमों मे ओघसामाचारी, दशविधसामाचारी और पदविभागसामाचारी, ऐसे सामाचारी के तीन भेद कहे हैं। ओघनिर्युक्ति मे जिस सामाचारी का निरूपण है वह ओघसामाचारी, इच्छामिच्छा आदि दशविधसामाचारी (इसको 'चक्रवाल सामाचारी भी कहते हैं) और कल्पव्यवहारादि छेद सूत्रोक्त आचार को पदविभाग-सामाचारी कहते हैं।

यद्यपि वट्टकेर के पास आवश्यकनिर्युक्ति विद्यमान थी और उसमे 'त्रिविध सामाचारी' का उल्लेख भी था, तथापि वहाँ दशविधसामाचारी के अतिरिक्त अन्य सामाचारियों का कुछ भी वर्णन नहीं था। इस कारण दशविध सामाचारी के नाम निर्देश के बाद आये हुए निर्युक्तिकार के "एएसिं तु पयाण पत्तेयपरूवण वोच्छ" (इन इत्येक पदों का निरूपण करूँगा) इस 'प्रत्येक पद' शब्द प्रयोग से उन्होंने इन्हीं दस पदों के विवरण को 'पदविभाग सामाचारी' मानलिया, परन्तु फिर भी सामाचारी के तीन भेद पूरे नहीं हुए तब त्रिविध सामाचारी के स्थान पर दो ही प्रकार का सामाचार मानकर रह गये।

इस प्रकार प्रकरणों की अपूर्णता, परिभाषाओं की अनभिज्ञता और अर्थ की असगतियों का विचार करने से यह बात लगभग निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर आचार्य ने दशविधसामाचारी की मौलिक बातें श्वेताम्बर-शाखा की आवश्यकनिर्युक्ति मे से ली हैं और उसकी व्याख्या करते समय अर्थ बदलने की चेष्टा की है जिसमे वे सफल नहीं हुए।

ऊपर के सक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि मूलाचार की रचना दशवैकलिक, महापच्चक्खाणादि पइन्नय, आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकभाष्यादि अनेक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम और भगवती आराधनादि कतिपय दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर विक्रम की सातवीं सदी के आसपास में हुई है।

समझे हैं तो जान बूझकर उन्होंने इसका अर्थ बदल दिया है। क्योंकि नग्न, करपात्र और निष्प्रतिकर्म साधु के लिये ऐसा कोई-कार्य ही नहीं होता जो अन्य साधु से करवाया जाय। इस विचार से उन्होंने 'इच्छाकार' का अर्थ किया 'इट्ठे इच्छाकारो' अर्थात् इष्ट का कार्य करने की इच्छा करना, परन्तु यह नहीं सोचा कि—'इच्छा करना' यह सामाचारी या सामाचार कैसे हो सकेगा ?

शुभ कार्य करने की इच्छा करना यह जीवमात्र का कर्तव्य है। ऐसे सर्वसाधारण मानसिक विचारमात्र को 'साधु सामाचार' कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार 'आवसिया' शब्द को बिगाड़ कर 'आसिआ' बना दिया है जिसके अर्थ की कुछ भी सगति नहीं होती। 'छदण' और 'निमन्तणा' का अर्थ मूलगाथा मे बिलकुल अस्पष्ट है। 'छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमतणा' ये मूल गाथा के शब्द हैं। जिनका शब्दार्थ ग्रहण किये हुए द्रव्य मे छदना और अगृहीत द्रव्य मे निमंत्रणा' होता है, परन्तु इन शब्दों से कुछ भी विशिष्ट अर्थ नहीं निकलता। हाँ, इस विषय का आगे जाकर कुछ स्पष्टीकरण अवश्य किया है पर वहाँ भी अर्थ सगति नहीं होती। सामान्य रीति से दोनों परिभाषाओं का अर्थ बिगाड दिया है, पर 'निमन्त्रणा' की तो और भी मिट्टी पलीद कर दी है। इस पद की निम्नोद्धृत विवरण गाथा देखिये—

"गुरु साहम्मियदव्व, पुत्थयमण्ण च गेण्हिदु इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो, णिमतणा होई कायव्वा ॥१३८॥ (पृष्ठ १२२)

अर्थात् "गुरु और साधर्मिक-सम्बन्धी पुस्तक अथवा अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करना चाहे तो उनको विनयपूर्वक निमन्त्रण करना चाहिये।" देखिये, कैसी अर्थसगति बिगड़ गई है ? 'निमत्रणा' कुछ भी पदार्थ देने के लिये पहले की जानेवाली प्रार्थना का नाम है न कि 'याचना' का। टीकाकार ने निमन्त्रणा का अर्थ 'याचना' करके अर्थ सगति करने की चेष्टा की है पर निमन्त्रणा शब्द का ऐसा अर्थ करना कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखता।

आहार-पानी आदि श्रमणोपयोगी पदार्थ लाकर 'इसमें से इच्छा हो सो लीजिये, इस प्रकार अन्य साधु की प्रार्थना करना उसको छदना

कहते हैं और आहार-पानी आदि लेने जाते समय 'आपके लिये मैं लाऊँगा' इस प्रकार अन्य साधु को न्योता देना उसका नाम है 'निमन्त्रणा'। परन्तु दिगम्बराचार्य इन परिभाषाओं का भाव नहीं समझ सके और कल्पनाबल से जो कुछ अर्थ सूझा वही लिख दिया।

श्वेताम्बर आगमों में ओघसामाचारी, दशविधसामाचारी और पदविभागसामाचारी, ऐसे सामाचारी के तीन भेद कहे हैं। ओघनिर्युक्ति में जिस सामाचारी का निरूपण है वह ओघसामाचारी, इच्छामिच्छा आदि दशविधसामाचारी (इसको 'चक्रवाल सामाचारी भी कहते हैं) और कल्पव्यवहारादि छेद सूत्रोक्त आचार को पदविभागसामाचारी कहते हैं।

यद्यपि वट्टकेर के पास आवश्यकनिर्युक्ति विद्यमान थी और उसमें 'त्रिविध सामाचारी' का उल्लेख भी था, तथापि वहाँ दशविधसामाचारी के अतिरिक्त अन्य सामाचारियों का कुछ भी वर्णन नहीं था। इस कारण दशविध सामाचारी के नाम निर्देश के बाद आये हुए निर्युक्तिकार के "एएसिं तु पयाण पत्तेयपरूवण वोच्छं" (इन प्रत्येक पदों का निरूपण करूँगा) इस 'प्रत्येक पद' शब्द प्रयोग से उन्होंने इन्हीं दस पदों के विवरण को 'पदविभाग सामाचारी' मानलिया, परन्तु फिर भी सामाचारी के तीन भेद पूरे नहीं हुए तब त्रिविध सामाचारी के स्थान पर दो ही प्रकार का सामाचार मानकर रह गये।

इस प्रकार प्रकरणों की अपूर्णता, परिभाषाओं की अनभिज्ञता और अर्थ की असंगतियों का विचार करने से यह बात लगभग निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर आचार्य ने दशविधसामाचारी की मौलिक बातें श्वेताम्बर शाखा की आवश्यकनिर्युक्ति में से ली हैं और उसकी व्याख्या करते समय अर्थ बदलने की चेष्टा की है जिसमें वे सफल नहीं हुए।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि मूलाचार की रचना दशवैकलिक, महापच्चक्खाणादि पइन्नय, आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकभाष्यादि अनेक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आगम और भगवती आराधनादि कतिपय दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर विक्रम की सातवीं सदी के आसपास में हुई है।

ऊपर हमने दिगम्बर सम्प्रदाय के जिन दो प्राचीन ग्रन्थों की जो मीमांसा की है उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) विक्रम की पाँचवीं सदी तक दिगम्बर सम्प्रदाय भी बहुधा श्वेताम्बर आगमों को ही मानता था।

(२) प्रारम्भ में दिगम्बर-ग्रन्थकार अपनी रचना में मुख्य आधार श्वेताम्बर जैनागमों का ही लेते थे।

(३) परम्परागत कतिपय आगमिक परिभाषाओं का पता न लगने के कारण कहीं-कहीं दिगम्बर ग्रन्थकार अपनी कल्पना से काम लेते थे। जिसके फलस्वरूप वे कई बातों मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अलग हो गये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'दिगम्बराचार्य श्वेताम्बर परम्परागत आगमों का आश्रय लेते थे' यह कहने के बदले यही क्यों न कहा जाय कि दिगम्बर ग्रन्थों में जो श्वेताम्बर ग्रन्थोक्त गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे वास्तव मे ऐसे आगमों की होंगी जो श्वेताम्बर और दिगम्बरों के पृथक होने के पहले के होंगे और दोनों सम्प्रदायों में परम्परा से चले आये होंगे।

ठीक है, यह कथन दशवैकालिक और आवश्यकनिर्युक्ति के सम्बन्ध में किसी तरह मान लिया जा सकता है, पर छेद, भाष्यों और आवश्यकभाष्य की गाथाओं के विषय में क्या समाधान किया जायगा? क्योंकि भाष्य साम्प्रदायिक पृथक्त्व के बहुत पीछे के हैं। जिनका शिवार्य और वट्टकेर ने उपयोग किया है। वस्तुत उक्त ग्रन्थों के निर्माण-समय मे दिगम्बरसप्रदाय के पास परम्परागत दशवैकालिक और निर्युक्ति आदि ग्रन्थों का भी अस्तित्व रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि दिगम्बरीय सम्प्रदाय मे इन ग्रन्थकारों के बहुत पहले ही अग और प्रकीर्णकों का विच्छेद हो चुका था।

शिवार्य पूर्वाचार्यों की रचनाओं का उपजीवन करके भगवती-आराधना की रचना करने की बात कहते हैं और वट्टकेर भी सामायिक-निर्युक्ति को आचार्य-परम्परागत बताते हैं। फिर भी इससे यह मान लेना

कुछ भी प्रमाण नहीं रखता कि ये ग्रन्थ दिगम्बरीय होंगे। क्योंकि दिगम्बरों मे न तो शिवार्य के पहले का कोई आराधना ग्रन्थ ही है और न वट्टकेर के पहले की षडावश्यकनिर्युक्ति ही। इसके विपरीत श्वेताम्बर-परम्परा में 'महापच्चक्खाण' आदि अनेक अति प्राचीन आराधना-विषयक 'पइन्नय' ग्रन्थ और दशवैकालिक आवश्यकनिर्युक्ति आदि प्राचीन आगम आज भी मौजूद हैं। इससे यह मानना ही युक्तिसगत है कि दिगम्बर ग्रन्थकार जिनका उपयोग करना स्वीकार करते हैं वे ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के थे।

दिगम्बर ग्रन्थों के लिखने की कथा—

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा मे मथुरा और वलभी मे आगम पुस्तकारूढ होने सम्बन्धी वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उसी प्रकार दिगम्बरों मे भी पुण्ड्रवर्धन नगर मे पुस्तक लिखने सम्बन्धी एक कथा है जो श्रुतावतार कथा के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह कथा अधिक प्राचीन नहीं है तथापि इसमे आंशिक सत्यता अवश्य होनी चाहिये। चीनी परिव्राजक हुएनत्साग जब पुण्ड्रवर्धन मे गया था तो उसने वहाँ पर नग्न साधु सबसे अधिक देखे थे। इससे भी अनुमान होता है कि उस समय अथवा तो उसके कुछ पहले वहाँ दिगम्बर सघ का सम्मेलन हुआ होगा। यद्यपि कोई-कोई दिगम्बर विद्वान् उक्त सम्मेलन को कुन्दकुन्दाचार्य के पहले हुआ बताते हैं, परन्तु दिगम्बरीय पट्टावलियों की गणनानुसार यह प्रसग कुन्दकुन्द के बहुत पीछे बना था। पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टकाल निम्नलिखित क्रम से मिलता है—

१—कुन्दकुन्दाचार्य	५१५–५१९
२—अहिवल्याचार्य	५२०–५६५
३—माघनन्द्याचार्य	५६६–५९३
४—धरसेनाचार्य	५९४–६१४
५—पुष्पदन्ताचार्य	६१५–६३३
६—भूतबल्याचार्य	६३४–६६३
७—लोहाचार्य	६६४–६८७

पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाण सम्बन्धी समझते हैं, परन्तु वास्तव मे ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिये, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा मे विक्रम की बारहवीं सदी तक बहुधा शक और विक्रम सवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख वीर सवत् के साथ किया हो यह हमारे देखने मे नहीं आया तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय लिखने मे उन्होंने वीर सवत् का उपयोग किया होगा? जान पड़ता है, कि सामान्यरूप मे लिखे हुए विक्रम वर्षों को पिछले पट्टावली लेखकों ने निर्वाणाब्द मान कर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यता को यथार्थ मान कर पिछले इतिहास-विचारक भी वास्तविक इतिहास को बिगाड बैठे हैं।

यदि हम पट्टावलियों मे लिखे हुए पट्टक्रम को ठीक न मान कर श्रुतावतार में दिये हुए श्रुतधर क्रम को ठीक मान लें तो भी कुन्दकुन्द बहुत पीछे के आचार्य सिद्ध होंगे। क्योंकि श्रुतावतार के लेखानुसार आरातीय मुनियों के बाद अर्हद्बलि आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से ६८३ (विक्रम संवत् २१३) तक विद्यमान थे। इसके बाद क्रमश अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने पट्खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्यमंक्षु को कषायप्राभृत का सक्षेप पढाया। उनसे यतिवृषभ ने और यतिवृषभ से उच्चारणाचार्य ने कषायप्राभृत सीखा और गुरु परपरा से दोनों प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुँचा। श्रुतावतार के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि अग ज्ञान की प्रवृत्ति जो वीर स० ६८३ (विक्रम स० २१३) तक चली थी उसके बाद अनेक आचार्यों के पीछे कुन्दकुन्द हुए थे।

हमारे इस विवेचन से विचारकगण समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की छठी सदी के प्रथम चरण मे स्वर्गवासी हुए थे और उनके बाद विक्रम की सातवीं सदी के मध्य भाग में दिगम्बर ग्रन्थ पुस्तकों पर लिख कर व्यवस्थित किये गये थे।

इन सब बातों के विचार के उपरान्त यह कहने में हमें कुछ भी सकोच नहीं होता कि दिगम्बर सम्प्रदाय के जो-जो आचार विचार विषयक मौलिक[1] ग्रन्थ हैं वे श्वेताम्बर आगमों के आधार पर बने हैं और दिगम्बरों के दार्शनिक साहित्य की जड़ भी श्वेताम्बराचार्य वाचक उमास्वाति कृत सभाष्य तत्वार्थसूत्र ही है यह कहने की शायद ही आवश्यकता होगी।

---

१ दिगम्बर-सम्प्रदाय की श्रुतावतार कथाओं में कर्मप्रकृतिप्राभृत और कषाय प्राभृत ग्रन्थों के निर्माण का जो वृत्तान्त दिया है। उससे भी हमें तो यही प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के क्रमश ज्ञाता धरसेन और गुणधरमुनि प्राचीन स्थविर (श्वेताम्बर) परम्परा के स्थविर होने चाहिये, क्योंकि धरसेन का निवास गिरनार के पास बताया है जहाँ कि उस समय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य ही विचरते थे। गुणधरमुनि से नागहस्ती और आर्यमंगु के कषायप्राभृत सीखने सम्बन्धी वृत्तान्त भी विचारणीय हैं, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में ही नागहस्ती और आर्य-मंगु नामक दोनों आचार्यों का पता मिलता है, दिगम्बर परम्परा में नहीं। और खास ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय जिन धरसेन और गुणधर मुनि से अपने आगमों की उत्पत्ति हुई बताता है, उनके विषय में वह कुछ भी जानकारी नहीं रखता। श्रुतावतार में इन्द्रनन्दी कहते हैं—'धरसेन और गुणधर गुरु के वंश का पूर्वापर क्रम हम नहीं जानते, क्योंकि उनका क्रम कहनेवाला कोई आगम या मुनि नहीं है।' क्या आश्चर्य है कि ये दोनों श्रुतधर श्वेताम्बर परम्पराके हों और इसी कारण से दिगम्बर पम्परा को इनके विषय में अधिक जानकारी न मिली हो।

एक बात और है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार उनके धार्मिक ग्रन्थों का आधार धरसेनाचार्य का 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' और गुणधरमुनि का 'कषायप्राभृत' है। इन्हीं दो ग्रन्थों की टीका चूर्णियों से उनका धार्मिक साहित्य पनपा है। परन्तु देखना यह है कि 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' एक छोटा सा कर्मविषयक निबन्ध था। जिसे पुष्पदन्त और भूतबलि ने कुछ दिनों में ही धरसेन से पढ़ लिया था और कषाय प्राभृत भी एक सौ तिरासी गाथात्मक मूल और तिरेपन गाथा प्रमाण उस पर विव रण था, तो इन दो छोटे से प्राचीन निबन्धों से दिगम्बरों का धार्मिक साहित्य इतना विस्तृत कैसे हुआ? और सिर्फ 'कर्म' और 'कषाय' के प्रतिपादक इन दो ग्रन्थों के आधार पर सब विषयक धार्मिक साहित्य कैसे रचा गया? हम समझते

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन परम्पराओं के विषय मे जितना चाहे लिखा जा सकता है। क्योंकि ये दोनों ही परम्पराएँ अब तक दृढमूल हैं और अपनी कृतियों से ससार को प्रभावित कर रही हैं। तथापि ग्रन्थ के एक परिच्छेद में इससे अधिक लिखना उचित नहीं जँचता।

उपसहार

यों तो इस विषय मे अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वान् लिख चुके हैं तथापि आज तक उन लेखों से इन परम्पराओं की वास्तविकता प्रकट नहीं हुई थी। हमने यहाँ जो इतना विस्तार किया है खास इसी त्रुटि को दूर करने के लिये।

दिगम्बर विद्वान् कहा करते हैं कि 'स्थविरकल्प' नामक 'कल्प' पिछले समय में श्वेताम्बरों द्वारा गढा गया है, परन्तु इस लेख से वे जान सकेंगे कि 'स्थविरकल्प' की मान्यता प्राचीन दिगम्बराचार्यों मे भी थी। जिनकल्पधारक साधु प्रथम सहननवाला और विशिष्ट श्रुत-धर होना चाहिए, ऐसी केवल श्वेताम्बरों की ही मान्यता न थी, बल्कि दिगम्बराचार्य भी यही मानते थे कि जिनकल्पिक प्रथम सहननधारी और एकादशाङ्ग श्रुतधारी होना चाहिये। इन मान्यताओं के ऊपर से यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद थोड़े ही समय मे प्रथम सहनन के साथ 'जिनकल्प' का विच्छेद हो गया था, जैसा कि श्वेताम्बर परम्परावाले मानते हैं। उस समय के बाद जितने भी दिगम्बर-श्वेताम्बर साधु हुए सब स्थविरकल्पिक थे।

जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के आचारमार्ग का जैसा पृथक्करण श्वेताम्बराचार्यों ने किया है वैसा दिगम्बराचार्यों ने नहीं किया और एकान्त नग्नता एकान्त निष्प्रतिकर्मतादि कितने ही जिन-कल्पिकों के उग्र आचारों को वे स्थविरकल्पिकों के लिये भी ऐकान्तिक

हैं कि हमारे समानधर्मियों ने अपने धार्मिक ग्रथों के निर्माण में श्वेताम्बर-परम्परा के सगृहीत और लिखित साहित्य का खुल कर उपयोग किया है और इसी परम्परा के धार्मिक सूत्र प्रकरणों के आधार पर टीका, चूर्णियाँ और विविध विषय के ग्रन्थ बनाकर अपना साहित्य भण्डार भरा है।

मान बैठे। परिणामस्वरूप दोनों परम्पराओं के मिलने का रास्ता ही बंद हो गया और दोनों परम्परावालों में एक दूसरे को निह्नव और मिथ्यादृष्टि कहने तक की नौबत पहुँच गयी।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का खण्डन करनेवाले यदि यह जान लेते कि उनके पूर्वाचार्य भी स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और साधुओं के लिये अपवाद मार्ग से वस्त्रपात्र का स्वीकार करते थे तो हम समझते हैं कि वे श्वेताम्बरों के साथ इतना विरोध कभी नहीं करते।

भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के बाद श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति होने सम्बन्धी दिगम्बरीय मान्यता कितनी निर्मूल है, यह बात इस लेख से स्पष्ट हो गई है। सच तो यह है कि भद्रबाहु के दक्षिण में जाने सबन्धी घटना विक्रम की पाँचवीं सदी के अन्त में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में घटी थी। उस समय में उत्तर भारतवर्ष में दुर्भिक्ष भी पडा था और उसके बाद सुभिक्ष होने पर वलभी में श्वेताम्बर संघ का एक बड़ा भारी सम्मेलन भी हुआ था। जिसमें माथुरी और वालभी वाचनाओं का एकीकरण और पुस्तक-लेखन-सम्बन्धी चिरस्मरणीय कार्य सम्पन्न हुए थे। इसी अर्वाचीन घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर दिगम्बर लेखकों ने अपने सम्प्रदाय को प्राचीन ठहराने की चेष्टा की है, परन्तु यदि वे यह जान लेते कि दिगम्बरों के ही लेखों से यह घटना द्वितीय भद्रबाहु सबन्धी सिद्ध होती है तो हम समझते हैं कि श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिये वे कभी चेष्टा नहीं करते।

वर्तमान जैन आगमों को कल्पित और अर्वाचीन कहनेवाले दिगम्बर जैन विद्वान् यदि यह जान लेते कि उनके धार्मिक ग्रन्थ भी, जिन्हें वे प्रामाणिक और आप्तप्रणीत समझते हैं, उन्हीं आगमों के आधार पर बने हैं जिन्हें वे नूतन और श्वेताम्बराचार्य प्रणीत कहते हैं, तो शायद जैन आगमों का वे इतना निरादर कभी नहीं करते। इसी प्रकार श्वेताम्बर लेखक भी यदि यह समझ लेते कि उनकी परम्परा के पूर्वकालीन मुनि भी नग्नता और अर्धनग्नता का आदर करते थे और अमुक देश-

काल मे वे स्वय नग्न और अर्धनग्न रहते थे तो हम समझते हैं कि नग्नता के नाते दिगम्बर जैनों को कोसने का समय नहीं आता।

हमें आशा है कि दोनों सम्प्रदायों के विवेचक विद्वान् और सत्यान्वेषी पाठक इस लेख को जिज्ञासाबुद्धि से पढ़ेंगे और वस्तु-स्थिति को समझने का यत्न करेंगे।

बिहारस्थल-नाम-कोष

विहारस्थल-नाम-कोष

अंग—अग देश मगध के पूर्व मे था। आजकल के भागलपुर और मुगेर के समीप का प्रदेश पूर्वकाल मे अग जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी चम्पा नगरी थी। आजकल भागलपुर से पश्चिम में चार मील पर चम्पानाला स्थान है, वही पूर्वकालीन चम्पा है।

चम्पा के ईशान दिशाभाग मे पूर्णभद्र चैत्य था, जहाँ पर भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था और शताधिक राजकुमारों, राजवशी महिलाओं तथा सेठ साहूकारों की प्रव्रज्यायें हुई थीं।

अंग मंदिर चैत्य—चम्पा के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम।

अच्छ—जैन सूत्रोक्त मगध के आसपास के सोलह देशों मे से एक का नाम 'अच्छा' था। आचार्य श्रीहेमचन्द्र के अभिप्रायानुसार 'अच्छा' वरुणा देश की राजधानी थी। आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता गगा यमुना के बीच मे कौशाम्बी के वायव्य और कानपुर के नैर्ऋत मे 'अत्स्य' देश बताते हैं, जो 'अच्छ' का सस्कृतरूप है। किसीके मत से बुलदशहर के आस पास का प्रदेश पूर्वकाल मे 'अच्छ' कहलाता था।

अनार्यदेश—भगवान् महावीर के अनार्य देश में विहार करने और नौ बार वर्षा चातुर्मास्य अनार्यभूमि मे अनियतरूप से व्यतीत करने का वर्णन आता है। वह अनार्यभूमि पश्चिम बगाल की राढभूमि और वीरभोम आदि सथाल प्रदेश समझना चाहिये।

अपापा—पावा का पहले 'अपापा' नाम था, परन्तु महावीर का वहाँ देहान्त हुआ, इस कारण वह 'पापा' कहलाई। विशेष के लिये 'पावा' शब्द देखिये।

अबाध (अबाहा)—भगवतीसूत्रोक्त सोलह देशों में से एक का नाम अबाध था। यह देश भारत के मध्यदेशों मे था।

अबसाल चैत्य (आम्रसाल चैत्य)—आमलकप्पा के निकटवर्ती उद्यान का नाम। इस उद्यान में भगवान् महावीर का समवरण हुआ था।

अमोघदर्शन—पुरिमताल नगर के समीपवर्ती एक उद्यान का नाम।

अयोध्या—फैजाबाद से छ मील पूर्वोत्तर मे प्राचीन अयोध्या थी। महावीर के समय में अयोध्या का स्थानापन्न साकेत नगर था।

अवन्ति—वत्स देश के दक्षिण में अवन्ति का राज्य था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। महावीर के समय मे उज्जयिनी में चण्ड प्रद्योत का राज्य था। चण्डप्रद्योत की पट्टरानी शिवादेवी और अगारवती प्रमुख अन्य रानियाँ श्रमण भगवान् महावीर के धर्मशासन को माननेवाली थीं। चण्डप्रद्योत भी महावीर का प्रशसक था।

अस्थिकग्राम (अट्ठियग्राम)—यहाँ पर शूलपाणि यक्ष के चैत्य में भगवान् ने वर्षाचातुर्मास्य किया और उपसर्गकारी यक्ष को शान्त किया था।

अस्थिकग्राम विदेह जनपद मे अवस्थित था। इसके समीप वेगवती नदी बहती थी। भगवान् मोराक सनिवेश से यहाँ आये थे, और यहाँ से फिर मोराक होकर आप वाचाला की तरफ पधारे थे।

अहिच्छत्रा—अहिच्छत्रा बरेली जिला में बरेली से बीस मील पश्चिम की ओर है। आजकल के रामनगर के समीप पूर्वकाल में अहिच्छत्रा थी। एक समय यह नगरी उत्तरपाञ्चाल की राजधानी थी। जैनसूत्रों के लेखानुसार अहिच्छत्रा कुरु-जागल की राजधानी थी।

आमलकल्पा (आमलकप्पा)—बौद्धग्रन्थोक्त बुलिय राज्य की राजधानी 'अलकप्प' ही आमलकल्पा समझनी चाहिये। यह स्थान पश्चिमविदेह में श्वेताम्बी के समीप था। आमलकल्पा के बाहर अंबसाल चैत्य मे महावीर का समवसरण हुआ था, जहाँ महावीर ने सूर्याभदेव के पूर्वभव का निरूपण किया था।

आर्य भूमि—जैनसूत्रों मे भारतवर्ष मे अग, वग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, विदेह, वत्स, मत्स्य आदि साढे पचीस देश आर्य माने गये हैं और शेष अनार्य। आवश्यकचूर्णि मे आर्य-अनार्य भूमि के विषय मे लिखा है कि जो-जो युगलिक मनुष्य कुलकरों की आज्ञा में रहे, वे आर्य कहलाये और जिन्होंने उनकी मर्यादा का उल्लघन

किया वे अनार्य। जैनसूत्रों में पूर्व में ताम्रलिप्ती, उत्तर मे श्रावस्ती, दक्षिण मे कौशाम्बी और पश्चिम में सिन्धु तक आर्य-भूमि मानी गई है। परन्तु भगवान् महावीर के समय मे उक्त मर्यादा ठीक थी या नहीं, यह कहना कठिन हैं। महावीर उक्त आर्य-देशों मे तो विचरे ही थे परन्तु हमारे मत से आप का विहार दक्षिण की तरफ विन्ध्याचल की घाटियों तक भी हुआ था।

आलभिका (आलभिया)—इस नगरी के बाहर शखवन उद्यान था। आलभिया के तात्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। महावीर के प्रसिद्ध दस श्रमणोपासकों मे से पाँचवाँ उपासक गाथापति चुल्लशतक इसी नगरी का रहने वाला था। भगवान् के ऋषिभद्र प्रमुख दूसरे भी अनेक प्रसिद्ध उपासक यहाँ रहते थे, जिनकी भगवान् महावीर ने प्रशसा की थी। यहीं पर भगवान् महावीर ने पोग्गल परिव्राजक को निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश देकर अपना श्रमणशिष्य बनाया था।

कतिपय विद्वान् आधुनिक 'एरवा' को, जो इटावा से बीस मील उत्तर-पूर्व की तरफ अवस्थित एक प्राचीन नगर है, 'आलभिया' कहते हैं, परन्तु जैनसूत्रों के लेखानुसार हमे यह मानने को बाध्य होना पडता है कि आलभिया आजकल का एरवा नहीं किन्तु काशी-राष्ट्रान्तर्गत एक प्रसिद्ध नगरी थी। यह राजगृह से बनारस जाते हुए मार्ग पर अवस्थित थी। महावीर जब जब राजगृह से बनारस और बनारस से राजगृह को विहार करते, बीच मे आलभिया मे अवश्य ठहरा करते थे।

आलभिका (आलभिया)—आलभिया और आलभिया सभवत एक ही स्थान के दो नाम हैं। आवश्यक मे महावीर के विहारवर्णन में आलभिका का उल्लेख है। भगवान् ने छद्मस्थावस्था का सातवाँ वर्षाचातुर्मास्य यहाँ किया था और सगमक के उपसर्ग समाप्त होने के बाद यहाँ पर हरिविद्युत्कुमारेन्द्र ने भगवान् को सुखशाता पूछी थी।

आवत्ताग्राम (आवर्त्तग्राम)—यहाँ पर भगवान् महावीर ने तपस्वी अवस्था में बलदेव के मदिर मे कायोत्सर्ग किया था और ग्राम के लोगों के सताने पर बलदेव की मूर्ति ने आपकी सहायता की थी।

यह ग्राम कहाँ था, यह बताना कठिन है। भगवान् श्रावस्ती से हलिद्दुग, नगला होकर यहाँ आये थे और यहाँ से चोराक, कलबुका होते हुए राढ देश मे गये थे, इससे अनुमान होता है कि शायद यह कोशल जनपद का ही कोई ग्राम होगा, जो पूर्व तरफ जाते मार्ग में पडता था।

उज्जयिनी—मालव अर्थात् अवन्तिजनपद की राजधानी उज्जयिनी एक प्राचीन नगरी है। महावीर के समय मे यहाँ प्रद्योतवशी महासेन चण्डप्रद्योत का राज्य था। प्रद्योत वशपरम्परा से जैनधर्म का अनुयायी था। चण्डप्रद्योत भी जैनधर्म का सहायक था।

उत्तरकोसल—फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी के जिले तथा आसपास के कुछ भाग, अवध, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़ और जौनपुर जिलों के कुछ भाग उत्तरकोसल अथवा कोसल जनपद कहलाता था। महावीर के समय में इसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर—वैशाली के समीप क्षत्रियकुण्डपुर नगर था। भगवान् महावीर का जहाँ जन्म हुआ था, उसको उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर कहते थे। उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिला मे गडकी नदी के निकटवर्ती बेसाढ़पट्टी ही प्राचीन वैशाली है और इसके पास का बसुकुण्ड प्राचीन क्षत्रियकुण्डपुर।

उत्तरवाचाला (उत्तर वाचाला)—कनकखल आश्रमपद मे चण्डकौशिक को प्रतिबोध देने के उपरान्त पन्द्रह दिन तक तप और ध्यान करके महावीर उत्तरवाचाला गये थे, जहाँ नागसेन ने आपको क्षीर का भोजन कराया था। यहीं जाते समय भगवान् का वस्त्र सुवर्णवालुका नदी के पुलिन मे कांटों मे लगकर गिरा था। यह नगर श्वेताम्बीके निकटवर्ती था।

उत्तरविदेह—नेपाल का दक्षिण प्रदेश पहले उत्तरविदेह कहलाता था।

उद्दंडपुर—यह नगर पटना जिला (बिहार) में था। पालवशी राजाओं की यहाँ राजधानी थी। गोशालक ने उद्दडपुर के चन्द्रावतरण

चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोड़कर मल्लराम के शरीर में प्रवेश करने का महावीर के सामने दावा किया था।

उन्नाग (उन्नाक)—पुरिमताल से महावीर उन्नाग होकर गोभूमि की तरफ गये थे जहाँ गोशालक पीटा गया था। आजकल का 'उन्नावा' प्राचीन 'उन्नाग' हो सकता है।

उपनन्द पाटक—ब्राह्मणगाँव का एक हिस्सा जहाँ का जमींदार उपनन्द था और जहाँ गोशालक भिक्षा के लिये गया था।

उल्लुकातीर—यह नगर उल्लुका नदी के तट पर था। इसके आसपास का प्रदेश नदीखेड देश कहलाता था। उल्लुकातीर के बाहर एकजम्बूचैत्य नामक उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते और उपदेश करते थे। आजकल यह स्थान कहाँ होगा, यह बताना कठिन है। सूत्रों में जहाँ इसका उल्लेख है उसके पहले और पीछे राजगृह के समवसरण की चर्चा है। इससे अनुमान होता है कि उक्त नगर मगध के ही किसी प्रदेश में रहा होगा।

ऋजुपालिका (रिजुवालिया)—ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ था। हजारीबाग जिला में गिरिडीह के पास बहनेवाली बाराकड नदी को ऋजुपालिका अथवा रिजुवालुका कहते हैं। प० श्रीसौभाग्य विजयजी ने इसके सबन्ध में अपनी तीर्थमाला में लिखा है कि यहाँ दामोदर नदी बहती है। पर इन उल्लेखों से भगवान् के केवलकल्याणक की भूमि का निश्चित पता लगना कठिन है। आजकल जहाँ सम्मेतशिखर के समीप केवलभूमि बताई जाती है उसके पास न तो ऋजुवालिका या इससे मिलते-जुलते नामवाली कोई नदी है और न जंभियग्राम अथवा इसके अपभ्रष्ट नाम का ग्राम। सम्मेतशिखर से पूर्वदक्षिण दिशा में दामोदर नदी आज भी है पर ऋजुवालिका अथवा उजुवालिया नदी का कहीं पता नहीं है। हाँ, उक्त दिशा में आजी नाम की एक बड़ी नदी अवश्य बहती है। यदि इस आजी को ही उजुवालिका मान लिया जाय तो बात दूसरी है। परन्तु एक बात अवश्य विचारणीय है। आजी एक बड़ी और इसी नाम से प्रसिद्ध प्राचीन नदी है। स्थानांगसूत्र में गंगा

की पाँच सहायक बड़ी नदियों मे इसकी 'आजी' इसी नाम से परि-गणना की है। अत. 'आजी' को 'उज्जुवालिया' का अपभ्रंश मानना ठीक नहीं है। एक बात यह भी है कि आजी अथवा दामोदर नदी से पावा-मध्यमा, जहाँ भगवान् का दूसरा समवसरण हुआ था, लगभग १४० मील दूर पडती है जब कि शास्त्र में भगवान् के केवलज्ञान के स्थान से मध्यमा बारह योजन दूर बताई है। आवश्यकचूर्णि के लेखानुसार भगवान् केवली होने के पूर्व चम्पा से जभिय, मिंडिय, छम्माणी होते हुए मध्यमा गये थे और मध्यमा से फिर जभियगाँव गये थे जहाँ आपको केवलज्ञान हुआ। इस विहारवर्णन से ज्ञात होता है कि 'जभियग्राम' और 'ऋजुपालिका नदी' मध्यमा के रास्ते मे चम्पा के निकट ही कहीं होनी चाहिये कि जहाँ से चलकर भगवान् रात भर में मध्यमा पहुँचे थे। बारह योजन का हिसाब भी इससे ठीक बैठ जाता है।

ऋषभपुर (उसभपुर)—इस नगर के बाहर थूभकरण्डक उद्यान था जहाँ धन्य यक्ष का चैत्य था। महावीर के समय मे यहाँ का राजा धनावह और रानी सरस्वती थी। इनके पुत्र का नाम भद्रनन्दी था। महावीर एक बार यहाँ पधारे, तब भद्रनन्दी ने श्राद्धधर्म का स्वीकार किया था और दूसरे समवसरण में श्रमणधर्म के महाव्रत।

उत्तराध्ययनटीका में दूसरे निह्नव तिश्यगुप्त का नगर ऋषभपुर मे होना लिखा है परन्तु उन्होंने साथ मे ऋषभपुर को राजगृह का पर्याय भी बताया है। इस विषय में आवश्यकचूर्णिकार लिखते हैं—अति-पूर्वकाल में क्षितिप्रतिष्ठित नगर था, उसका वास्तु उच्छिन्न हो जाने पर चनक नगर बसा। चनक नगर के जीर्ण होने पर ऋषभपुर। उसके बाद कुशाग्रपुर और कुशाग्रपुर के बाद उसका स्थानापन्न राजगृह बसा। इस प्रकार ऋषभपुर राजगृह नहीं पर पूर्वकालीन मगध का स्वतंत्र पाट नगर था, ऐसा सिद्ध होता है। उसके उद्यान, यक्ष आदि के नाम भी भिन्न हैं। अत ऋषभपुर मगधदेश का कोई अति प्राचीन नगर रहा होगा। परन्तु महावीर के जहाँ समवसरण हुए वह ऋषभपुर पाञ्चाल की तरफ उत्तर भारत में कहीं रहा होगा ऐसा हमारा अनुमान है।

एकजंबूचैत्य—उल्लुकातीर नगर के उद्यान का नाम जहाँ महावीर का समवसरण हुआ था और इन्द्र ने महावीर से देवागमन सम्बन्धी प्रश्न किया था।

कनकखल (आश्रमपद)—यहाँ पर भगवान् को चण्डकौशिक सर्प ने डसा था। आपने उस क्रूर दृष्टिविष सर्प को बोध देकर यहाँ पंद्रह दिन तक ध्यान किया था। यह आश्रमपद श्वेताम्बिका नगरी के समीप था।

कनकपुर (कणगपुर)—इस नगर के श्वेताशोक उद्यान में वीरभद्र यक्ष का स्थान था। यहाँ के तात्कालीन राजा का नाम प्रियचंद्र और रानी का सुभद्रादेवी था। राजा के पुत्र युवराज का नाम वैश्रमणकुमार और युवराजपुत्र का नाम धनपति था। भगवान् पहली बार यहाँ पधारे तब धनपति के पूर्वभवों का वर्णन करके उसे श्रमणोपासक बनाया और दूसरे समवसरण मे धनपति को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी।

कयलिसमागम (कदलीसमागम)—भद्दिल नगरी का वर्षाचातुर्मास्य समाप्त होने पर बाहर पारणा करके भगवान् कदलीसमागम पधारे थे।

कयलिसमागम मगध के दक्षिण प्रदेश मलयभूमि मे कहीं होगा, क्योंकि भगवान् मलय की राजधानी भद्दिल नगरी से यहाँ होते हुए वैशाली गये थे।

कयंगला (कचंगला)—पृष्ठचम्पा का वर्षाचातुर्मास्य समाप्त करके भगवान कयंगला गये और दरिद्दथेर पाषंडस्थों के देवल मे ठहरे थे। यह स्थान यदि अगदेश मे ही चम्पा से पूर्व की तरफ हो तब तो आज कल का ककजोल हो सकता है। बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर कई विद्वान् ककजोल को ही कचगला मानते हैं, जो सथाल परगना मे है। परन्तु जैनसूत्रों के अनुसार कचगला नगरी श्रावस्ती के समीप थी। कात्यायन स्कन्दक श्रावस्ती के निकटवर्ती इसी कचगला के छत्रपलास चैत्य मे महावीर के शिष्य बने थे।

कर्णसुवर्ण—मुर्शिदाबाद जिला मे भागीरथी के दक्षिण तट पर

जहाँ आजकल रांगामाती नगर है, पौराणिक काल मे यहाँ पर पश्चिम बगाल की राजधानी कर्णसुवर्ण नगर था। आजकल इसका अपभ्रश नाम 'कानसोना' है। भगवान् महावीर के समय मे कर्णसुवर्ण कोटिवर्ष के नाम से प्रसिद्ध था।

कर्मारग्राम (कम्मारगाम)—प्रव्रज्या लेकर महावीर प्रथम रात्रि यहाँ ठहरे थे और यहीं आपको सर्वप्रथम गोपद्वारा उपसर्ग हुआ था।

कर्मारग्राम का अर्थ कर्मकारग्राम अर्थात् मजदूरों का गाँव होता है। कहीं कहीं कर्मार का अर्थ लोहकार भी लिखा है। इससे जहाँ भगवान् दीक्षा लेकर प्रथम रात्रिवास ठहरे थे, वह या तो मजदूरों की बसती थी अथवा लोहारों का गाँव। यह गाँव क्षत्रियकुण्ड के निकट था, यह निश्चित है। कर्मारग्राम से दूसरे दिन विहार करके भगवान् ने कोल्लाकसन्निवेश मे पारणा किया था। यह कोल्लाक वाणिज्यग्राम और उसके उद्यान दूतिपलाश के बीच में पडता था, ऐसा उपासकदशा-सूत्र के प्रथमाध्ययन के वर्णन से सिद्ध होता है। वाणिज्यग्राम और वैशाली एक दूसरे के समीप थे, यह कल्पसूत्र आदि के उल्लेखों से सिद्ध है। इन बातों से सिद्ध होता है कि भगवान् का जन्मस्थान कुण्डपुर, उपसर्गस्थान कर्मारग्राम और प्रथमपारणास्थान कोल्लाकसनिवेश, ये सब एक दूसरे के पास पास थे।

कलंबुका (कलंबुआ)—यहाँ पर महावीर और गोशालक काल-हस्ती के हाथ से पकडे गये और उसके भाई मेघ के पास ले जाने के बाद छोड दिए गये थे। कलबुका अगदेश के पूर्व प्रदेश मे कहीं रहा होगा, क्योंकि यहाँ से भगवान् सीधे राढदेश मे गये थे।

कलिंग—उड़ीसा से दक्षिण मे और द्राविड से उत्तर में महानदी और गोदावरी के बीच का समुद्र तट का देश जिसको आज कल उत्तर सरकार के नाम से पहिचानते हैं, प्राचीन 'कलिंग' देश है। महावीर के समय में कलिंग की राजधानी काञ्चनपुर नगर था, जो सामान्य रूप से कलिंग नगर भी कहलाता था। सातवीं शताब्दी मे कलिंग नगर भुवने-श्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज तक इसी नाम से प्रख्यात है।

काकन्दी—यह उत्तर भारतवर्ष की प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी। महावीर के समय में काकन्दी में जितशत्रु राजा का राज्य था। इसके बाहर सहस्राम्रवन उद्यान था। महावीर यहाँ अनेक बार पधारे थे। भद्रा सार्थवाही के पुत्र धन्य और सुनक्षत्र ने यहीं पर महावीर के पास श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी। महावीर के श्रमणशिष्य क्षेमक और धृतिधर गृहस्थाश्रम में यहीं के रहने वाले थे।

आजकल लछुआड से पूर्व में काकन्दी तीर्थ माना जाता है, परन्तु हमारे मत से काकन्दी का मूल स्थान यहाँ पर नहीं था। महावीर के विहारवर्णन से जाना जा सकता है कि काकन्दी उत्तर भारतवर्ष में कहीं थी। नूनखार स्टेशन से दो मील और गोरखपुर से दक्षिणपूर्व तीस मील पर दिगम्बर-जैन जिस स्थान को किष्किंधा अथवा खुखुदोजी नामक तीर्थ मानते हैं, हमारे विचार से यही प्राचीन काकन्दी है।

काञ्चनपुर—यह नगर कलिंग देश का प्राचीन पाट नगर था। आजकल का भुवनेश्वर ही प्राचीन काञ्चनपुर है।

काम महावन—वैशाली के पास यह उद्यान था। महावीर ने ग्यारहवाँ वर्षावास इसी काम महावन के चैत्य में किया और जीर्ण सेठ ने भगवान् को आहार पानी के लिये प्रार्थना की थी।

काम महावन (२)—यह उद्यान वाराणसी के समीप था, ऐसा गोशालक के संवाद से पाया जाता है। गोशालक ने महावीर के सामने कहा था—उसने काम महावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़कर रोह के शरीर में प्रवेश किया है।

काम्पिल्य (कंपिल्ल)—इस नगर के बाहर सहस्राम्र नामक उद्यान था। यहाँ के तात्कालिक राजा का नाम जितशत्रु था। यहाँ का गाथापति कुंडकौलिक महावीर का परम भक्त श्राद्ध था, जिसकी भगवान् महावीर ने अपने मुख से प्रशंसा की थी।

आजकल काम्पिल्य, जो कंपिला के नामसे पहचाना जाता है, फर्रुखाबाद से पचीस और कायमगंज से छः मील उत्तरपश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है। एक समय काम्पिल्य दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी।

कालाक संनिवेश (कालाय संनिवेस)—चम्पा के बाहर पारणा करके महावीर ने कालाक मे जाकर रात को शून्य घर मे ध्यान किया था, जहाँ गोशालक को ग्रामकूट सिंह के हाथ से मार पडी थी।

यह सनिवेश चम्पा के निकट कहीं होना चाहिये।

काशी—बनारस के आसपास का प्रदेश, प्राय बनारस कमिश्नरी और आजमगढ जिला पहले काशी देश कहलाता था। महावीर के समय मे यह राष्ट्र कोशल देश मे मिला हुआ था। इसकी राजधानी बनारस थी।

किरातदेश—आसाम और सिलहट का प्रदेश पहले पहल किरात देश कहलाता था। यहाँ बहुधा किरात लोगों की बस्ती थी। इस देश की राजधानी त्रिपुरा थी जो आजकल 'तिपरा' नामसे प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर इस देश मे विचरे थे कि नहीं यह कहना कठिन है।

कुण्डग्राम—इस नाम के दो ग्राम थे। एक ब्राह्मणकुण्डग्राम और दूसरा क्षत्रियकुण्डग्राम। दोनों मे क्रमश ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्वामित्व और निवास होने से ये नाम पड़े थे। दोनों वैशाली के शाखापुर थे। महावीर एक बार ब्राह्मणकुण्डग्राम के उद्यान मे पधारे। तब दोनों कुण्डग्रामों से भाविक जन दर्शन, वन्दन और धर्म-श्रवणार्थ वहाँ गये थे, इससे इन दोनों कुण्डग्रामों का सामीप्य सिद्ध होता है। भगवान् महावीर के विहारक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये स्थान वैशाली के समीप थे न कि आज कल जहाँ माने जाते हैं, वहाँ। इस विषय में हमने प्रस्तावना में विशेष खुलासा लिख दिया है।

कुण्डाक संनिवेश—आलभिया के बाहर पारणा करके महावीर कुण्डाक गये थे और वहाँ पर वासुदेव के मदिर में ध्यान किया था, जहाँ गोशालक पीटा गया था। यह सनिवेश काशी राष्ट्र के पूर्व प्रदेश में आलभिया के पास होना चाहिये।

कुत्स (कोच्छा)—जैन सूत्रोक्त पूर्व भारत के सोलह देशोंमें से एक का नाम कुत्स अथवा कोस था। पूरनिया जिला जो कौशिकी नदी के

पूर्व की ओर है, पहले कौशिक कच्छ कहलाता था, वही यह कुत्स अथवा 'कोच्छ' देश होना चाहिये।

कुनाल (कुणाला)—श्रावस्ती के आसपास के देश, उत्तर कोशल, का नाम जैन सूत्रों मे 'कुणाला' लिखा है। कुनाल साढे पचीस आर्य देशों मे से एक था। इसकी राजधानी का नाम श्रावस्ती अथवा सावत्थी था।

कुमाराक संनिवेश (कुमाराय संनिवेस)—इसके बाहर चम्प-रमणीयोद्यान में भगवान् महावीर ने ध्यान किया था, जिस समय गोशालक को पार्श्वापत्य साधु मिले थे और उनके साथ कटाक्षपूर्ण वार्तालाप हुआ था।

यह सनिवेश सभवत अगदेश के पृष्ठचम्पा के निकट था।

कुरु—यह देश पाञ्चाल के पश्चिम में और मत्स्य के उत्तर मे था। अति प्राचीनकाल मे इसकी राजधानी हस्तिनापुर मे थी, जहाँ शान्तिनाथ आदि अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ था। पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ को इस देश की राजधानी कायम किया था।

कुरुजागल—जिसका दूसरा नाम श्रीकण्ठ देश है। यह देश हस्तिनापुर से उत्तर पश्चिम मे था। सहारनपुर से तेंतीस मील उत्तर-पश्चिम की ओर विलासपुर इसकी राजधानी थी। जैन सूत्रों मे जगल देश की राजधानी का नाम अहिच्छत्रा लिखा है। इससे मालूम होता है कि उत्तर पाञ्चाल और कुरु देश का सयुक्तराष्ट्र कुरुजागल कहलाता होगा और उसकी राजधानी विलासपुर होगी।

कुशार्त (कुसट्टा)—जैनसूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों मे कुशार्त का नाम भी सम्मिलित है। कुशार्त की राजधानी का नाम शौरीपुर अथवा सौर्यपुर था। इसे यादव शौरि ने बसाया था। भगवान् नेमिनाथ का इसी सौर्यपुर में जन्म हुआ था। जरासध के विरोध के कारण यादवों ने इस प्रदेश को छोड कर द्वारिका को अपनी राजधानी बनाया था। मथुरा के चारों ओर का प्रदेश सूरसेन और सूरसेन से उत्तर का देश कुशार्त नाम से प्रसिद्ध था। आगरा से देहली के रास्ते तेईस मील पर शकुराबाद स्टेशन और वहाँ से सड़क के रास्ते बटेश्वर आता है। कहते

हैं, यही बटेश्वर प्राचीन सौर्यपुर है। शहर से दो मील पर यमुना के तट पर तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राचीन चरणस्थापना अब भी विराजमान है।

कूपिक संनिवेश (कूपिय संनिवेस)—यहाँ महावीर छद्मावस्था में विचरे थे और चारिकबुद्धिसे पकडे गये थे। बाद मे विजया प्रगल्भा परिव्राजिकाओं के द्वारा परिचय देने पर आप छोडे गये थे। यहाँ से भगवान् वैशाली गये थे और गोशालक जुदा हुआ था। यह सनिवेश वैशाली से पूर्व मे विदेहभूमि मे कहीं था।

कूर्मग्राम (कुम्मगाम)—सिद्धार्थपुर से महावीर कूर्मग्राम आये थे, जहाँ मार्ग मे गोशालक ने तिल का पौधा उखाडा और उसके फिर जम जाने पर उसने नियतिवाद का समर्थन किया था। इसी कूर्मग्राम के बाहर गोशालक ने वैश्यायन तापस की मस्खरी की और तापस द्वारा उसपर तेजोलेश्या छोडी गई थी। गोशालक के पूछने पर भगवान् ने तेजोलेश्या प्राप्तिका उपाय भी यहीं कहा था।

यह ग्राम पूर्वीय विहार में कहीं होना चाहिये, क्योंकि वीरभोम से सिद्धार्थपुर होते हुए महावीर यहाँ आये थे।

केकय—व्यास और सतलज नदी के बीच का देश पूर्वकाल मे केकय नाम से प्रसिद्ध था। रामचन्द्र की विमाता कैकयी यहीं के राजा की पुत्री थी।

केकय (२)—जैनसूत्रोक्त साढे पचीस देशों मे से भी एक का नाम केकय था। यह प्रदेश नेपाल की तलहटी में श्रावस्ती से उत्तरपूर्व में था। इसकी राजधानी श्वेताविका नगरी थी। यहा का राजा प्रदेशी जैन श्रमणोपासक था। इस देश का पहाडी प्रदेश अनार्य जातियों से भरा होगा, ऐसा मालूम होता। यही कारण है कि केकय आधा ही आर्य देश मे गिना है। भगवान् महावीर यहाँ अनेक बार विचरे थे।

कोटिवर्ष (कोडिवरिस)—यह नगर राढदेश की राजधानी थी। यहा के राजा किरातराज ने साकेत नगर में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी।

महावीर के समय में कोटिवर्ष में किरात जाति का राज्य था और जब महावीर इधर विचरे थे तब यह प्रदेश अनार्य कहलाता था, परन्तु जैन सूत्रों में राढ देश की गणना आर्य देशों मे की है इससे ज्ञात होता है कि यहा के राजा के महावीर का शिष्य होने के बाद जैन उपदेशकों के विहार से धर्म का प्रचार हो जाने से इसको आर्य देश मान लिया होगा। अथवा आर्य होने पर भी अनार्य लोगों की आबादी अधिक होने से महावीर के छद्मस्थ विहार के समय यह अनार्य कहलाता होगा। आज भी इस देश के वीरभोम आदि परगनों मे सथाल आदि अनार्य जातियों की ही अधिक आबादी है।

पौराणिक ग्रन्थों मे कोटिवर्ष का नाम कर्णसुवर्ण लिखा है। यह देश आजकल के पश्चिम बगाल में मुर्शिदाबाद के आसपास था, ऐसा पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है।

कोण्डिनायन चैत्य—वैशाली के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम।

कोमिला—बगाल प्रान्त के चटगॉव विभाग मे गोमती नदी के किनारे टिपरा जिला का सदर स्थान कोमिला एक प्राचीन नगर है। पौराणिक काल के लेखों मे इसका नाम 'कोमला' मिलता है।

महावीर के निर्वाण के बाद बहुत समय तक कोमिला की जैनधर्म के केन्द्रों में गणना रही है। कल्पसूत्र की थेरावली मे जैनश्रमणों की प्राचीन शाखाओं के जो नाम निर्देश किये हैं, उनमे एक शाखा का नाम 'खेमिलिज्जिया' भी है। यह नाम वास्तव मे 'खोमलिज्जिया' है जो 'कोमलीया' का प्राकृत रूप है और इसकी उत्पत्ति 'कोमला' से है।

कोल्लाकसनिवेश (कोल्लागसनिवेस)—यह सनिवेश वाणिज्य ग्राम के समीप था। भगवान् महावीर ने दीक्षा के दूसरे दिन यहीं पारणा किया था।

कोल्लाक संनिवेश (२)—यह सनिवेश राजगृह के निकट था जहाँ भगवान् ने नालदा के चातुर्मास्य की समाप्ति पर मासिक उपवास का पारणा किया था और गोशालक का शिष्य के रूप मे स्वीकार किया था। महावीर के चौथे और पाँचवें गणधर का जन्मस्थान भी यही कोल्लागसनिवेश होगा, ऐसा सभव है।

कोशल—'उत्तर कोशल' शब्द देखिये।

कोष्ठक चैत्य—यह उद्यान श्रावस्ती के निकट था। भगवान् महावीर का समवसरण यहीं होता था। नन्दिनीपिता और सालिहीपिता गाथापतियों ने यहीं महावीर के पास जैनधर्म का स्वीकार किया था। महावीर पर गोशालक द्वारा तेजोलेश्या छोड़ने का उत्पात इसी कोष्ठक चैत्य में हुआ था।

कोष्ठक चैत्य (२)—बनारस के समीप भी एक कोष्ठक चैत्य था जहाँ पर महावीर ने चुलनीपिता और सुरादेव जैसे करोड़पति गृहस्थों को जैन श्रमणोपासक बनाया था।

कोसला—अयोध्या का नामान्तर कोसला था। महावीर के नववें गणधर का जन्मस्थान यही कोसला थी।

कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले की मानजहानपुर तहसील में यमुना नदी के बायें किनारे पर जहानपुर से दक्षिण में बारह मील और इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम में इकतीस मील पर कोसमइनाम और कोसमइखिराज नामक दो गाँव हैं ये ही प्राचीन कौशाम्बी के अवशेष हैं। वहाँ से करीब चार मील पश्चिम में पभोसा का गाँव और पहाड़ हैं जहाँ पर जैन मंदिर है।

कौशाम्बी वत्सदेश की राजधानी थी। यहाँ का राजा उदयन और राजमाता मृगावती महावीर के परम उपासक थे। महावीर यहाँ अनेक बार पधारे थे।

कौशिकी—गंगा की सहायक बड़ी नदी जिसे आजकल कुशी कहते हैं। कुशी मोंगीर और राजमहाल के बीच में होती हुई गंगा में मिल जाती है। जैन सूत्रों में कौशिकी का 'कोसी' नाम से उल्लेख है और इसकी गणना गंगा की पाँच बड़ी सहायक नदियों में है।

क्षत्रियकुण्डपुर (खत्तियकुंडपुर)—मुजफ्फरपुर जिला में बेसाड़पट्टी के पास जो वसुकुण्ड गाँव है वहीं महावीर की जन्मभूमि प्राचीन क्षत्रियकुण्डपुर है। 'कुण्डग्राम' शब्द देखिये।

क्षितिप्रतिष्ठित—चरित्रों में महावीर के क्षितिप्रतिष्ठित नगर में

विहार करने का उल्लेख है। यह क्षितिप्रतिष्ठित कहाँ होना चाहिये यह बताना कठिन है। गगा के बायें किनारे पर जहाँ आज झूसी है पहले प्रतिष्ठानपुर नगर था। सभव है, चरित्रकार का क्षितिप्रतिष्ठित यही प्रतिष्ठानपुर होगा।

गगा—भारतवर्ष की सबसे बड़ी नदियाँ दो मानी गई हैं—एक गगा और दूसरी सिंधु। जैनसूत्रों में गगा की उत्पत्ति क्षुद्रहिमवत् पर्वत के पद्मद्रह से मानी गई है। आधुनिक अन्वेषणानुसार गगा हिमालय के उत्तर प्रदेश स्थित मानसरोवर से निकल कर उत्तर भारतवर्ष में होती हुई पूर्व की ओर जाकर समुद्र में गिरती है। महावीर के विहार प्रसग में गगा का उल्लेख अनेक बार आया है। आपके नाव द्वारा गगा उतरने का उल्लेख भी दो बार आया है।

गजपुर (गयपुर)—हस्तिनापुर का ही नामान्तर गजपुर है। जैन सूत्रों में कुरुजनपद की राजधानी का नाम गजपुर लिखा है।

गडकी—यह नदी हिमालय के सप्तगडकी और धवलगिरिश्रेणि से निकलती है। यह गडक, नारायणी आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। महावीर के विहारवर्णन में इसका 'गडकिका' (गंडइआ) नाम से उल्लेख है।

वैशाली और वाणिज्यग्राम इसके किनारे पर अवस्थित थे और महावीर की जन्मभूमि क्षत्रियकुडपुर भी इसके समीप ही था।

गुणशील (गुणसिलअ)—यह राजगृह नगर का प्रसिद्ध उद्यान था। भगवान् महावीर जब राजगृह पधारते तब प्राय इसी उद्यान के चैत्य में ठहरते थे। भगवान् के हाथ से सैकड़ों श्रमण श्रमणियाँ और हजारों श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकायें यहाँ बनी थीं। महावीर के ग्यारह गणधर शिष्यों ने इसी गुणशिलक चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया था। आजकल का गुणावा, जो नवादा स्टेशन से लगभग तीन मीलपर है, प्राचीन समय का गुणशील माना जाता है।

गोकुल—इसका दूसरा नाम व्रजग्राम था। यहाँ पर महावीर भिक्षा के लिये गये, तब सगमक ने सर्वत्र आहार में अनेषणा कर दी थी। यहीं

पर अपनी हार मानकर सगमक ने महावीर से क्षमा प्रार्थना की थ
यह गोकुल उड़ीसा में अथवा दक्षिण कोशल मे होने का सभव है।

गोभूमि—यह गोभूमि सभवत गोकुल के पास का वनप्रदे
होगा। आवश्यकचूर्णिकार लिखते हैं—"गावीओ चरति तेण गोभूमि
अर्थात् गायों के चरने से गोभूमि कहलाती थी। यहाँ पर गोशालक
गोपों को वज्रलाढा कहकर मार खाई थी।

गोव्वरगाम—यह गाँव महावीर के गणधर इद्रभूति, अग्निभू
और वायुभूति गौतम का जन्मस्थान था। गोवर राजगृह से पृष्ठचम्
आते मार्ग मे पड़ता था। गौतमरासा मे इसे मगधदेश मे बताया
परन्तु कुछ उल्लेखों से यह पृष्ठचम्पा के निकट होने से अंगभूमि
होगा, ऐसा सिद्ध होता है।

ग्रामक संनिवेश (गामाय संनिवेस)—इसके बाहर विभेल
उद्यान मे महावीर ने ध्यान किया था और विभेलक यक्ष ने आप
पूजा की थी। यह संनिवेश वैशाली और शालिशीर्ष नगर के बीच
पडता था।

चन्दन पादप उद्यान—यह उद्यान मृगग्राम के निकट था
इसमें सुधर्म यक्ष का मदिर था। भगवान् महावीर ने इसी उद्यान
मृगापुत्र के पूर्वभव का वर्णन किया था।

चन्द्रावतरण चैत्य—यह चैत्य कौशाम्बी के समीप था। भगवा
महावीर अनेक बार यहाँ पधारे थे और जयन्ती, मृगावती, अगारव
प्रमुख राजवशी स्त्रियों को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी।

चन्द्रावतरण चैत्य (२)—उद्दण्डपुर के निकट भी एक चन्द्रावतर
चैत्य था।

चम्परमणीयोद्यान—कुमारासंनिवेश के पास के उद्यान का ना
चम्परमणीय था। यहाँ पर महावीर ने कायोत्सर्ग ध्यान किया था।

चम्पा—चम्पा और पृष्ठचम्पा की निश्रा में महावीर ने तीन वर्ष
चातुर्मास्य व्यतीत किये थे। चम्पा के पास पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसि
उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते थे। चम्पा के राजा का नाम, महावी

के समय में, जितशत्रु और दत्त लिखा मिलता है। पर आप के पिछले जीवन में चम्पा का राजा कुणिक (अजातशत्रु) था।

जैन सूत्रों मे चम्पाको अगदेश की राजधानी माना है। कोणिकने जब से अपनी राजधानी बनाई तब से चम्पा अग (मगध) की राजधानी कहलाई। पटना से पूर्व मे (कुछ दक्षिण मे) लगभग सौ कोस पर चम्पा थी। आजकल इसे चम्पानाला कहते हैं। यह स्थान भागलपुर से तीन मील दूर पश्चिम मे है।

चम्पानगरी—चम्पा का जैन सूत्रों मे बहुधा चम्पानगरी के नाम से ही उल्लेख मिलता है। पिछले ग्रन्थों मे इसे चम्पापुरी भी लिखा है। विशेष के लिये 'चम्पा' शब्द देखिये।

चेदी—जैनसूत्रों में इसका नाम 'चेती' लिखा है और इसकी गणना सोलह जनपदों मे की है। साढ़े पचीस आर्य देशों मे भी इसकी गणना है और वहाँ इसका नाम चेदी तथा इसकी राजधानी का नाम 'शुक्तिमती' बताया है। यह राज्य कौशाम्बी के समीप था। ललितपुर से अठारह मील पश्चिम मे मध्यभारत के ग्वालियर राज्य मे जिले का मुख्य स्थान चन्देरी ही प्राचीन चेदी का आधुनिक प्रतीक है।

चोराक संनिवेश (चोराय संनिवेस)—इस सनिवेश के समीप जासूस समझ कर महावीर नगररक्षकों द्वारा पकड़े गये थे और बाद मे सोमा और जयन्ती परिव्राजिकाओं के परिचय देने पर छोड़े गये थे। एक बार इसी चोराक में गोष्ठिक मण्डली द्वारा गोशालक पीटा गया था। यह स्थान सभवत प्राचीन अगजनपद और आधुनिक पूर्वविहार मे कहीं रहा होगा।

छत्रपलाशचैत्य—कयगला (कचगला) नगरी का वह उद्यान जहाँ पर कात्यायन स्कन्दक परिव्राजक ने महावीर के पास निर्ग्रन्थश्रमण धर्म का स्वीकार किया था।

छम्माणि (छम्मानी)—इस गाँव के बाहर महावीर ध्यान कर रहे थे, तब एक गोप ने आप के कानों में काष्ठशलाकायें ठोंक दी थीं। यह गाँव मध्यमापावा के निकट चम्पानगरी के रास्ते पर कहीं था।

जबूसंड (जंबूषण्ड)—इसके बाहर महावीर ने कायोत्सर्ग ध्यान किया था और गोशालक ने गोष्ठिक भोजन मे दहि भात का भोजन पाया था। भद्दिल नगरी से कदलिसमागम होकर महावीर यहाँ आये थे, आगे वैशाली को तरफ प्रयाण किया था, इससे ज्ञात होता है कि यह गॉव मलय देश में अथवा दक्षिण मगध में कहीं रहा होगा।

जंभियगाम (जंभिकग्राम)—यह वही जभियगाम है जहॉ पर इन्द्रने महावीर का गुण गान किया था और आपको केवलज्ञान होने का समय बताया था। इसी जभियगाम के बाहर व्यावृत्त चैत्य के निकट ऋजुवालिया नदी के उत्तर तट पर श्यामाक गृहस्थ के खेत मे सालवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रकट हुआ था।

जभियगाम की वर्तमान अवस्थिति पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कवि-परम्परा के अनुसार समेदशिखर से दक्षिण मे बारह कोस पर दामोदर नदी के पास जो जभी गॉव है, वही प्राचीन जभियगाम है। कोई समेदशिखर से दक्षिणपूर्व मे लगभग पचास मील पर आजी नदी के पासवाले जमगाम को प्राचीन जभियगाम बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जभियगाम की अवस्थिति इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान मे होनी चाहिये, क्यों कि महावीर के विहारवर्णन से जभियगाम चपाके निकट ही कहीं होना चाहिये। विशेष के लिये "ऋजुपालिका" शब्द देखिये।

ज्ञातखण्ड उद्यान—यह वन क्षत्रियकुण्डपुर के समीप था। भगवान् महावीर ने इसी उद्यान मे प्रव्रज्या धारण की थी।

तंबाय संनिवेस (ताम्राक संनिवेश)—इस सनिवेश के बाहर महावीर ने ध्यान किया था। गोशालक ने इसी स्थान पर पार्श्वसतानीय नन्दिषेण स्थविर के साधुओं के साथ तकरार की थी। यह सनिवेश सभवत मगध मे कहीं था।

ताम्रलिप्ति (तामलित्ति)—ताम्रलिप्ति के वगदेश की राजधानी होने का जैन सूत्रों में उल्लेख है। ताम्रलिप्ति के समीपवर्ती प्रदेश को कहीं-कहीं

'समतट' भी कहा है। क्योंकि यह प्रदेश समुद्रतट के निकट था
ताम्रलिप्ति वगदेश का प्रसिद्ध बदरगाह था। आजकल मिदनापुर ि
मे जहाँ तामलुक नगर है वहीं पहले ताम्रलिप्ति नगरी थी। चीन
प्रसिद्ध यात्री हुएनत्सग की भारत यात्रा के समय (इसवी सन् ६
के बाद) तक ताम्रलिप्ति सामुद्रिक बदर पर अवस्थित थी पर
तामलुक से लगभग साठ मील दूर तक समुद्र हट गया है। महा
के ताम्रलिप्ति में विहार करने का प्राकृतचरित्रों मे उल्लेख मिलता है

तिन्दुकोधान—श्रावस्ती का वह उद्यान जहाँ पार्श्वसतानीय केश
कुमार श्रमण ठहरे थे और इन्द्रभूति गौतम ने उनके साथ ध
चर्चा की थी।

तुगिक सनिवेश—सनिवेश महावीर के दसवें गणधर का ज
स्थान था। वह सनिवेश वत्सदेश के अन्तर्गत था, अत मागीतु
गाँव ही प्राचीन तुगिक सनिवेश होना चाहिए।

तुगिया नगरी—यह नगरी राजगृह के निकटवर्ती थी। जब मह
वीर राजगृह के उद्यान मे विराजते थे और गौतम राजगृह मे भिक्षाट
मे निकले थे तब कालियपुत्र प्रमुख पाँच सौ पार्श्वसतानीय स्थवि
तुगिया के पुष्पवृतिक चैत्य मे आये थे और राजगृह-निवासी धार्मि
जनों ने उनके पास जाकर धर्म श्रवण और धर्म-चर्चा की थी और
उसका पता इद्रभूति को जनसवाद से मिला था। तुगीया के जैनगृहस्थ
धनी, मानी और दृढधर्मी थे, ऐसा भगवतीसूत्र के वर्णन से पाया जाता
है। तीर्थमालाओं के कवि लोग विहार नगर को ही तुगिया बताते हैं,
इससे ज्ञात होता है कि विहार से दो कोस पर जो तुगीगाम है वह
प्राचीन तुगीया का ही अवशेष होगा।

तोसलिगाम—इस तोसली के बाहर सगमक ने महावीर पर चोर
का सदेह उत्पन्न कराकर उन्हें सताया और भूतिल इद्रजालिक ने
आपको छुडाया था। दूसरी बार भगवान् को तोसलि के स्वामी तोसलि
क्षत्रिय के पास चोर के सदेह में खड़ा किया गया था और क्षत्रिय ने
आपको फाँसी का हुक्म दिया था, पर सात बार फाँसी का फदा टूट
जाने पर आपको निर्दोष समझ कर छोड़ा था।

तोसलिगाँव हमारे अभिप्राय से गोंडवाना प्रदेश में था। मौर्यकाल में गगुआ और दया नदी के सगम के मध्य में तोसली एक बड़ा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलिगाम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

थूणागसंनिवेस (स्थूणाकसंनिवेश)—यह सनिवेश गगा के दक्षिण तट पर था। राजगृह जाते समय गगा उतरने के बाद महावीर ने यहाँ पर ध्यान किया था।

दक्षिणकोशल—विन्ध्याचल के दक्षिण तरफ का गोंडवाना प्रदेश पहले दक्षिणकोशल कहलाता था। किसी के मत से विदर्भ देश, जो आजकल बराड़ नाम से प्रसिद्ध है, इसका भी पहले दक्षिणकोशल में समावेश होता था।

दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुर—ब्राह्मणगाँव का दक्षिणी भाग जहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण जमीनदार रहता था। विशेप के लिये 'ब्राह्मणकुण्डपुर' शब्द देखिये।

दक्षिणवाचाला—इस वाचाला से महावीर कनकखल आश्रम होकर उत्तरवाचाला गये थे। विशेप के लिये 'उत्तरवाचाला' शब्द देखिये।

दशार्ण—भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण देश कहलाता था। मौर्यकाल मे इसकी राजधानी चैत्यगिरि मे और उसके पिछले समय मे विदिशा मे अर्थात् भिलसा मे थी। जैन सूत्रों में इस देश की गणना आर्य देशों में की है और इसकी राजधानी का नाम मृत्तिकावती लिखा है। मृत्तिकावती वत्सभूमि के दक्षिण मे प्रयाग के दक्षिण के पहाड़ों मे अवस्थित थी। भगवान् महावीर ने दशार्ण देश के राजा दशार्णभद्र को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी। बाद के समय में भी दशार्ण देश जैन धर्म के प्रचार का केन्द्र रहा है।

दशार्णपुर—दशार्ण देश की राजधानी मृत्तिकावती और पिछले समय की राजधानी विदिशा का कहीं कहीं दशार्णपुर के नाम से उल्लेख हुआ है।

दूतिपलाश चैत्य—वाणिज्यग्राम के पास इस नाम का उद्यान

था, जहाँ भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था। आनन्द-गाथापति, सुदर्शन श्रेष्ठि आदि को महावीर ने इसी उद्यान में प्रतिबोध दिया था।

दृढ़भूमि—जहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी। इन्द्र की प्रशंसा से संगमक देव ने जहाँ एक रात में महावीर को बीस उपसर्ग किये थे, वह पेढालगाँव इसी भूमि में था। यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

देवरमण उद्यान—साहजनी नगरी के निकट का एक उद्यान जहाँ पर महावीर ने शकटदारक के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

द्वारवती—जरासंध के साथ विरोध होने के बाद मथुरा और सौरीपुर को छोड़ कर यादवों ने पश्चिम समुद्र के तट पर सौराष्ट्र में अपना नवीन राज्य स्थापित किया था और द्वारवती नगरी को अपनी राजधानी बनाया था। यही द्वारवती, द्वारावती, द्वारामती तथा द्वारिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। भगवान् नेमिनाथजी ने इसी द्वारवती के बाहर ईशान दिशा में रैवतकोद्यान में दीक्षा ली थी। जैन सूत्रों में द्वारवती को सौराष्ट्र देश की राजधानी लिखा है।

नगला गाँव—यहाँ पर महावीर ने वासुदेव के मंदिर में ध्यान किया था। नगला श्रावस्ती से राढ की तरफ जाते बीच में पड़ता था। महावीर श्रावस्ती से हरिद्रुक और वहाँ से नगला गये थे। संभव है यह गाँव कोशलभूमि के पूर्व प्रदेश में ही रहा होगा।

नन्द चैत्य—यह चैत्य मोका नगरी के बाहर था। यहाँ महावीर का समवसरण हुआ था।

नन्दपाटक—ब्राह्मणग्राम जो सुवर्णखल से चम्पा जाते रास्ते में पड़ता था, उसके एक भाग का नाम जहाँ भगवान् महावीर ने पारणा किया था।

नन्दिग्राम—वैशाली और कौशाम्बी के बीच में यह गाँव था। महावीर वैशाली से सुसुमार भोगपुर होकर नन्दिगाँव पधारे थे, जहाँ आपकी आपके पितृमित्र ने महिमा की थी और वहाँ से मिंढियगाम

तोसलिगॉव हमारे अभिप्राय से गोंडवाना प्रदेश में था। मौर्य-काल में गगुआ और दया नदी के सगम के मध्य में तोसली एक बड़ा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलिगाम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

थूणागसंनिवेस (स्थूणाकसंनिवेश)—यह सनिवेश गगा के दक्षिण तट पर था। राजगृह जाते समय गगा उतरने के बाद महावीर ने यहॉ पर ध्यान किया था।

दक्षिणकोशल—विन्ध्याचल के दक्षिण तरफ का गोंडवाना प्रदेश पहले दक्षिणकोशल कहलाता था। किसी के मत से विदर्भ देश, जो आजकल वराड़ नाम से प्रसिद्ध है, इसका भी पहले दक्षिणकोशल में समावेश होता था।

दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुर—ब्राह्मणगॉव का दक्षिणी भाग जहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण जमीनदार रहता था। विशेष के लिये 'ब्राह्मणकुण्डपुर' शब्द देखिये।

दक्षिणवाचाला—इस वाचाला से महावीर कनकखल आश्रम होकर उत्तरवाचाला गये थे। विशेष के लिये 'उत्तरवाचाला' शब्द देखिये।

दशार्ण—भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण देश कहलाता था। मौर्यकाल मे इसकी राजधानी चैत्यगिरि मे और उसके पिछले समय मे विदिशा में अर्थात् भिलसा मे थी। जैन सूत्रों में इस देश की गणना आर्य देशों मे की है और इसकी राजधानी का नाम मृत्तिकावती लिखा है। मृत्तिकावती वत्सभूमि के दक्षिण मे प्रयाग के दक्षिण के पहाड़ों में अवस्थित थी। भगवान् महावीर ने दशार्ण देश के राजा दशार्णभद्र को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी। बाद के समय में भी दशार्ण देश जैन धर्म के प्रचार का केन्द्र रहा है।

दशार्णपुर—दशार्ण देश की राजधानी मृत्तिकावती और पिछले समय की राजधानी विदिशा का कहीं कहीं दशार्णपुर के नाम से उल्लेख हुआ है।

दूतिपलाश चैत्य—वाणिज्यग्राम के पास इस नाम का उद्यान

था, जहाँ भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था। आनद-गाथापति, सुदर्शन श्रेष्ठि आदि को महावीर ने इसी उद्यान में प्रतिबोध दिया था।

दृढ़भूमि—जहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी। इन्द्र की प्रशसा से सगमक देव ने जहाँ एक रात मे महावीर को बीस उपसर्ग किये थे, वह पेढालगाँव इसी भूमि में था। यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

देवरमरण उद्यान—साहजनी नगरी के निकट का एक उद्यान जहाँ पर महावीर ने शकटदारक के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

द्वारवती—जरासध के साथ विरोध होने के बाद मथुरा और सौरीपुर को छोड़ कर यादवों ने पश्चिम समुद्र के तट पर सौराष्ट्र मे अपना नवीन राज्य स्थापित किया था और द्वारवती नगरी को अपनी राजधानी बनाया था। यही द्वारवती, द्वारावती, द्वारामती तथा द्वारिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। भगवान् नेमिनाथजी ने इसी द्वारवती के बाहर ईशान दिशा मे रैवतकोद्यान मे दीक्षा ली थी। जैन सूत्रों में द्वारवती को सौराष्ट्र देश की राजधानी लिखा है।

नगला गाँव—यहाँ पर महावीर ने वासुदेव के मदिर मे ध्यान किया था। नंगला श्रावस्ती से राठ की तरफ जाते बीच मे पडता था। महावीर श्रावस्ती से हरिद्रुक और वहाँ से नगला गये थे। सभव है यह गाँव कोशलभूमि के पूर्व प्रदेश मे ही रहा होगा।

नन्द चैत्य—यह चैत्य मोका नगरी के बाहर था। यहाँ महावीर का समवसरण हुआ था।

नन्दपाटक—ब्राह्मणग्राम जो सुवर्णखल से चम्पा जाते रास्ते में पड़ता था, उसके एक भाग का नाम जहाँ भगवान् महावीर ने पारणा किया था।

नन्दिग्राम—वैशाली और कौशाम्बी के बीच में यह गाँव था। महावीर वैशाली से सूसुमार भोगपुर होकर नन्दिगाँव-पधारे थे, जहाँ आपकी आपके पितृमित्र ने महिमा की थी और यहाँ से मिढियगाम

तोसलिगॉव हमारे अभिप्राय से गोंडवाना प्रदेश मे था। मौर्यकाल मे गगुआ और दया नदी के सगम के मध्य मे तोसली एक वडा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलिगाम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

थूणागसंनिवेस (स्थूणाकसंनिवेश)—यह संनिवेश गगा के दक्षिण तट पर था। राजगृह जाते समय गगा उतरने के बाद महावीर ने यहॉ पर ध्यान किया था।

दक्षिणकोशल—विन्ध्याचल के दक्षिण तरफ का गोंडवाना प्रदेश पहले दक्षिणकोशल कहलाता था। किसी के मत से विदर्भ देश, जो आजकल बराड़ नाम से प्रसिद्ध है, इसका भी पहले दक्षिणकोशल मे समावेश होता था।

दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुर—ब्राह्मणगाँव का दक्षिणी भाग जहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण जमीनदार रहता था। विशेप के लिये 'ब्राह्मणकुण्डपुर' शब्द देखिये।

दक्षिणवाचाला—इस वाचाला से महावीर कनकखल आश्रम होकर उत्तरवाचाला गये थे। विशेप के लिये 'उत्तरवाचाला' शब्द देखिये।

दशार्ण—भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण देश कहलाता था। मौर्यकाल मे इसकी राजधानी चैत्यगिरि मे और उसके पिछले समय मे विदिशा में अर्थात् भिलसा मे थी। जैन सूत्रों मे इस देश की गणना आर्य देशों में की है और इसकी राजधानी का नाम मृत्तिकावती लिखा है। मृत्तिकावती वत्सभूमि के दक्षिण मे प्रयाग के दक्षिण के पहाड़ों मे अवस्थित थी। भगवान् महावीर ने दशार्ण देश के राजा दशार्णभद्र को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी। बाद के समय में भी दशार्ण देश जैन धर्म के प्रचार का केन्द्र रहा है।

दशार्णपुर—दशार्ण देश की राजधानी मृत्तिकावती और पिछले समय की राजधानी विदिशा का कहीं कहीं दशार्णपुर के नाम से उल्लेख हुआ है।

दूतिपलाश चैत्य—वाणिज्यग्राम के पास इस नाम का उद्यान

था, जहाँ भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था। आनन्द-गाथापति, सुदर्शन श्रेष्ठि आदि को महावीर ने इसी उद्यान में प्रतिबोध दिया था।

दृढभूमि—जहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी। इन्द्र की प्रशंसा से संगमक देव ने जहाँ एक रात में महावीर को बीस उपसर्ग किये थे, वह पेढालगाँव इसी भूमि में था। यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

देवरमण उद्यान—साहंजनी नगरी के निकट का एक उद्यान जहाँ पर महावीर ने शकटदारक के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

द्वारवती—जरासंध के साथ विरोध होने के बाद मथुरा और सौरीपुर को छोड़ कर यादवों ने पश्चिम समुद्र के तट पर सौराष्ट्र में अपना नवीन राज्य स्थापित किया था और द्वारवती नगरी को अपनी राजधानी बनाया था। यही द्वारवती, द्वारावती, द्वारामती तथा द्वारिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। भगवान् नेमिनाथजी ने इसी द्वारवती के बाहर ईशान दिशा में रैवतकोद्यान में दीक्षा ली थी। जैन सूत्रों में द्वारवती को सौराष्ट्र देश की राजधानी लिखा है।

नंगला गाँव—यहाँ पर महावीर ने वासुदेव के मंदिर में ध्यान किया था। नंगला श्रावस्ती से राढ की तरफ जाते बीच में पड़ता था। महावीर श्रावस्ती से हरिद्रुक और वहाँ से नंगला गये थे। संभव है यह गाँव कोशलभूमि के पूर्व प्रदेश में ही रहा होगा।

नन्द चैत्य—यह चैत्य मोका नगरी के बाहर था। यहाँ महावीर का समवसरण हुआ था।

नन्दपाटक—ब्राह्मणग्राम जो सुवर्णखल से चम्पा जाते रास्ते में पड़ता था, उसके एक भाग का नाम जहाँ भगवान् महावीर ने पारणा किया था।

नन्दिग्राम—वैशाली और कौशाम्बी के बीच में यह गाँव था। महावीर वैशाली से सूसुमार भोगपुर होकर नन्दिगाँव पधारे थे, जहाँ आपकी आपके पितृमित्र ने महिमा की थी और यहाँ से मिंढियगाम

होकर कौशाम्बी पधारे थे। अयोध्या मे फैजाबाद से दक्षिण की तरफ आठ नौ मील पर अवस्थित भरतकुड के समीप जो नदगाँव है, यही प्राचीन नन्दिग्राम होना सभव है।

नन्दिपुर—जैन सूत्रों मे नन्दिपुर को शाण्डिल्य देश की राजधानी कहा है और साडिल्य (सडिल्ला) की आर्य देशों मे परिगणना की है। विशेष के लिये 'शाण्डिल्य' शब्द देखिये।

नलंदा—राजगृह का एक उपनगर, जहाँ पर अनेक धनाढ्यों का निवास था और अनेक कारखाने चलते थे। महावीर ने यहाँ पर अनेक वर्षाचातुर्मास्य किये थे और अनेक श्राविकों को धर्ममार्ग में जोडा था। आजकल के राजगिर से उत्तर में सात मील पर अवस्थित बड़गाँव नामक स्थान ही प्राचीन नालदा है। यहाँ पर प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालय के खडहर निकले हैं, जो नालदा विश्वविद्यालय के नाम से प्रख्यात था और विक्रम की सातवीं आठवीं शताब्दी मे पूर्ण उन्नतदशा में था।

पत्तकालक (पत्रककालक)—यहॉ महावीर ने रात को शून्य घर मे कायोत्सर्ग ध्यान किया था, जहॉ गोशालक स्कन्दक नामक युवक द्वारा पीटा गया था। पत्रकालक चम्पा के पास कहीं था।

पञ्चाल—आजकल के रुहेलखण्ड को प्राचीन पञ्चालभूमि समझना चाहिये। पिछले समय मे पञ्चाल के दक्षिणपञ्चाल और उत्तरपञ्चाल ऐसे दो विभाग माने जाते थे। गङ्गा से दक्षिण की तरफ के विभाग को दक्षिणपचाल और उत्तर विभाग को उत्तरपञ्चाल कहते थे। दोनों की राजधानियाँ क्रमश काम्पिल्य और अहिच्छत्रा थीं।

पाटलिषंडग्राम (पाडलिसंड)—इसके बाहर वनखड नामक उद्यान था, जहाँ उम्बरदत्त यक्ष का मदिर था। यहाँ के तात्कालीन राजा का नाम सिद्धार्थ था। यहाँ के सागरदत्त सार्थवाह के पुत्र उम्बरदत्त के पूर्वभवों का महावीर ने वर्णन किया था।

पाढ (पाढा)—जैन सूत्रोक्त सोलह जनपदों मे से एक का नाम पाढ अथवा पाढ था। यह देश मध्यम जनपदों मे था। मध्यम जनपदों मे उस समय कोशी से कुरुभूमि और विन्ध्या से हिमालय तक के

देश माने जाते थे। पाठ की स्थिति इस भूमिमडल के किस भाग में थी, यह निर्णीत नहीं हुआ ।

पावा (पापा)—पावा नाम की तीन नगरियाँ थीं। जैन सूत्रों के लेखानुसार एक पावा भगिदेश की राजधानी थी। यह देश पारसनाथ पहाड़ के आस पास के भूमि भाग मे फैला हुआ था, जिसमे हजारीबाग और मानभूम जिलों के भाग शामिल हैं। बौद्ध-साहित्य के पर्यालोचक कुछ विद्वान् पावा को मलय देश की राजधानी बताते हैं। हमारे मत से मलय देश की नहीं पर यह भगिदेश की राजधानी थी। जैनसूत्रों मे भगिजनपद की गणना साड़े पचीस आर्य देशों मे की गई है। मल्ल और मलय को एक मान लेने के परिणामस्वरूप पावा को मलय की राजधानी मानने की भूल हुई मालूम होती है ।

पावा (२)—यह पावा कोशल से उत्तर पूर्व में कुशीनारा की तरफ मल्ल राज्य की राजधानी थी। मल्ल जाति के राज्य की दो राजधानियाँ थीं, एक कुशीनारा और दूसरी पावा। आधुनिक पड़रौना को जो कासिया से बारह मील और गोरखपुर से लगभग पचास मील है, पावा कहते हैं। तब कोई-कोई गोरखपुर जिला मे पड़रौना के पास जो पपउर गाँव है, उसको प्राचीन पावापुर मानते हैं।

पावा (३)—तीसरी पावा मगध जनपद मे थी। यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में थी। पहली पावा इसके आग्नेय दिशा भाग में और दूसरी इसके वायव्य कोण मे लगभग सम अन्तर पर थी। इसी लिये यह प्राय. पावा मध्यमा के नाम से ही प्रसिद्ध थी। भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास्य का क्षेत्र और निर्वाणभूमि इसी पावा को समझना चाहिये। आज भी यह पावा, जो बिहार नगर से तीन कोस पर दक्षिण मे है, जैनों का तीर्थधाम बना हुआ है। विशेष के लिये प्रस्तावनागत खुलासा पढ़िये।

पालकग्राम—इस गाँव मे धाइल वणिक् महावीर का दर्शन अपशकुन मान कर उन्हें मारने दौड़ा था। यह गाँव चम्पा के निकट कौशाम्बीकी दिशा मे था। महावीर कौशाम्बी से पालक होकर चम्पा गये थे।

पुढवीवडेंसग—रोहीडग नगर के समीपवर्ती उद्यान का नाम।

पुण्ड्रवर्धन—मालदह जिले में मालदह से छ. मील उत्तर की ओर उत्तर बंगाल की राजधानी पुण्ड्रवर्धन नगर था। आजकल का पाण्डुआ अथवा पडुआ पुण्ड्र का ही अपभ्रंश है। पुण्ड्रदेश मे, जिसकी राजधानी पुण्ड्रवर्धन थी, राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर, नदिया, वीरभूम, जंगल महल, पचेत और चुनार जिले शामिल थे।

जैन श्रमणों की प्राचीन शाखाओं में एक का नाम पौण्ड्रवर्धनिका था, वह इसी पुण्ड्रवर्धन से निकली थी। पुण्ड्रवर्धन जैन धर्म के मुख्य केन्द्रों मे से एक था।

पुरिमताल—प्रयाग का ही प्राचीन नाम पुरिमताल था, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। जैन सूत्रों के लेखानुसार पुरिमताल अयोध्या का शाखा नगर था। कुछ भी हो, पुरिमताल एक प्राचीन नगर था, यह तो निर्विवाद है। इस नगर के शकटमुख उद्यान में वग्गुर श्रावक ने भगवान् महावीर की पूजा की थी। पुरिमताल के अमोघदर्शी उद्यान मे महावीर का समवसरण हुआ था और विजय चोर-सेनापति के पुत्र अभग्नसेन के पूर्वभवों का वर्णन किया था। उस समय पुरिमताल मे महाबल राजा का राज्य था।

पुष्पवृत्तिक चैत्य—तुंगीया नगरी के एक उद्यान का नाम।

पूर्णकलश—राढ भूमि की सीमा पर अवस्थित एक अनार्य ग्राम, जहाँ पर चोरों ने महावीर पर हमला किया था। यहाँ से भगवान् भद्दिल नगरी गये थे।

पूर्णभद्रचैत्य—चम्पा का वह प्रसिद्ध चैत्य जहाँ महावीर ने सैकड़ों भव्यात्माओं को श्रमण धर्म और गृहस्थ धर्म में दीक्षित किया था। राजा कोणिक इसी चैत्य में बड़े ठाट-बाट से भगवान् को वंदन करने गया था।

पृष्ठचम्पा—चम्पा का शाखापुर, जहाँ पर भगवान् महावीर ने चतुर्थ वर्षाचातुर्मास्य किया था। यहाँ के राजा और युवराज शाल, महाशाल तथा पिठर गागलि आदि को इन्द्रभूति गौतम ने प्रव्रज्या दी थी।

पृष्ठचम्पा चम्पा से पश्चिम में थी। राजगृह से चम्पा जाते पृष्ठचम्पा लगभग बीच में पड़ती थी।

पेढाल उद्यान—बहुम्लेच्छा दढभूमि के बाहर पेढाल उद्यान था, जहाँ से पेढालगाम निकट था। इस उद्यान के पोलास चैत्य में महावीर ने निर्निमेष दृष्टि से ध्यान किया था और आप के इस एकाग्रतापूर्ण ध्यान की इन्द्र ने प्रशसा की थी। यह पेढाल उद्यान और पोलास चैत्य दढभूमि के पास थे।

पेढालग्राम—यह ग्राम पेढाल उद्यान के पास था। इन्द्र की बात को असत्य ठहराने के भाव से सगमक देव ने इसी गाँव के बाहर उपर्युक्त उद्यान में महावीर को ध्यान से चलित करने के लिये नानाविध उपाय किये थे। यह पेढालगाँव गोंडवाना में कहीं होना चाहिये।

पोतनपुर—अस्मक देश की राजधानी। यहाँ के राजा प्रसन्नचद्र ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी। चरित्रकारों के मतसे महावीर ने पोतनपुर तक विहार किया था। बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम पोतली लिखा है। यह स्थान गोदावरी के उत्तर तट पर अवस्थित था। सातवाहन की राजधानी प्रतिष्ठान और आजकल का पैठन, ये पोतनपुर के उत्तरकालीन नाम हैं।

पोलास चैत्य—पेढाल उद्यान का वह चैत्य जहाँ पर सगमक देव ने महावीर को उपसर्ग किये थे।

पोलासपुर—इसके बाहर सहस्राम्रवन उद्यान था। तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। आजीविकोपासक से श्रमणोपासक बननेवाला सद्दालपुत्र यहीं का रहनेवाला था।

पोलासपुर (२)—इस पोलासपुर के बाहर श्रीवन उद्यान था। यहाँ के राजा का नाम विजय था। राजा विजय और श्रीदेवी के पुत्र अतिमुक्तक राजकुमार ने बाल्यावस्था में श्रीमहावीर के हाथ श्रमणधर्म की दीक्षा ली थी।

उक्त पोलासपुर वास्तव में दो थे या एक, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उद्यान और राजा के नाम भिन्न होने से हमने दो

लिखे हैं। एक नगर के अनेक उद्यान होते थे यह तो निर्विवाद बात है, परन्तु राजा भी कालविभाग से भिन्न हो सकते हैं, इस दृष्टि से दोनों पोलासपुर एक भी हो सकते हैं। पोलासपुर उत्तर हिन्दुस्तान का एक समृद्ध नगर था।

प्रतिष्ठानपुर—गगा के बाएँ किनारे पर जहाँ आज झूसी नगर है, पूर्व समय मे यहाँ पर चद्रवशी राजाओं की राजधानी प्रतिष्ठानपुर नगर था।

प्रतिष्ठानपुर (२)—यह नगर सातवाहन राजा की राजधानी थी। इसकी अवस्थिति औरगाबाद जिले मे औरंगाबाद से दक्षिण मे अट्ठाईस मील पर गोदावरी नदी के उत्तर तट पर है। एक समय यह नगर अस्मक देश की राजधानी पोतनपुर के नाम से प्रसिद्ध था। आजकल यह पैठन नाम से पहिचाना जाता है। जैनाचार्य कालक ने इसी प्रतिष्ठानपुर मे सावत्सरिक पर्व पचमी से चतुर्थी मे कायम किया था।

बनारस—वाराणसी का अपभ्रश बनारस है। पहले यहाँ वरणा तथा असि नदी के सगम पर बसी हुई वाराणसी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी जो काशि राष्ट्र की राजधानी थी। इसके बाहर कोष्ठक नामक चैत्य था, जहाँ पर भगवान् महावीर ठहरा करते थे। यहाँ के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु लिखा मिलता है। चुलनीपिता और सुरादेव नामक यहाँ के धनाढ्य गृहस्थ महावीर के दस श्रमणोपासकों में से थे। यहाँ के राजा लक्ष को कामभहावन चैत्य में महावीर ने अपना श्रमणशिष्य बनाया था। भगवान् महावीर के मुख्य विहार क्षेत्रों में से बनारस भी एक था। यहीं के नौ गणराज महावीर के निर्वाण समय में पावा मे उपस्थित थे और उस दिन उन सबके उपवास था।

बहुसालग्राम—इसके बाहर सालवन उद्यान था, जहाँ सालार्या व्यन्तरी ने महावीर की पूजा की थी। यह गाँव महना गाँव और लोहार्गला राजधानी के बीच मे पड़ता था।

बहुसाल चैत्य—यह चैत्य ब्राह्मणकुण्डपुर के पास था। यहाँ से क्षत्रियकुडपुर भी दूर नहीं था। ऋषभदत्त ब्राह्मण, देवानन्दा

ब्राह्मणी और जमालि आदि पाँच सौ क्षत्रियपुत्रों ने इसी चैत्य में महावीर के हाथ प्रव्रज्या धारण की थी।

विभेलक उद्यान—ग्रामाकसनिवेश के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम, जहाँ विभेलक यक्ष ने भगवान् महावीर की पूजा की थी।

ब्राह्मणकुण्डपुर—यह नगर विदेहकी राजधानी वैशाली का शाखापुर था। इसके दक्षिण दिग्विभाग मे क्षत्रियकुण्ड नगर था, क्षत्रियकुड का उत्तर भाग और ब्राह्मणकुड का दक्षिण भाग ये दोनों एक दूसरे के निकट पड़ते थे। इन दोनों के बीच मे बहुसाल चैत्य था जहाँ महावीर का समवसरण हुआ था और दोनों कुडपुरों के नागरिक वहाँ एकत्र हुए थे। मुजफ्फरपुर जिले में बसाड़पट्टी से जो कि वैशाली का अवशेष है दक्षिण पश्चिम मे लगभग छ मील पर अवस्थित वर्तमान समय का ब्राह्मणगाँव ही प्राचीन ब्राह्मणकुड का स्थानापन्न होगा, ऐसा सभव है।

ब्राह्मणग्राम—इस गाँव के दो पाटक थे, एक नन्द पाटक दूसरा उपनन्द पाटक। महावीर ने नन्द पाटक मे नन्द जमीनदार के यहाँ पारणा किया था। ब्राह्मणग्राम सुवर्णखल और चम्पा के बीच मे पड़ता था।

भंगि—यह देश जैनसूत्रोक्त साढे पचीस देशों में से एक था। इसकी राजधानी पावा नगरी थी। समेतशिखर (पारसनाथ पहाड़) के आसपास का प्रदेश जिसमे हजारीबाग और मानभूम जिलों के भाग शामिल हैं, पहले भगिजनपद कहलाता था।

भण्डीर उद्यान—मथुरा का एक उद्यान, जहाँ पर महावीर ने श्रीदाम राजा के पुत्र नन्दिवर्धन युवराज के पूर्वभव कहे थे।

भद्दिया—यह अगदेश की एक प्रसिद्ध तत्कालीन नगरी थी। बौद्धग्रन्थों मे इसका अधिक उल्लेख आता है। जैन सूत्रों में भी भद्दिया का उल्लेख मिलता है। कल्प सूत्र के अनुसार दो और आवश्यक के लेखानुसार एक वर्षाचातुर्मास्य भगवान महावीर ने यहीं बिताया था।

भागलपुर से दक्षिण मे आठ मील पर अवस्थित भदरिया स्थान

ही प्राचीन भद्दिया अथवा भद्रिका नगरी होनी चाहिये। कतिपय विद्वान् मुंगेर को भद्दिया का स्थानापन्न मानते हैं।

भद्दिलनगरी—यह मलयदेश की तत्कालीन राजधानी थी। जैन सूत्रों में इसके उल्लेख अधिक मिलते हैं। आवश्यकसूत्र के लेखानुसार भगवान् महावीर ने छमास्थावस्था में एक वर्षाचातुर्मास्य यहाँ किया था।

पटना से दक्षिण मे लगभग एक सौ मील और गया से नैर्ऋत-दक्षिण मे अट्टाइस मील की दूरी पर गया जिला में अवस्थित हटवरिया और दन्तारा गाँवों के पास प्राचीन भद्दिलनगरी थी, जो पिछले समय में भद्दिलपुर नाम से जैनों का एक पवित्र तीर्थ रहा है। अब भी प्राचीन जैनमदिरों के अवशेष और पुराने किले के चिह्न वहाँ विद्यमान हैं।

भोगपुर—यहाँ पर माहेन्द्र क्षत्रिय ने भगवान् महावीर पर आक्रमण किया था। भोगपुर का नाम सूसमार और नन्दीगाम के बीच मे आता है। सभवत यह स्थान कोशल भूमि में था।

मगध—यह देश महावीर के समय का एक प्रसिद्ध देश था। मगध की राजधानी राजगृह महावीर के प्रचार-क्षेत्रों में प्रथम और वर्षावास का मुख्य केन्द्र था। पटना और गया जिले पूरे और हजारीबाग का कुछ भाग प्राचीन मगध के अन्तर्गत थे। इस प्रदेश को आज कल दक्षिण पश्चिमी बिहार कह सकते हैं। इस देश के लाखों मनुष्य महावीर के उपदेश को शिरोधार्य करते थे। मागधी भाषा की उत्पत्ति इसी मगध से समझनी चाहिये।

मण्डितकुक्षि चैत्य—राजगृह के निकटस्थ एक उद्यान का नाम।

मत्स्यदेश—यह देश जैनसूत्रोक्त साढे पच्चीस आर्य्य देशों में परिगणित था। इसकी राजधानी विराट नगरी थी, जो वर्तमान जयपुर से उत्तरपूर्व में बयालीस मील पर थी। मत्स्य-जनपद कुरुराज्य के दक्षिण में और यमुना के पश्चिम में था। इसमें अलवर राज्य और जयपुर तथा भरतपुर राज्य के कुछ भाग शामिल थे।

मथुरा—सूरसेन देश की राजधानी मथुरा महावीर के समय और उसके पहले भी जैन-धर्म का केन्द्र रहा है। महावीर-निर्वाण के

बाद तो यह स्थान जैन धर्म का एक अङ्ग ही बन गया था। जैन सूत्रों के प्राचीन भाष्यों और टीकाओं मे लिखा है कि मथुरा और इसके आसपास के छ्यानवे गाँवों में सभी मकानों के द्वार पर तीर्थंकर की मूर्ति बनवाने का आम रिवाज था। मथुरा का देवनिर्मित स्तूप जो कुछ वर्षों पहले ककाली टीले मे प्रकट हुआ है वहाँ के शिलालेखों और जैनसूत्रों के लेखों के अनुसार दो हजार वर्ष पहले का एक महान् पवित्र तीर्थ है। आज मथुरा वैष्णव सम्प्रदाय का पवित्र धाम बना हुआ है।

मर्दना संनिवेश—यहाँ पर भगवान् ने बलदेव के घर में ध्यान किया था और गोशालक पीटा गया था। यह सनिवेश कहाँ था, यह बताना कठिन है। आलभिका, कुडाग होकर भगवान् यहाँ आये थे और यहाँ से बहुसालकगाम होकर लोहग्गला राजधानी गये थे।

मध्यमा—पावामध्यमा का कहीं कहीं केवल 'मध्यमा' इस नाम से भी उल्लेख है। विशेप के लिये 'पावामध्यमा' शब्द देखिये।

मलयग्राम—यहाँ पर भगवान् को सगमक ने उपसर्ग किया था। यह ग्राम उड़ीसा के उत्तर-पश्चिमी भाग मे अथवा गोंडवाना मे होने की सभावना है।

मलयदेश—इस नाम के कम-से कम दो देश थे। जहाँ भगवान् महावीर विचरे थे, वह मलय पटना से दक्षिण मे और गया से नैर्ऋत में था। इसकी राजधानी भद्दिल नगरी जहाँ भगवान् महावीर ने वर्षा-चातुर्मास्य किया था, पटना से सौ और गया से अट्ठाईस मील दूर थी।

मल्लदेश—इस नाम के भी दो देश थे, एक पश्चिम मल्ल और दूसरा पूर्व मल्ल। मुलतान के आस पास का प्रदेश पश्चिम मल्ल कहलाता था और पावा कुशीनारा के पास की भूमि पूर्व मल्ल। महावीर ने पश्चिम मल्ल तक विहार किया था या नहीं, यह अनिश्चित है पर पूर्वमल्ल जनपद में आपके विहार करने मे कोई सशय नहीं है।

मल्ल राज्य वैशाली के पश्चिम और कोशल के पूर्वप्रदेश में था। गोरखपुर, सारन जिलों के अधिकांश भाग मल्लराज्य मे थे। मगध से कोशल मे जाते समय मल्लदेश बीच मे आता था।

महापुर—इसके बाहर रक्ताशोक उद्यान था जहाँ रक्तपाद यक्ष का चैत्य था। तत्कालीन राजा का नाम बल और रानी का सुभद्रादेवी था। राजकुमार महाबल को जो बल का पुत्र था महावीर ने पहली बार श्राद्धधर्म में और दूसरी बार श्रमणधर्म मे दीक्षित किया था। सभवत: यह नगर उत्तर भारतवर्ष में था।

महासेन उद्यान—पावामध्यमा का वह उद्यान जहाँ भगवान् महावीर ज्ञानप्राप्ति के दूसरे दिन पधारे थे और इन्द्रभूति गौतम आदि हजारों मनुष्यो को प्रव्रज्या देकर चतुर्विध सघ की स्थापना कर अपना धर्मशासन प्रचलित किया था।

माकन्दी—यह नगर दक्षिण पञ्चाल के मुख्य नगरों में से एक था दुर्योधन से पांडवों के लिये कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों की मांग की गई थी, उनमे माकन्दी भी शामिल था।

माणिभद्रचैत्य—मिथिला का वह चैत्य जहा पर भगवान् महावीर ने ज्योतिषविद्या की प्ररूपणा की थी। महावीर की धार्मिकदेशना बहुधा इसी उद्यान मे होती थी।

मालव—पूर्व काल में मालव नाम से दो देश प्रसिद्ध थे। पहला मुलतान के आस पास का देश जो पहले मालव कहलाता था। जैनसूत्रों में जिस मालव की गणना अनार्य देशों में की है, वह यही मालव है। दूसरा मालव आज का मालवा है। मालवगण की स्थिति होने से प्राचीन अवन्तिजन पद ही बाद मे मालव नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मापपुरी—यह नगरी जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस देशों मे अन्यतम "वट्टा" नामक देश की राजधानी थी। इस नगरी से जैन श्रमणों की एक शाखा प्रचलित हुई थी जो मापपुरीया कहलाती थी। आज इसकी अवस्थिति किस प्रदेश में है और किस नाम से प्रसिद्ध है, इसकी खोज होनी चाहिये।

मिथिला—मिथिला शब्द से इस नाम की नगरी और इसके आसपास का प्रदेश दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। वस्तुत मिथिला विदेह देश की राजधानी थी। यद्यपि महावीर के समय में विदेह की राज-

धानी वैशाली थी तथापि मिथिला भी एक समृद्ध नगरी थी। तत्कालीन मिथिला के राजा का नाम जैन ग्रंथों में जनक लिखा है, अतः अनुमान होता है कि जनकवंशीय किसी क्षत्रिय का मिथिला पर तब तक स्वामित्व बना रहा होगा।

भगवान् महावीर के चातुर्मास्य के केन्द्रों में मिथिला की गणना थी। यहाँ आपने छः चातुर्मास्य बिताये थे।

सीतामढ़ी के पास मुहिला नामक स्थान ही प्राचीन मिथिला का अपभ्रंश है। वैशाली से मिथिला उत्तरपूर्व में अड़तालीस मील पर अवस्थित थी। कई विद्वान् सीतामढ़ी को ही मिथिला कहते हैं और कई जनकपुर को प्राचीन मिथिला मानते हैं।

मिथिला के नाम से प्राचीन जैन-श्रमणों की एक शाखा भी प्रसिद्ध हुई थी, जो "मैथिलिया" कहलाती थी।

मिंढिया—यह गाँव अंग जनपद में चम्पा से मध्यमा पावा जाते हुए मार्ग में पड़ता था। भगवान् महावीर को चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र ने यहाँ पर वन्दन किया था।

मृगग्राम (मियगाम)—इसके बाहर चन्दनपादप नाम का उद्यान था जहाँ सुधर्म यक्ष का मंदिर था। मृगग्राम का तत्कालीन राजा विजयक्षत्रिय और रानी मृगादेवी थी। यहाँ पर भगवान् ने मृगापुत्र के पूर्व के पापों का वर्णन किया था।

मियगाम उत्तर भारतवर्ष में कहीं था। निश्चित स्थान बताना अशक्य है।

मृगवन—यह उद्यान वीतभयपट्टन के समीप था। यहाँ पर महावीर ने वहाँ के राजा उदायन को प्रव्रज्या दी थी।

मृत्तिकावती—दशार्ण देश की प्राचीन राजधानी मृत्तिकावती बहुत ही प्राचीन स्थान है। इसके बाहर पहाड़ी टेकरी पर 'गजाग्रपद' नामक प्राचीन जैन तीर्थ था, जिसका उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है। भगवान् महावीर अनेक बार यहाँ पधारे थे और यहाँ के राजा दशार्णभद्र को अपना श्रमणशिष्य बनाया था।

दशार्णदेश आजकल की भोपाल रियासत की जगह था। इससे मृत्तिकावती के अवशेष भी वहीं भिलसा के आस पास कहीं होने चाहिये।

मेंढिय गाँव—यह गाँव श्रावस्ती के निकट कौशाम्बी के मार्ग में था। इसके बाहर सालकोष्ठक चैत्य था, जिसमें महावीर गोशालक की तेजोलेश्या के प्रयोग के बाद पधारे थे और छ महीने के उपरान्त यहीं औषध सेवन किया था, जिसे कि सिंह अनगार मेंढिय मे जाकर रेवती के घर से लाया था। छद्मस्थावस्था मे आप पर गोपालक ने भी यहाँ पर एक निष्फल आक्रमण किया था।

मोकानगरी—इस नगरी के बाहर नन्दन चैत्य नामक उद्यान था, जहाँ भगवान् महावीर ठहरे थे और धर्म-उपदेश किया था।

यह नगरी उत्तर भारत के पश्चिमी विभाग मे कहीं थी। संभव है, पजाब प्रदेशस्थित आधुनिक मोगामंडी ही प्राचीन मोकानगरी हो।

मोराकसंनिवेश—यह गाँव वैशाली के आसपास था। कोल्लाक सनिवेश से महावीर मोराक गये थे और दूइज्जत नामधारी दार्शनिकों के आश्रम मे एक रात ठहरे थे, पर डेढ़ दिन के बाद आप यहाँ से चले गये थे और अस्थिकग्राम में शेष वर्षाकाल व्यतीत किया था।

मोसलि—यह गाँव भी महावीर के उपसर्गक्षेत्रों में से एक था। यहाँ पर आपको चोर की भ्रान्ति से सात बार फाँसी दी गई थी पर प्रत्येक बार फाँसी के टूट जाने से आप को निर्दोष समझकर छोड़ दिया था।

मोसलि उत्तरपश्चिमी उडीसा मे अथवा गोंडवाना में होना सभव है।

मौर्यसंनिवेश—यह सनिवेश महावीर के छठवें तथा सातवें गणधर मडिक और मौर्यपुत्र का जन्मस्थान था।

यह गाँव उत्तर भारत के पूर्वीय भाग मे कहीं था। अधिक सभव काशी देश की भूमि में होने का है।

राजगृह—यह नगर महावीर के उपदेश और वर्षावास के केन्द्रों में सबसे बड़ा और प्रमुख केन्द्र था। इसके बाहर अनेक उद्यान थे पर

महावीर के समवसरण का स्थान गुणशिलक उद्यान था, जो राजगृह से ईशान दिशा में था। राजगृह राजा श्रेणिक के राज्य काल में मगध की राजधानी थी। यहाँ के सैकड़ों राजवंशी और अन्य नागरिक स्त्री-पुरुषों को महावीर ने अपने श्रमणसंघ में दीक्षित किया था। हजारों मनुष्यों ने जैनधर्म को स्वीकार किया था। जैनसूत्रों में राजगृह में महावीर का दो सौ से अधिक बार समवसरण होने के उल्लेख हैं।

आजकल राजगृह 'राजगिर' नाम से पहचाना जाता है, जिसके पास मोहागिरि पर्वतमाला के पाँच पर्वत हैं, जो जैनसूत्रों में वैभारगिरि विपुलाचल आदि नामों से उल्लिखित हैं। राजगिर बिहार प्रान्त में पटना से पूर्व दक्षिण और गया से पूर्वोत्तर में अवस्थित है।

राढ (लाढा)—मुर्शिदाबाद के आसपास का पश्चिमी बंगाल पहले राढ कहलाता था जिसकी राजधानी कोटिवर्ष नगर था। जैनसूत्रों में राढ की गणना साढे पचीस आर्य देशों में की है। जयन्ती कोश में राढ का नामान्तर सुह्म लिखा है, परन्तु जैनसूत्रों में राढ और सुह्म को भिन्न भिन्न माना है।

रूप्यवालुका—दक्षिणवाचाला और उत्तरवाचाला नामक दो सन्निवेशों के बीच में बहनेवाली एक नदी का नाम।

रोहीडक नगर—इसके बाहर पृथिवीवतंसक नामक उद्यान था जहाँ धरण यक्ष का मंदिर था। इसका तत्कालीन राजा वैश्रमणदत्त और रानी श्रीदेवी थी। महावीर का यहाँ समवरण हुआ था।

रोहीडक उत्तर भारत में कहीं था। निश्चित स्थान और आधुनिक नाम का पता लगाना शेष है।

लोहार्गला राजधानी—यहाँ पर महावीर गुप्तचर के शक से पकडे गये थे, पर बाद में छोड़ दिये गये। लोहार्गला के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु लिखा है, परन्तु इससे यह जानना कठिन है कि लोहार्गला किस देश में कहाँ थी। इससे मिलते जुलते नामवाले तीन स्थल हमारे जानने में हैं—(१) हिमालय में लोहार्गल नामक एक स्थल था, ऐसा वराह पुराण से ज्ञात होता है। (२) पुष्कर—सामोद के पास

एक लोहार्गल नामक वैष्णवों का प्राचीन तीर्थ है। (३) शाहाबाद जिले की दक्षिणी हद में 'लोहरडगा' नामक प्राचीन शहर है। इनमें से महावीर जहाँ विचरे थे वह लोहार्गला कोई एक हो सकता है या नहीं, यह कहना कठिन है। महावीर आलभिया से कुंडाक, मद्दंना, बहुसाल हो कर लोहार्गला गये थे और वहाँ से पुरिमताल। इस क्रम को देखते 'लोहरडगा' और पुष्कर के समीपवर्ती लोहार्गल तो नहीं हो सकते क्योंकि पुरिमताल से दोनों अति दूर हैं। रहा हिमालय वाला लोहार्गल सो वह यदि हिमालय की दक्षिण तलहट्टी मे कहीं हो तो महावीर का वहाँ जाना असभव नहीं। यदि अयोध्या प्रान्त मे लोहार्गला नामक कोई स्थान रहा हो तो भी असभव नहीं है।

वंग—पूर्व समय में वग शब्द से दक्षिणी बगाल का ही बोध होता था, जिस की राजधानी ताम्रलिप्ति थी, जो आज कल तामलुक नाम से प्रसिद्ध है। बाद मे धीरे-धीरे बगाल की सीमा बढ़ी और वह पाँच भागों में भिन्न भिन्न नामों से पहिचाना जाने लगा। बग (पूर्वी बगाल), समतट (दक्षिणी बगाल), राढ अथवा कर्ण सुवर्ण (पश्चिमी बगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बगाल), कामरूप (आसाम)।

चरित्रकार के लेखानुसार भगवान् महावीर ताम्रलिप्ती तक पधारे थे, तब सूत्रों के अनुसार आपका वर्धमान (बर्दवान) तक विचरना सिद्ध होता है।

वज्रभूमि—बगाल का वीरभोम प्रदेश जो महावीर के समय मे अनार्य कहलाता था। आज भी वहाँ सथाल आदि आदि-निवासी जातियों का ही आधिक्य है।

वट्ट—इस देश की गणना जैन सूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों में की गई है। इसकी राजधानी का नाम मापपुरी था। यह देश उत्तर भारत में था, पर इसकी अवस्थिति किस भूमि प्रदेश में थी, इसका निश्चय नहीं हुआ।

वत्स—कोशल के दक्षिण और आधुनिक इलाहाबाद के पश्चिम तरफ का प्रदेश पूर्वकाल में वत्स देश कहलाता था। इसकी राजधानी

कौशाम्बी यमुना नदी के उत्तर तट पर अवस्थित थी। यहाँ का राज शतानीक और उसका पुत्र उदयन महावीर का भक्त था।

वरणा—यह नगरी अच्छ देश की राजधानी थी। पिछले समय मे इसका उच नगर अथवा उच्छ नगर नाम प्रसिद्ध हुआ था। जहां आज बुलंदशहर है वहीं पहले उच्छ नगर था ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि के मत से 'वरुणा' यह देश का नाम था और 'अच्छा' उसकी राजधानी का।

वनखण्ड उद्यान—यह उद्यान पाटलखंड सनिवेश के पास था।

वर्धमानपुर—इसके बाहर विजयवर्धन उद्यान था जहां माणिभद्र यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा विजयमित्र था। महावीर ने यहाँ पर रानी अजू के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

सूबे बंगाल का आधुनिक बर्दवान नगर, जो कलकत्ते से सड़सठ मील पश्चिम दक्षिण में अवस्थित है, वर्धमानपुर हो तो आश्चर्य नहीं।

व्रजग्राम—गोकुल शब्द देखिये।

वाचाला—उत्तर वाचाला शब्द देखिये।

वाणिज्यग्राम (वाणियगाम)—यह नगर वैशाली के पास गंडकी नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित एक समृद्ध व्यापारिक मंडी थी। महावीर के भक्त आनन्द गाथापति प्रमुख कोट्याधीश गृहस्थ यहीं के रहनेवाले थे। आधुनिक बसाड़पट्टी के पास वाला बनिया गाम ही प्राचीन वाणिज्यग्राम हो सकता है।

वाराणसी—बनारस देखिये।

वालुकाग्राम—यहाँ पर संगमक देव ने महावीर को अनेक प्रकार के उपद्रव किये थे।

यह ग्राम प्राचीन कलिंग और आधुनिक उड़ीसा के उत्तरपश्चिम भाग में कहीं था।

विजयवर्धमान—यह उद्यान वर्धमानपुर के समीप था।

विजयपुर—इसके पास नन्दनवन नामक उद्यान था। जहाँ अशोक यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा वासवदत्त और रानी कृष्णा थी।

भगवान् महावीर ने राजकुमार सुवासव को यहाँ पर श्रावक और कालान्तर मे साधु बनाया था।

विजयपुर—उत्तर बगाल में गगा के किनारे पर अवस्थित आज कल का विजयनगर ही होना चाहिये जो एक बहुत प्राचीन नगर है। इसके आसपास का प्रदेश पहले पुण्ड्र देश के नाम से प्रसिद्ध था।

विदेह—गंडक नदी का निकटवर्ती प्रदेश, विशेष कर पूर्वी भाग जो तिरहुत नाम से प्रसिद्ध है, पहले विदेह देश कहलाता था। इसकी प्राचीन राजधानी मिथिला और महावीर के समय की वैशाली थी। भगवान् महावीर इसी देश मे अवतीर्ण हुए थे।

विपुलपर्वत—राजगृह के पाँच पहाड़ों में से एक का नाम विपुल था। भगवान् महावीर के सैकडों श्रमणशिष्यों ने इस पर अनशनपूर्वक देह छोड़ कर स्वर्ग और निर्वाण प्राप्त किया था।

विराट—यह नगर मत्स्य देश को राजधानी थी। यहाँ पर पाडवों ने वर्षभर गुप्तवास किया था। जैनसूत्रों में इसका विराड नाम से उल्लेख है। जयपुर स्टेट में जयपुर से उत्तर-पूर्व बयालीस मील पर यह प्राचीन स्थान अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

विसाखा—इस नगरी की अवस्थिति के बारे मे विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। किसी के मत से महावीर के समय मे अयोध्या ही विशाखा कहलाती थी। कोई आज कल के लखनऊ को प्राचीन विशाखा बताते हैं। चीनी यात्री हुएनसंग कौशाम्बी से पाँच सौ मील की दूरी पर विशाखा बताता है। हमारे मत से विशाखा नगरी कोशल देश मे अयोध्या के पास ही कहीं थी।

भगवान् महावीर का विशाखा मे समवसरण हुआ था।

वीतभय—यह नगर महावीर के समय में सिन्धु-सौवीर देश की राजधानी थी। इसके बाहर मृगवन उद्यान था। महावीर चम्पा से विहार कर यहाँ आये थे और यहाँ के राजा उदायन को प्रव्रज्या देकर वाणिज्यग्राम जाकर वर्षाकाल बिताया था। पजाब के भेरा गाँव को प्राचीन वीतभय बताते हैं।

वीरपुर—इसके बाहर मनोरम नामक उद्यान था। राजा का नाम वीरकृष्णमित्र और रानी का श्रीदेवी था। भगवान् महावीर ने एक बार यहाँ आकर राजकुमार सुजात को श्रावकधर्म अंगीकार कराया था और दूसरी बार पधार कर उसको प्रव्रज्या देकर शिष्य बनाया था।

तहसील मुहम्मदाबाद में गाजीपुर से बाईस मील पर बारा के सामने एक बहुत ही प्राचीन स्थान है। पुराने सिक्के आदि प्राचीन चीजें मिलती हैं। संभव है यही प्राचीन वीरपुर होगा जिसका अवशेष बारा अब तक विद्यमान है।

वीरभूमि—प्राचीन राढ देश का एक भाग वीरभूमि कहलाता है जिसका जैनसूत्रों में वज्रभूमि अथवा वज्रभूमि के नाम से उल्लेख हुआ है। छद्मस्थावस्था में और बाद में भी भगवान् महावीर यहाँ विचरे थे।

वीरभूमि के उत्तर-पश्चिम में संथाल परगना, पूर्व में मुर्शिदाबाद और बर्दवान तथा दक्षिण में बर्दवान हैं।

वेगवती—यह नदी अस्थिकग्राम के समीप बहती थी।

वैताढ्य—यह पर्वत-माला प्राचीन भारतवर्ष के मध्य भाग में पूर्व से पश्चिम सीमा तक लंबी फैली हुई थी। इसका आधुनिक नाम और स्थान बताना कठिन है। कोई शैवालिक पहाड़ियाँ और कोई हिमालय की दक्षिणी पर्वत श्रेणी ही वैताढ्य पर्वतमाला होने की संभावना करते हैं।

वैभारगिरि—यह पर्वत राजगृह के पाँच पर्वतों में एक है। महावीर के समय में इसके पास पाँच सौ धनुष लंबा एक गरम पानी का ह्रद था, जिसका जैनसूत्रों में 'महातपोपतीर' नाम से उल्लेख हुआ है और उसे 'प्रस्रवण' अर्थात् 'स्रोत' कहा है। आज भी उसके पास गर्म जल के कतिपय कुण्ड हैं जो भीतर के उष्ण जलस्रोतों से हर समय भरे रहते हैं।

वैराट—विराट शब्द देखिये।

वैशाली—मुजफ्फर जिला में जहाँ आज बेसाढ पट्टी गाँव है वहीं पहले महावीर के समय की विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी

थी। वैशाली और वाणिज्यग्राम की निश्रा मे भगवान् महावीर ने कुल बारह वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किये थे। वैशाली जैनधर्म के केन्द्रों में से एक थी। यहाँ का राजकुटुम्ब तथा नागरिकगण भी अधिकाश जैन थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने इस नगरी को पाखडियों का अखड़ा कहा है। नकशे के हिसाब से वैशाली चम्पा से वायव्य दिशा में साढ़े बारह मील और राजगृह से लगभग उत्तर में सत्तर मील की दूरी पर थी।

शकटमुख उद्यान—यह उद्यान पुरिमताल नगर के समीप था। यहाँ पर वग्गुर श्रावक ने महावीर की छद्मस्थावस्था में पूजा महिमा की थी।

शंखवन उद्यान—यह उद्यान आलभिका के समीप था। भगवान् महावीर आलँभिया जाते समय इसी उद्यान में ठहरते थे।

शरवणग्राम—यह ग्राम मखलि गोशाल का जन्म स्थान था और सभवत. मगधभूमि के ही किसी भाग में था।

शाण्डिल्य (संडिल्ल)—जैनसूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों में से एक का नाम शाण्डिल्य था। इसकी राजधानी नन्दिपुर मे थी। शाण्डिल्य देश कहाँ था, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। हरदोई जिले मे सडीला नाम का एक नगर है, जो रेल्वे स्टेशन और तहसील तथा परगने का मुख्य स्थान है। यह स्थान लखनऊ से एकतीस मील पश्चिमोत्तर मे स्थित है। सभव है इसके आसपास का प्रदेश पहले शाण्डिल्य देश कहलाता हो और बाद में उसकी राजधानी मात्र उस नाम का वाच्य बन गई हो जैसा कि कोसला आदि में बना है।

शालिशीर्ष (सालिसीस)—इस गाँव के उद्यान में कटपूतना व्यन्तरी ने महावीर पर जल छिड़क कर शीत का उपसर्ग किया था और भगवान् को उसको सहते हुए लोकावधि ज्ञान उत्पन्न हुआ था।

यह स्थान वैशाली और भद्रिका के बीच में कहीं था। सभवत अंग भूमि की वायव्य सीमा पर यह रहा होगा क्योंकि यहाँ से महावीर भद्रिका की तरफ गये थे।

शुद्धभूमि—प्राचीन राढ देश की वह भूमि जहाँ आर्य लोगों की आबादी अधिक प्रमाण में थी। सभवत यह मुर्शिदाबाद के निकट का भूमिभाग होगा।

शूलपाणि चैत्य—अस्थिकग्राम के पासवाला एक यक्ष का मदिर जहाँ महावीर ने प्रथम वर्षा चातुर्मास्य व्यतीत किया था और पहली ही रात को यक्ष ने उनको अनेक प्रकार से सताया था।

श्रावस्ती (सावत्थी)—जैनसूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों मे से कुणाल नामक देश की राजधानी का नाम श्रावस्ती लिखा है। महावीर के समय में श्रावस्ती उत्तर कोशल की राजधानी थी। इसके तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। यहाँ पर महावीर ने छद्मस्थावस्था का दसवाँ वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किया था। केवलिदशा में महावीर कई बार यहाँ आये थे और अनेक भव्य मनुष्यों को प्रव्रज्यायें दी थीं तथा अनेक धनाढ्य और विद्वान् शिष्यों को अपना श्रमणोपासक बनाया था। इसी श्रावस्ती के कोष्ठकोद्यान मे गोशालक ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनियों को तेजोलेश्या द्वारा मारा था तथा भगवान् महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ी थी। गोशालक के अनन्य उपासक अयपुल और हालाहला कुँभारिन यहीं के रहनेवाले थे। गोंडा जिले में अकौना से पूर्व पाँच मील और बलरामपुर से पश्चिम बारह मील रापती नदी के दक्षिण तट पर सहेठमहेठनाम से प्रख्यात जो स्थान है, वही प्राचीन श्रावस्ती का अवशेष है, ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है।

श्वेताशोक उद्यान—यह उद्यान कनकपुर के निकट था।

श्वेताम्बिका (सेयंविया)—यह नगरी जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों मे से केकय देश की राजधानी थी। यहाँ का राजा प्रदेशी पहले नास्तिक था परन्तु पार्श्वनाथ सन्तानीय केशीकुमार श्रमण ने उसे आस्तिक और जैनधर्म का उपासक बनाया था। महावीर जब श्वेताम्बिका की तरफ विचरे तब प्रदेशी ने उनकी पूजा और महिमा गाई थी।

बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती से कपिलवस्तु जाते समय श्वेताम्बिका बीच मे आती थी। जैनसूत्रों के लेखों से भी

श्वेताम्बी श्रावस्ती से पूर्वोत्तर में अवस्थित थी। आधुनिक उत्तर-पश्चिम विहार के मोतीहारी शहर से पूर्व लगभग पैंतीस मील पर अवस्थित सीतामढी यह श्वेताम्बिका का ही अपभ्रंश नाम है, ऐसा हमारा अनुमान है। जैन और बौद्ध लेखों के अनुसार दिशा भी मिलती है और उत्तर में पहाड़ी प्रदेश भी निकट ही पड़ता है जो केकय देश का अनार्य प्रदेश था।

समतट—बंगाल का एक भाग पहले समतट कहलाता था। जब कि कतिपय विद्वान् पूर्व बंगाल को समतट कहते हैं तब कोई-कोई दक्षिण बंगाल को प्राचीन समतट बताते हैं। हमारा मत दक्षिण बंगाल को समतट माननेवालों के पक्ष में है।

सहस्राम्रवन—यह उद्यान काम्पिल्य नगर के पास था। यहाँ पर महावीर का अनेक बार समवसरण हुआ था।

सहस्राम्रवन (२)—हस्तिनापुर के पास के उद्यान का नाम भी सहस्राम्रवन था। भगवान् महावीर के यहाँ भी अनेक समवसरण हुए और पुट्टिल, शिवराजर्षि आदि की प्रव्रज्याएँ हुईं।

साकेत—यह कोशल देश का प्रसिद्ध नगर किसी समय इस देश की राजधानी रह चुका है और इसी कारण से कहीं-कहीं इसे अयोध्या का पर्याय बताया है। इसके समीप उत्तरकुरु नामक उद्यान था, जहाँ पाशामृग यक्ष का मन्दिर था। तत्कालीन राजा का नाम मित्रनन्दी और रानी का श्रीकान्ता था। महावीर यहाँ अनेक बार पधारे थे और अनेक भद्र मनुष्यों को निर्ग्रन्थ श्रमण बनाया था।

फैजाबाद जिला में फैजाबाद से पूर्वोत्तर छ मील पर सरयू नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित वर्तमान अयोध्या के समीप ही प्राचीन साकेत नगर था ऐसा निर्णय हुआ है।

सानुलट्ठिय गाम—इस गाँव के बाहर भगवान् महावीर ने भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र का प्रतिमापूर्वक ध्यान किया था जिसकी स्वर्ग के इन्द्र तक ने प्रशंसा की थी।

सानुलट्ठिय अर्थात् सानुयष्टिक गाँव कहाँ था यह कहना कठिन है,

पर अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थान का दृढ भूमि मे होना सभव है जो प्राचीन कलिङ्ग के पश्चिमीय अचल में थी।

सालकोष्ठक चैत्य—यह उद्यान मेंढियगॉव के पास था जहाँ पर महावीर का समवसरण हुआ था और वर्चोव्याधि को मिटाने के लिये रेवती के यहाँ से औषधि मँगाकर सेवन की थी।

साहंजनी—यह नगरी उत्तर भारत मे कहीं थी। इसके बाहर देवरमण नामक उद्यान था जहाँ अमोघ यक्ष का मदिर था। तत्कालीन राजा का नाम महचन्द्र था। भगवान् महावीर ने यहाँ पर यहाँ के सुभद्र सार्थवाह के पुत्र शकटदारक के पूर्वभवों का निरूपण किया था।

सिन्धुदेश—जैन सूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों में सिन्धु-सौवीर का नाम भी समिलित है। वैदिक धर्म के सैद्धान्तिक ग्रन्थ बौधायन में सिन्धु सौवीर अस्पृश्य देश कहा गया है और वहाँ जानेवाले ब्राह्मण को फिर सस्कार के योग्य बताया है। बौद्ध ग्रन्थों में गान्धार और कांबोज राज्यों के उल्लेख किये गये हैं पर सिन्धु-सौवीर की वैसी चर्चा नहीं की। इससे पाया जाता है कि उस समय सिन्धु में सर्वप्रथम धर्मप्रचार महावीर ने ही किया था। भगवान् महावीर ने वहाँ पधार कर राजा उदायन को जैन प्रव्रज्या दी थी यह तो प्रसिद्ध ही है पर उसके बाद भी जैन श्रमणों के इस देश में विहार होते ही रहे हैं, ऐसा छेदसूत्रों के प्राचीन भाष्यों तथा टीकाओं से सिद्ध होता है।

महावीर के समय में सिन्धु और सौवीर का एक सयुक्त राज्य था। बाद मे सौवीर जुदा पड़ा और आधुनिक पजाब का दक्षिणी भाग सिन्धु में समिलित हुआ। आज कल सिन्धु 'सिन्ध' नाम से प्रसिद्ध है और कच्छ (जो पूर्व काल मे सौवीर कहलाता था) तथा पजाब के बीच में फैला हुआ है।

सिद्धार्थपुर—राढ देश से चलते हुए भगवान् महावीर यहाँ आये थे। यहाँ पर उनको सगमक ने उपसर्ग किया था। सिद्धार्थपुर सभवत उडीसा में कहीं रहा होगा।

सिनपल्ली (सिणपल्ली)—यह गाँव पूर्व दिशा से सिन्धु देश की ओर जाते समय बीच में पडता था। इसके आस पास का प्रदेश विकट मरुस्थल भूमि थी। जैनसूत्रों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सिनपल्ली के मार्ग निर्जल और छायारहित थे। एक सूत्रोल्लेख है कि सिनपल्ली के दीर्घ मार्ग मे केवल एक ही वृक्ष आता है। देवप्रभसूरि के पाण्डवचरित्र महाकाव्य में उल्लेख है कि जरासन्ध के साथ यादवों ने सिनपल्ली के पास सरस्वती नदी के तट पर युद्ध किया था और युद्ध मे अपनी जीत होने पर वे आनन्दवश होकर नाचे थे, जिससे सिनपल्ली ही बाद में आनन्दपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ भी हो पर इससे यह तो निश्चित है कि सिनपल्ली मरुभूमि मे एक प्रसिद्ध नगर था जो बाद मे आनन्दपुर के रूप में परिवर्तित हो गया था। जैन सूत्रों के अनेक उल्लेखों से उक्त बात का समर्थन होता है। हमारे विचारानुसार बीकानेर राज्य के उत्तर प्रदेश में अवस्थित 'आदनपुर' नामक गाँव ही प्राचीन आनन्दपुर का प्रतीक हो तो आश्चर्य नहीं है।

सुच्छेत्ता (सुक्षेत्र)—यहाँ पर महावीर को उपसर्ग सहन करना पडा था। यह स्थान सभवत अग देश की भूमि में था।

सुघोष नगर—इसके समीप देवरमण नामक उद्यान था और उसमें वीरसेन यक्ष का मदिर था। तत्कालीन राजा का नाम अर्जुन और रानी का तत्त्ववती था। राजकुमार भद्रनन्दी को महावीर के उपदेश से धर्मप्राप्ति हुई थी। पहले वह जैन श्रावक और पुन भगवान् के यहाँ आने पर जैन श्रमण बना था। सुघोष नगर किस देश के प्रदेश में था इसका निर्णय होना बाकी है।

सुभोम—यहाँ भी महावीर को भिक्षावृत्ति करते समय सताया गया था। यह गाँव भी कलिंग भूमि में था।

सुमंगला ग्राम—यहाँ पर महावीर को कुशल पूछने के लिये सनत्कुमारेन्द्र आया था।

यह गाँव कहाँ था यह बताना कठिन है। सभव है यह स्थान अग भूमि मे कहीं रहा होगा।

सुरभिपुर—कोशाम्बी से चलते हुए महावीर क्रमश सुरभिपुर आये थे और यहाँ से नाव द्वारा गगा पार करके थूणाक सनिवेश गये थे। यहाँ गङ्गा उतरते समय एक बड़ा भारी बवडर आया था और नाव उलटते उलटते बच गई थी।

सुरभिपुर विदेह से मगध जाते बीचमे आता था और गङ्गा के उत्तर तट पर स्थित था। सभव है यह विदेह भूमि की दक्षिणी सीमा का अन्तिम स्थान हो।

सुवर्णखल—राजगृह निकटवर्ती कोल्लाकसनिवेश से चम्पा की तरफ जाते सुवर्णखल बीच में आता था जहाँ जाते समय बीच में गोपालों द्वारा पकाई जाती खीर देख कर गोशालक वहाँ ठहर गया था और महावीर के कथनानुसार हाँडो के फूट जाने पर गोशालक ने नियतिवाद का सिद्धान्त पकड़ा था। यहाँ से ब्राह्मणगाँव होकर दोनों चम्पानगरी पहुँचे थे। इससे यह सुवर्णखल राजगृह से पूर्व दिशा में था और वाचाला के निकटवर्ती कनकखल आश्रमपद से भिन्न स्थान था।

सुवर्णवालुका—यह नदी दोनों वाचाला नगरियों के बीच में पड़ती थी। इसी नदी के पुलिन में भगवान् महावीर का अर्धवस्त्र गिर कर रह गया था।

सुंसुमार—यहाँ पर महावीर को शरण कर चमरेन्द्र ने इन्द्र पर चढाई की थी और इन्द्र के वज्र प्रहार से भयभीत होकर वह महावीर के चरणों में गिरा था।

सुंसुमार मिर्जापुर जिला में वर्तमान चुनार के निकट एक पहाडी नगर था। कई विद्वान् सुसुमार को भर्ग देश की राजधानी बताते हैं।

सुह्म—कई विद्वान् हुगली और मिदनापुर के बीच के प्रदेश को 'सुह्म' समझते हैं, जो उड़ीसा की सीमा पर फैला हुआ दक्षिण वग का प्रदेश है। इनके मत में दक्षिण वग ही, जिसकी राजधानी ताम्रलिप्ति थी, सुह्म देश था। कई विद्वानों के विचार मे हजारीबाग, सथाल परगना जिलों के कुछ भाग प्राचीन सुह्म होना ठीक जँचता है। तव वैजयन्तीकार ने सुह्म को राढ का ही नामान्तर मान लिया है। इन सब

मत विकल्पों का तात्पर्य हमको यही मिलता है कि हजारीबाग से पूर्व मे जहाँ पहले भंगी देश था उसका पूर्व प्रदेश, राढ का दक्षिण पश्चिमी कुछ भाग और दक्षिणी बंग का थोड़ा पश्चिमी भाग पहले सुह्म के नाम से प्रसिद्ध था।

सूरसेन—मथुरा के आसपास का भूमि-भाग पूर्वकाल मे सूरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध था। जैनसूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों में सूरसेन का उल्लेख है। इस देश की राजधानी मथुरा थी।

सुसुमारनगर—'सुसुमार' शब्द देखिये।

सेयविया—श्वेताम्बिका शब्द देखिये।

सेयंविया—श्वेताम्बिका शब्द देखिये।

सौगंधिका नगरी (सोगंधिया नगरी)—इसके समीप नीलाशोक उद्यान था जिसमें सुकाल यक्ष का स्थान था। तत्कालीन राजा का नाम अप्रतिहत और रानी का सुकृष्णा देवी था। भगवान् महावीर ने यहाँ पर कुमार जिनदास को उसके पूर्वभव के कथनपूर्वक गृहस्थधर्म और साधुधर्म की दीक्षा दी थी।

सौगन्धिका नगरी कहाँ थी इसका पता नहीं चला।

सौराष्ट्र—जैनसूत्रोक्त साढे पचीस आर्य देशों में सौराष्ट्र भी संमिलित है। इसकी राजधानी द्वारिका थी। महावीर ने सौराष्ट्र तक विहार किया था यह कहना साहस मात्र होगा। सूत्रों, चरित्रों में वैसा उल्लेख नहीं है। हाँ, शत्रुञ्जय-माहात्म्य जैसे माहात्म्य ग्रन्थों से यह कह सकते हैं कि उन्होंने सौराष्ट्र मे विहार किया होगा।

आधुनिक जुनागढ़ के आसपास का प्रदेश सोरठ के नाम से प्रसिद्ध है, जो सौराष्ट्र का अपभ्रंश माना जा सकता है।

सौर्यपुर—प्राचीन कुशार्त देश की राजधानी सौर्यपुर द्वारिका से पहले की यादवों की राजधानी है। आगरा से उत्तरपश्चिम मे यमुना नदी के समीप जहाँ बटेश्वर गाँव है वहीं प्राचीन सौर्यपुर था। महावीर के समय में सौर्यपुर के राजा का नाम सौर्यदत्त था। यहाँ के सौर्या-

वतंसक उद्यान में महावीर ने यहाँ के सौर्यदत्त नामक म
पूर्वभवों का वर्णन किया था।

सौर्यावतसक—सौर्यपुर के उद्यान का नाम जहाँ भगव
ठहरा करते थे।

सौवीर—आजकल का कच्छ देश जो सिन्धु जनपद
में है, पहले सौवीर कहलाता था। महावीर के समय मे इ
राज्य सिन्धु से अविभक्त था।

हलिद्दुकग्राम (*हलिद्दुग गाम*)—यह गाँव श्रावस्त
परिसर में था। एक बार महावीर और गोशालक ने इस
हरिद्रुक वृक्ष के नीचे रात्रि वास किया था, जहाँ महावीर के
पथिकों द्वारा जलाई हुई आग से झुलस गए थे।

हस्तिनापुर—इस नगर के लिये हस्तिनी, हास्तिनपुर
आदि अनेक नाम कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। किसी समय
कुरु देश का एक नगर था।

आजकल हस्तिनापुर की अवस्थिति मेरठ से बाइस मील
और बिजनौर से नैर्ऋत्य में बूढ़ी गङ्गा के दाहिने किनारे पर म
है। विशेष के लिये गजपुर शब्द देखिये।

हस्तियाम उद्यान—नालदा बाहिरिका के समीप यह
था। कभी-कभी भगवान् महावीर यहाँ भी ठहरते थे।

हस्तिशीर्ष—इस गाँव के श्मशान मे महावीर ने ध्यान
था। सगमकदेव ने यहाँ भी महावीर को सताया था।

यह गाँव सभवत उड़ीसा के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे कहीं था

हस्तिशीर्ष नगर—इसके बाहर पुष्पकरण्डक उद्यान था,
कृतवनमालप्रिय यक्ष का मदिर था। तत्कालीन राजा का नाम अ
शत्रु और रानी का धारिणी देवी था। भगवान् महावीर ने
पुत्र सुबाहुकुमार को पहले श्राद्धधर्म और दूसरी बार श्रमणधर्म
दीक्षा दी थी।

जैन कथानकों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि हस्तिशीर्ष नगर उस देश की राजधानी थी, जिसकी सीमा कुरुदेश की सीमा से मिलती थी। इससे स्पष्ट है कि यह स्थान कुरु देश से अधिक दूर नहीं होगा।

[नोट—'विहारस्थल-नाम कोष' में लिखे हुए सभी नाम 'श्रमण भगवान् महावीर' में नहीं आये, फिर भी हमने इनका इसमें संग्रह किया। इसका कारण यही है कि जैनसूत्रों, चरित्रों और अन्यान्य ग्रन्थों में महावीर के विहारप्रसङ्गों में इनके उल्लेख दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। हमारी इच्छा थी कि जहां-जहां भी महावीर विचरे हैं, उन सभी स्थानों का यथोपलब्ध परिचय दिया जाय जिससे अब नहीं तो भविष्य में भी इनका उपयोग हो सके। लेखक]

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कमरिमाम	—कर्मारमाम	५	२
किसी अन्य दिगंबर	—दिगंबर	१२	२४
स्वमाव से	—स्वभावसे	१३	१
शुक्ला दशमी	—कृष्णा दशमी	१४	१३
चरित्र	—चारित्र	१५	४
कमरिमाम	कर्मारमाम	१६	७
”	”	१७	८
टीका	टोका	१७	२८
सन्निनेश	सनिवेश	२२	४
याजे-गार्जो	बाजों गार्जों	२९	२२
कैसा भा	कैसा भी	३८	१७
नालुका	वालुका	”	२३
सुभोग	सुभोम	”	”
भगवान् का	भगवान् को	४१	१६
सुन्छेता	सुच्छेत्ता	४४	३
सोमिलाचार्य	सोमिलार्य	४८	८
धन्ध	बन्ध	४९	५
कोसलनिवासो	—कोसलानिवासी	५०	१५
सद्यास्तीत्वरे	—सद्यास्तोत्यरे	५१	२७
०स्येशनो	—०स्येशानो	५४	२८
वह	—यह	”	”
विद्यानघन	—विज्ञानघन	५९	४
भावान्तर	—भवान्तर	६३	२३,२५
होता है	होते हैं	६६	१३
करके के	करके	६७	१५

५१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
ठीका	टीका	६८	२३
अकम्मिक	अकम्पिक	७१	४
मगवान्	भगवान्	७१	७
पदाथ	पदार्थ	७२	२१
शुक्ला दशमी	शुक्ला एकादशी	७४	७
तिर्यञ्ज	तिर्यञ्च	७५	९
फे कुछ	ये दो	७५	२२
होते	देते	७५	२७
१२	१२ अतिथिसंविभाग	७८	९
सुधर्म	सुधर्म	७८	१६
खुले गये	खुल गये	७९	१०
भिर भी	फिर भी	८३	११
प्रश्न भी	भी प्रश्न	८४	२६
न चल पडे	चल पड़े	९०	२०
गोशालाक	गोशालक	९५	२३
एक एक	एक	९६	८
बांध कर	बींध कर	९७	२०
भगवान् ।	भगवन् ।	१०८	२५
असिद्धि	असिद्ध	११०	२०
”	”	”	”
द्रव्यामय	द्रव्यमय	११५	२६
शाश्वत्	शाश्वत	११५	२९
चरित्र	चारित्र	११६	१०
घोला	गोशालक घोला	१३०	१४
चरम	चरमों	१३४	२८
कृश गया	कृश हो गया	१३८	२८
श्रवण	श्रमण	१४४	५
जाज्वल्य	जाज्वल्यमान	१४६	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
करने	करने के	१५३	१९
श्रपणोपासक	श्रमणोपासक	१५५	१४
सरिस	सरिसवय	१५९	१७
प्राशु	पाशु	,,	१८
पैशून्य	पैशुन्य	१६७	२७
माया, मृपा	मायामृपा	१६७	२८
त	व्रत	१७७	१
श्रमाणोपासक	श्रमणोपासक	१७९	१८
मिथ्याव और शल्य	—और मिथ्यात्वशल्य	१८८	१७
प्रकाशक का	प्रकाश का	१९४	१०
पर	पर भी	१९६	२३
पारभाविक	पारभविक	१९८	२
अगमन्।	अगमन्	२१७	२
पल्पोपम	पल्योपम	२४४	२०
राज के परिवार	राजपरिवार	२४५	५
प्रणतकल्प	प्राणतकल्प	२५४	६,७
निश्चयानुसार	निश्चयनयानुसार	२५५	१०
'करे माणे' कडे'	'करेमाणे कडे'	२५६	१५
एणेयक	ऐणेयक	२६४	१४
बोर्टी का	बींटों का	२६५	२८
चरित्त	चरित	२८२	२६
बाप की	बाप का	२८३	२६
बदलना	बदलता	२९२	६
जिनकल्प	जिनकल्पी	२९२	२२
सने	उसने	२९३	१३
मौलिय	मौक्लिक	२९५	६
हुई थी	हुआ था	२९७	३०
ऽप्ययपाप	ऽप्यपपाद	२९७	३५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
परतना	परठना	२९९	१४
फल्हिक	फलिक्क	३०७	२१
आओ आओ	जाओ जाओ	३१०	२०
काल, ग्रहण	कालग्रहण	३१७	६
झेलनेवाली	झलनेवाली	३२४	१५
समम	समय	३२५	११
वरारितो,	वइरितो	३२५	१५
वाणियतो,	वाणियतो	३२५	२०
काडियगणो	कोडियगणे	३२६	२
राया	एया	३२६	६
परन्परा	परम्परा	३२७	२१
कर्मप्रकृति,	कर्मप्रकृति—	३२८	१८
अहार	आहार	३३१	१५
दिम्बर	दिगम्बर	३३०	२
अनुत्तरोपपातिक	अनुत्तरोपपातिक	३३४	११
किदिकम्मे	(किदिकम्मे)	३३६	१०
पर्यूषण	पर्युपण	३३६	१४
अर्व्वा	अव्यी	३३९	३
'-।-'	⊥	३३९	१२
आरधना	आराधना	३४३	२८
श्रोताम्बर	श्वेताम्बर	३४७	३
नौ बार	९ वॉ	३५३	१६
तात्कालीन	तत्कालीन	३५५	८
प्रद्योत वश	प्रद्योतवश	३५६	८
तिश्यगुप्त	तिष्यगुप्त	३५८	१९
ऋपभपुरमें	ऋपभपुर	”	”
तात्कालीन	तत्कालीन	३५९	८
पहले पहल	पहले	३६२	९

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कोस	कोल्ल	३६०	२८
कौशिक कच्छ	कौशिकी कच्छ	३६३	१
अर्य	आर्य	६६३	२१
होता	होता है	३६४	२४
अग (मगध)	अंग-मगध	३६९	४
—सनिवेश	यह सनिवेश	३७१	११
नन्दचैत्य	नन्दनचैत्य	३७३	२१
नलदा	नालंदा	३७८	७
(पत्रककालक)	(पत्रकालक)	३७४	१४
घात्कालीन	तत्कालीन	"	२३
विन्ध्या	विन्ध्य	३७४	२८
भमि	भूमि	३७६	१९
छमारयावस्था	छद्मस्थावस्था	३८०	५
मैथिलिया	मैथिलीया	३८३	१२
एक रात ठहरे थे	एक रात ठहरे थे और वर्षावास निकट आने पर फिर आकर वर्षावास ठहरे थे।	३८४	१६
डेढ़ दिन के बाद	पन्द्रह दिन के बाद	३८४	१६
मोदागिरि	मोरागिरि	३८५	८
साढ़े बारह मील	१२५ मील	३९०	६
गाई थी	की था	३९१	२६
सर्वतोभद्र का	सर्वतोभद्र	३९२	२६
एक नगर	यह नगर	३९३	१४
पुष्पकरण्डक	पुष्पकरण्डक	३९७	२१

प्रस्तावना तथा विषयसूची

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नन्दीपिता	नन्दिनीपिता	VI	१५
राजगृहमें	राजगृहमें	XII	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
आघारों	आधारों	XIV	१२
जीवन-जीवन	जीवन	XXIII	१३
गुणागान	गुणगान	XXIV	२४
तिलस्तत्र	तिलस्तव	XXV	११
लच्छआड	लच्छुआड़	„	२६
विदेह सिकट्टु	विदेहसि कट्टु	XXVI	१
अथिक	अस्थिक	XXXI	२३
ंगा	गगा	„	२६
नगरी मे	नगरी से	XXXII	१३
कपलि से	कयलि–	„	„
पुरियताल	पुरिमताल	„	२१
साधन और	साधन और निमित्तपठन		२४
मनुष्यत्व	मनुष्यत्व	XXXIII	२९
गागलि	गागलि	XXXVI	१६
तात्कालीन	तत्कालीन	XXXVII	२१
धर्मश्रुत	धर्म्यश्रुत	XXXIII	१३
अग्निभूत	अग्निभूति	„	२६

दया के साथ विवेक की विनंति

जीवदया के समान ससार में विशेष लाभ का दूसरा काम नहीं है, परन्तु ऐसे अच्छे काम को भी लोग, विवेक के बिना हानिलाभ का उपयोग दिये बगैर, देखा देखी रूढि से करने लगते हैं, तब उलटा अपराध लगता है और पछताना पड़ता है, इसलिये नीचे मुजब दो बातों में खास उपयोग देने की विनति है —

(१) कितने ही भाई गाँव के बड़े कबूतर चबूतरे पर जाने के आलस्य से अपने घर के बाहर ही रास्ते पर, ओटले पर अथवा खभे या छाजे पर खुमचा लगा कर दाणा डाल देते हैं, परन्तु उपयोग देने से नजर आता है कि कबूतर भोला प्राणी होने से दाणा चुग कर उन मकानों पर ही बैठे रहते हैं और बिल्ली उनका रोज का आना जाना समझ सदा छिप कर फिरती रहती है और हत्या करती रहती है। इसलिये हमारी हाथ जोड़ कर विनति है कि **हररोज कबुतरों को दाणा अपने-अपने घरों के बाहर न डालते अलस्य छोड़ गाँव के बड़े चबुतरे पर ही जाकर पुराने रिवाज के माफिक ही डालना चाहिये।** क्योंकि एक जगह होने से गाँव की तरफ से देख रेख तथा अच्छा बदोबस्त भी रह सकता है और घर घर होने से देख रेख भी नहीं रख सकते और घर घर हत्या होने से लाभ के बदले पाप लगता है।

(२) चकलियों के लिये सिके बाँध कर बाजरी डाली जाती है उसमें टीली की शिकायत कई जगह नजर आती है, यानि टीली (खीस कोली) हमेशा सामील दाणा चुँगती है और कभी टीली के मुँह पर खून लग जाता है, तो फिर वो टीली सदा के लिये चकलियों को मारती रहती है। इसलिये यह काम भी पूरी देख रेख और सावधानी से विवेक पूर्वक करना चाहिये जिससे जीव के प्राण भी बचें और पोषण होवे।

(३) कितने ही लोग कीड़ी नगरा सींचवाते हैं और बिना उपयोगसे मीठी चीज हरएक जगह डाल देते हैं और उनके जानेके बाद हजारों कीडियों का दूसरे प्राणियों द्वारा अथवा चलन हलन से नाश होता है, सो इस विषय में खास विवेक की जरूरत है।

श्री जीवदया ज्ञानप्रचारक मण्डल
मु० गुडाबालोतां (मारवाड़)

श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रह की विक्रयार्थ प्रस्तुत पुस्तकें

१. श्रीवीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना

यह पुस्तक पन्यासजी महाराज श्रीकल्याणविजयजी की इतिहास विषयक कृति है। महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा जैसे धुरंधर इतिहास वेत्ताओं ने इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है और प्रामाणिकता स्वीकार की है। मूल्य १)

२. जैनज्ञान गुण-संग्रह

उपर्युक्त पुस्तक विद्वद्वर्य मुनि महाराज श्रीसौभाग्यविजयजी द्वारा निर्मित और संगृहीत है। जैन गृहस्थों के लिये बड़े काम की चीज है। क्राउन १६ पेजी साइज के ५०० पृष्ठ की पक्की जिल्द की पुस्तक है। मूल्य १)

३. देवद्रव्यचर्चासंबन्धी निबन्ध (गुजराती) भेंट

४. जिनस्तुति कुसुमाञ्जलि (संस्कृत) भेंट

पुस्तक मिलने का पता—
मन्त्री श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति
जालोर (मारवाड़)